पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६१

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन






सच्चं लोगम्मि सारभूयं

# महावीर निर्वाण भूमि
# पावा : एक विमर्श

लेखक
भगवतीप्रसाद खेतान

सम्पादक
डा० अशोककुमार सिंह



पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५
PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṆASĪ-5

पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला : ६१

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

# महावीर निर्वाण भूमि पावा : एक विमर्श

लेखक
भगवती प्रसाद खेतान

सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
वाराणसी-५

पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ
आई० टी० आई० (करौंदी) के समीप
पो० बी० एच० यू०, वाराणसी-५
फोन : ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९९२

मूल्य : ६० रुपये

Mahāvira Nirvāṇa Bhūmi Pāvā Eka Vimarśa
By. B. P. Khetan

Price : Rs. 60.00
First Edition : 1992

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

# प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ **महावीर निर्वाण भूमि पावा : एकविमर्श**—पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अति प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। महावीर की निर्वाण भूमि पावा की भौगोलिक अवस्थिति की पहचान करना एक जटिल समस्या बनी हुई है। विद्वद्वर्ग गंगा के दक्षिण-पश्चिम में राजगृह के निकट स्थित पावा को महावीर की निर्वाणस्थली मानने के लिए अनेक कारणों से सहमत नहीं है। विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि महावीर की निर्वाण स्थली वैशाली और श्रावस्ती के मध्य गंगा के उत्तर में गंडक के समीप कहीं थी। फिर भी इस सन्दर्भ में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन ही बना हुआ था। पाश्चात्य विद्वानों की खोज के परिणाम स्वरूप दो दृष्टिकोण सामने आये। एक दृष्टिकोण के अनुसार फाजिल नगर-सठियाँव पावा है तो कुछ के अनुसार पडरौना ही पावा है। इसी सन्दर्भ में श्री भगवती प्रसाद जी खेतान ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक प्रस्तुत कृति में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वास्तविक पावा पडरौना ही है। इस सम्बन्ध में उनके अपने तर्क और निष्कर्ष हैं जो पुष्ट एवं युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं और विद्वद्वर्ग के लिए अवश्य ही विचारणीय हैं। प्रमुख रूप से व्यवसायी होते हुए भी उन्होंने वास्तविक पावा के अभिज्ञान के लिए जो शोधपूर्ण प्रयत्न किया है वह निश्चय ही सराहनीय है। इनके इस प्रयत्न को प्राचीन इतिहास एवं जैन विद्या के अनेक विद्वानों द्वारा प्रोत्साहन भी मिला है।

अतः पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने उनकी इस कृति को प्रकाशित करने का निश्चय किया। यद्यपि उन्होंने कठिन परिश्रम करके ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन किया था और इन तथ्यों के आधार पर युक्ति संगत निष्कर्ष निकाले भी जा सकते थे। किन्तु इस सम्पूर्ण संकलित सामग्री को विद्वद्भोग्य और प्रकाशन योग्य बनाने में कठिन परिश्रम किया संस्थान के शोधाधिकारी डा० अशोक कुमार सिंह ने। लगभग एक वर्ष तक कठिन परिश्रम करके इस कृति को यथासामर्थ्य पूरी तरह सजाया और सँवारा है। यद्यपि डा० अशोक कुमार सिंह हमारे अपने ही हैं किन्तु ग्रन्थ प्रकाशन की इस बेला में उनका आभार प्रदर्शन अपरिहार्य है।

श्री खेतान जी ने इस कृति को हमें प्रकाशन हेतु दिया, अतः हम उनके आभारी है। हमें पूर्ण विश्वास है श्री खेतान की यह कृति महावीर के निर्वाण-स्थलके सम्बन्ध में नये अनुसंधानों में विद्वानों का मार्ग प्रशस्त करेगी।

हमारी प्रकाशन गतिविधियों के केन्द्र बने हुए हैं हमारे निदेशक प्रो० सागरमल जैन। प्रस्तुत कृति के प्रकाशन में उनका सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतः हम उनके भी आभारी हैं।

इस ग्रन्थ की प्रूफ-रीडिंग मुख्यतः डा० अशोक कुमार सिंह ने ही की है अतः हम पुनः उन्हें धन्यवाद देते हैं। प्रूफरीडिंग में डा० इन्द्रेशचन्द्र सिंह ने भी सहयोग किया है अतः हम उनके भी आभारी हैं।

मुद्रण का कार्य वर्द्धमान मुद्रणालय ने पूर्ण किया अतः उनके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं।

मन्त्री
**भूपेन्द्रनाथ जैन**

# प्राक्कथन

प्रो० कृष्णदेव

जेनरल कनिंघम भारतीय पुरातत्व के जनक होने के साथ-साथ भारतीय इतिहास के महान 'द्रष्टा' भी थे। भारतीय पुरातत्त्व का विशाल भवन उन्हीं की रखी ठोस आधार-शिला पर खड़ा है। साहित्यिक एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों, च्वानच्वाङ् के यात्रा-वृत्तान्त तथा पुरातात्त्विक अन्वेषण के आधार पर नालन्दा, श्रावस्ती, कुशीनगर, वैशाली तथा कौशाम्बी प्रभृति अनेक प्राचीन स्थलों की पहिचान उनकी अनुपम प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि का परिचय देती है। मल्लों की राजधानी पावा का देवरिया जिला स्थित पडरौना से समीकरण उसी माला की एक कड़ी है। पावा समृद्ध और प्रसिद्ध नगरी थी और उत्तर भारत के एक महापथ पर गण्डकी नदी के तट पर अवस्थित थी जिस पर प्राचीन भारत के सन्त, व्यापारी एवं यात्री यातायात करते थे। पावा को तीर्थंकर महावीर का निर्वाण-स्थल होने का गौरव प्राप्त था। वैशाली से कुशीनगर की अन्तिम यात्रा के दौरान बुद्ध ने वहीं आखिरी पड़ाव किया था और यहाँ के नागरिक-चुन्द का आतिथ्य ग्रहण किया था। इसी यात्रा के दौरान बुद्ध ने आलार कालाम के शिष्य पुक्कुस मल्ल के नेतृत्व में ५०० गाड़ियों का काफिला कुशीनगर से पावा की ओर जाते देखा था। जैन-ग्रंथों के अनुसार पावा में हस्तिपाल नामक राजा की रज्जुकशाला थी। "सुमंगल विलासिनी" टीका के अनुसार पावा कुशीनगर से तीन गव्यूति अर्थात् १२ मील की दूरी पर था। ये सभी लक्षण पडरौना पर घटते हैं जो गण्डकी नदी की धारा पर अवस्थित कुशीनगर से १२ मील उत्तर, उत्तर-पूर्व में है। यहाँ अनेक पुराने टीले हैं और कनिंघम की खुदाई से दो स्तूपों तथा एक विशाल विहार के प्रांगण के अवशेष मिले थे। अनेक प्राचीन वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें सबसे पुरानी यक्ष की शुंगकालीन खंडित मूर्ति है जो लखनऊ संग्रहालय में रखी है। मूर्तियों में अधिकांश बौद्ध और जैन धर्म की हैं, जो इंगित करती हैं कि यह प्राचीन बौद्ध और जैन तीर्थ-स्थल था।

पावा के निकटवर्ती सठियांव—फाजिलनगर में भी प्राचीन स्तूपों के अवशेष मिले हैं जिनसे कार्लाइल को भ्रम हो गया था कि पावा वहीं

होगा। पर "श्रेष्ठिग्राम" की लेखांकित मुद्रा की उपलब्धि से अब कोई सन्देह नहीं रह गया है कि इस स्थान का प्राचीन नाम "श्रेष्ठिग्राम" था, न कि "चेतियाग्राम" जिसका समीकरण पावा से संभव हो।

श्री भगवती प्रसाद खेतान ने ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों का समीक्षण कर यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन अपापा या पावा पडरौना से भिन्न नहीं था। वर्षों के भगीरथ परिश्रम से ऐतिहासिक तथ्यों का मनन और अवगाहन कर यह स्थापित किया है कि प्राचीन पावा पडरौना था न कि नालन्दा का निकटवर्ती पावा नामक स्थल, जिसकी ऐतिहासिकता १६वीं शती से पूर्व नहीं जाती। आशा है इस प्रामाणिक ग्रन्थ का विद्वान् और मनीषी उचित मान करेंगे।

वाराणसी
श्री महावीर जयन्ती
१८-४-८९

# प्रस्तावना

**प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी**

भारतीय संस्कृति के निर्माण में जैन-धर्म का उल्लेखनीय योगदान है। इस संस्कृति में चार मुख्य स्तंभ—सत्य, अहिंसा, त्याग और परोपकार हैं। जैन-धर्म में इनके महत्त्व को स्वीकार कर, विभिन्न विचारधाराओं में समन्वय की भावना पर बल दिया गया। जैन-धर्म में वैदिक आस्था की जगह श्रमण-परम्परा का महत्त्व है।

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में श्रमण-परम्परा तथा उसके प्रमुख प्रवक्ता महावीर के सम्बन्ध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। तत्संबंधी अनेक साहित्यिक मान्यताओं को मूर्तिकारों तथा चित्रकारों ने भी अपनी कृतियों में मूर्त रूप प्रदान किया। जैन धर्म सम्बन्धित पुरालेखों, मूर्तियों तथा चित्रों के रूप में पुष्कल सामग्री उपलब्ध है। इनसे साहित्यिक विवरणों की पुष्टि में सहायता मिली है। जैन-धर्म में नैतिक आचरण तथा सह-अस्तित्व की भावना पर विशेष बल दिया गया। अतः यह धर्म जनता में बहुत आदृत हुआ।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हुए। आगमिक व्याख्याओं में महावीर के जीवनकाल में ही उनकी चन्दन की प्रतिमा निर्मित होने के उल्लेख मिलते हैं। अनुश्रुति के अनुसार महावीर की चन्दन प्रतिमा सिन्धुसौवीर के शासक उद्दायण ( रुद्रायण ) के अधिकार में थी। बाद में उज्जैन के शासक प्रद्योत ने उनसे मूर्ति लेकर उसे विदिशा नगरी में रखा। उसकी एक प्रतिकृति बनवाकर वीतभयपट्टन नामक नगर में रखी गयी। दैवयोग से भारी झंझावात के कारण वह प्रतिकृति भूमि के नीचे दब गई। उसके दबने से सारा नगर नष्ट हो गया। श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार गुजरात के प्रसिद्ध शासक कुमारपाल ने उस प्रतिकृति को निकलवाकर उसे अणहिलपाटन नगर में प्रतिष्ठापित कराया।

महावीर की इस चन्दन-प्रतिमा के आधार पर कालान्तर में अन्य मूर्तियों का निर्माण हुआ होगा। कलिंग के प्रसिद्ध शासक खारवेल का एक अभिलेख भुवनेश्वर के समीप हाथीगुफा में मिला है। इस लेख के अनुसा र कलिंग में तीर्थंकर की एक प्राचीन मूर्ति थी, जिसे मगध के

शासक नन्द अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गये। लेख में आगे लिखा है कि खारवेल ने इस प्रतिमा को मगध से कलिंग में ले जाकर वहाँ उसकी प्रतिष्ठापना की। इस उल्लेख से ईसवी पूर्व चौथी शती में तीर्थंकर प्रतिमा के अस्तित्व का पता चलता है।

मथुरा, कौशाम्बी आदि कई स्थलों से पत्थर के बने हुए वर्गाकार या आयताकार 'आयागपट्ट' मिले हैं। पूजा के लिए उनका प्रयोग होने के कारण उन्हें "आयागपट्ट" कहा जाता था। अनेक पट्टों पर बीच में ध्यान-मुद्रा में पद्मासन पर अवस्थित तीर्थंकर मूर्ति है। उसके चारों ओर अनेक सुन्दर अलंकरण तथा प्रशस्त चित्र बने हैं। आयागपट्टों का निर्माण ईसवी पूर्व प्रथम शती से आरम्भ हुआ। उन पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि उनमें से अधिकांश का निर्माण महिलाओं की दान-शीलता के कारण हुआ। मंदिरों, विहारों तथा मूर्तियों के निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक रुचि लेती थीं। प्राचीन शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है।

कुषाण-काल ( ई० प्रथम-द्वितीय शती ) से जैन "सर्वतोभद्रिका" प्रतिमाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। इन पर चारों दिशाओं में प्रत्येक ओर एक-एक जिन मूर्ति पद्मासन पर बैठी हुई या खड्गासन में खड़ी हुई मिलती है। ये तीर्थंकर प्रायः आदिनाथ ( ऋषभनाथ ) पार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर हैं। मध्यप्रदेश के धुबेला संग्रहालय में एक सुन्दर सर्वतोभद्र मूर्ति है, जो पूर्व-मध्यकाल की है। उस पर उक्त चारों तीर्थं-करों के चिह्न भी अंकित हैं, जिससे उनके पहचानने में कोई संदेह नहीं रह जाता।

सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की परम्परा मध्यकाल के अन्त तक जारी रही। मथुरा, देवगढ़ आदि स्थानों से प्राप्त अनेक सर्वतोभद्रिका मूर्तियाँ अभि-लिखित हैं और मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं।

महावीर के मन्दिरों का निर्माण कब से आरम्भ हुआ, यह विवाद-ग्रस्त है। प्राचीन जैन आगामों में प्रायः तीर्थंकर मंदिरों का उल्लेख नहीं मिलता। महावीर स्वामी अपने भ्रमण के समय मंदिरों में नहीं ठहरते थे, बल्कि चैत्यों में विश्राम करते थे। इन चैत्यों को टीकाकारों ने "यक्षाय-तन" ( यक्ष का पूजा-स्थल ) कहा है। भारत में यक्ष-पूजा बहुत प्राचीन है। यक्षों के मंदिरों या "थानों" में उनकी पूजा होती थी। आगम ग्रन्थ "भगवती सूत्र" के अनुसार महावीर ने "पृथ्वी शिलापट्ट" के ऊपर

बैठकर एक वृक्ष ( शाल ) के नीचे तप किया, जहाँ उन्हें सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हुई। बुद्ध ने पीपल-वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। बुद्ध के उस आसन का नाम "बोधिमंड" प्रसिद्ध हुआ। उनका अंकन आरम्भिक बौद्ध-कला में बहुत मिलता है, जिसकी पूजा का बड़ा प्रचार हुआ। बोधिमंड तथा बुद्ध से संबंधित बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप आदि की ही पूजा पहले होती थी। बुद्ध की मानुषी मूर्तियों का निर्माण बाद में शुरू हुआ। उसके पहले तीर्थंकरों की मानुषी प्रतिमाएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं। जैन सर्वतोभद्र प्रतिमाओं की तरह ही बौद्ध मूर्तियों का निर्माण बोधगया आदि स्थानों में उत्तर–गुप्तकाल में हुआ।

चैत्य वृक्ष की पूजा जैन-धर्म का एक विशेष अंग बन गई। विभिन्न तीर्थंकरों से संबंधित चैत्य वृक्षों के विवरण जैन-साहित्य में उपलब्ध हैं। ऐसे तरुवरों में कल्पवृक्ष, शाल, आम्र आदि वृक्षों को महत्त्व मिला और उनका प्रदर्शन तीर्थंकर प्रतिमाओं तथा उनके शासन देवताओं के साथ किया जाने लगा। चैत्य वृक्ष ही मंदिरों के आरम्भिक रूप में मान्य हुए। यद्यपि आधुनिक अर्थ में प्राचीनतम जिन–मंदिरों के स्वरूप का स्पष्ट पता नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि कुछ देवायतन ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे।

लिच्छवियों के एक प्राचीन ज्ञातृकुल में बिहार की वैशाली नगरी के समीप कुण्डग्राम ( आधुनिक वासुकुण्ड ) में ई० पू० ५९९ में भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ इस कुल के मुखिया थे। महावीर की माता त्रिशला वैदेही वैशाली के नरेश चेटक की बहन थीं। प्राचीन जैनग्रन्थों में महावीर स्वामी को "विदेह कुमार" तथा "वैशालिक" नाम भी दिये गये हैं। उन्होंने दक्षिण बिहार के पर्वतीय तथा बांगालिक-प्रदेश के भ्रमण में अनेक वर्ष बिताए। इससे यह स्वाभाविक था कि वह प्रदेश महावीर के उपदेशों का विशेष क्षेत्र होता। जैन अनुश्रुति के अनुसार राजगृह नगर महावीर को सबसे अधिक पसंद था। उन्होंने चौदह वर्षावास राजगृह तथा नालंदा में किये। राजगृह में महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर मुनिसुव्रत का भी जन्म हुआ था। मुनिसुव्रत का नाम मथुरा से प्राप्त द्वितीय शती की एक प्रतिमा पर उत्कीर्ण मिला है।

प्राचीन साहित्यिक विवरणों के अनुसार भगवान् महावीर का निर्वाण पावापुरी में हुआ। उस समय वे ७२ वर्ष के थे। पावा के अभिज्ञान के संबंध में विवाद है। कुछ विद्वान वर्तमान नालंदा जिले में स्थित पावा को

प्राचीन पावापुरी मानते हैं। परन्तु उसे प्राचीन नगरी मानने में कठिनाई यह है कि वहाँ प्राचीन पुरातत्वीय अवशेष नहीं मिले हैं। प्राचीन भौगोलिक प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि नहीं होती। विद्वानों का दूसरा वर्ग प्राचीन पावापुरी की स्थिति उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में फाजिलनगर तथा सठियांव नामक गावों के क्षेत्र को मानता है। उस क्षेत्र में आसमानपुर और उसके समीप कुछ टीले हैं, जिनसे ठीकरों, सिक्कों, मूर्तियों आदि के रूप में पुरातत्त्व की सामग्री मिली है। इस मुद्रा पर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख से ज्ञात हुआ है कि सठियांव का प्राचीन नाम श्रेष्ठिग्राम था, न कि पावा।

१९५२ में उत्तर प्रदेश के पुरातत्त्व अधिकारी के रूप में मेरे द्वारा सरयूपार क्षेत्र का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया। उसमें बहराइच, गोंडा, बस्ती, गोरखपुर और देवरिया जिले के प्राचीन स्थलों का अध्ययन किया गया। बिहार में वैशाली, नालंदा, राजगृह तथा उनके समीपस्थ कई स्थलों को भी देखा गया। उन प्राचीन स्थलों तथा उनसे प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भगवान् महावीर के निर्वाणस्थल पावानगर का अभिज्ञान उत्तर प्रदेश में देवरिया ज़िला के वर्तमान पडरौना से करना अधिक युक्तिसंगत है। पिछले कई वर्षों में इस विषय पर मेरे अनुसंधानों से उक्त विचार को पुष्टि हुई है।

भारतीय इतिहास में प्राचीन सरयूपार क्षेत्र तथा पश्चिमी बिहार का विशेष स्थान है। उस भूभाग में कोसल, काशी तथा मगध—इन तीन प्रमुख राजतंत्रों के अलावा शाक्य, मल्ल, लिच्छिवि आदि गणराज्य थे। भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी का जन्म क्रमशः शाक्य और लिच्छिवि गणों में हुआ। इन गणराज्यों का अपना संविधान था, जिसके अन्तर्गत वे प्रशासकीय तथा सांस्कृतिक कार्य करते थे। धार्मिक-सामाजिक उत्थान में अनेक गणराज्यों का विशेष योगदान था।

इस क्षेत्र का यह सौभाग्य था कि वहाँ वैदिक–पौराणिक धर्म की विविध शाखाओं एवं बौद्ध, जैन-धर्म तथा अनेक लोक धर्मों को साथ-साथ विकसित होने का अवसर शताब्दियों तक प्राप्त रहा इससे इस क्षेत्र की धार्मिक सहिष्णुता पर प्रकाश पड़ता है। एक-दूसरे के आचार-विचार के प्रति यहाँ के लोगों में आदर की भावना थी। स्वतंत्र चिंतन के प्रति आस्था होने के कारण वहाँ विविध विचारों के पल्लवन का अवसर मिला। इसके संबंध में साहित्यिक तथा पुरालेखीय विवरणों के अलावा बहुसंख्यक

कलाकृतियाँ उपलब्ध हैं। वे इस क्षेत्र के उक्त व्यापक दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं।

भगवान् महावीर का निर्वाण पावा में हुआ। यह नगर मल्लगण की राजधानी थी। प्राचीन बौद्ध—जैन साहित्य तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में पावा के महत्त्व का पता चलता है। मल्ल जन सूर्य वंश की इक्ष्वाकु शाखा के थे। पहले उन्होंने नृपतंत्र स्थापित किया, बाद में वे गणराज्य के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनका विस्तृत राज्य दो भागों में विभक्त हुआ। प्रथम मुख्य भाग का केन्द्र पावा बना। उसके दक्षिण के क्षेत्र की राजधानी कुशावती हुई, जिसका परवर्ती नाम कुसीनारा ( कुशीनगर ) हुआ। अपने समीपवर्ती गणराज्यों तथा कोसल महाजनपद के साथ मल्लों के संबंध अच्छे रहे। पूर्व में मगध का साम्राज्य गणराज्यों के प्रति ईर्ष्या रखता था और उनकी उन्नति में बाधक था। ईसा पूर्व चौथी शती में मगधनरेश महापद्मनंद ने मल्लों के दोनों गणराज्यों के स्वतंत्र शासन को समाप्त कर दिया।

मल्लों तथा वज्जियों के जनपदों के बीच की सीमा-रेखा सदानीरा ( गंडकी ) थी। भौगोलिक स्थिति और अच्छी जलवायु के कारण पावा नगर का महत्त्व बढ़ा। बुद्ध तथा महावीर—दोनों उसके प्रति आकृष्ट थे। दोनों के प्रति मल्ल जनों का प्रभूत आदर था। उस समय पावा नगर धार्मिक तथा आर्थिक समृद्धि का केन्द्र था। श्रावस्ती से वैशाली तक जाने वाला लंबा राजपथ पावा होकर जाता था। जैन साहित्य में पावा के हस्तिपाल नामक राजा की रज्जुकशाला का उल्लेख है। बौद्ध-ग्रन्थों में पावा के "कम्मार-पुत्त चुन्द" का नाम आया है। गौतम बुद्ध और उनके साथियों का चुन्द ने बड़ा सत्कार किया। जब बुद्ध पावा से कुसीनारा ( कुशीनगर ) के मार्ग पर थे तब उहोंने ५०० बैलगाड़ियों का एक बड़ा समूह देखा, जो आलार कालाम के शिष्य के पीछे जा रहा था।

बौद्ध ग्रन्थ "दीघनिकाय" में वैशाली से पावा होकर कुशीनगर की ओर जाते हुए गौतम बुद्ध की अन्तिम यात्रा का विस्तृत वर्णन है। यह मार्ग उस समय बहुत प्रसिद्ध था। बाबरि के शिष्यों तथा महाकश्यप आदि ने इस मार्ग से यात्राएँ की थीं। वैशाली छोड़ने के बाद साथियों सहित बुद्ध भण्डगाम, हत्थिगाम, जम्बुगाम होकर भोगनगर पहुँचे। वहाँ से पावा पहुँच कर उन्होंने वहाँ चुन्द के यहाँ भोजन किया। भोजन के बाद ही उनकी तबियत बिगड़ गयी और पेट में भयंकर पीड़ा हुई। वे पावा से कुशीनगर की ओर चल पड़े जो पावा से दक्षिण-पश्चिम लगभग

अठारह किलोमीटर दूर था। कुशीनगर में मल्लों के शालवन में बुद्ध का निर्वाण हुआ। मल्लों ने बड़े समारोह के साथ बुद्ध का अन्तिम संस्कार सम्पन्न कर वहाँ स्मारक की स्थापना की।

जैन–साहित्य में मल्ल राष्ट्र की बड़ी प्रशंसा मिलती है। भगवान् महावीर ने पावा में अपने उपदेश दिये। वहाँ उन्होंने कुछ समय बाद निर्वाण प्राप्त किया। इसकी पुष्टि जैन तथा बौद्ध-साहित्य से होती है। लिच्छवियों तथा अन्य जनों के साथ मल्लों के नौ प्रमुखों ने महावीर स्वामी का संस्कार भव्य रूप में किया और उनके स्मारक बनवाये।

यह उल्लेखनीय है कि महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध दोनों ने मल्ल राष्ट्र को ही अपना निर्वाण क्षेत्र चुनकर उस जनपद को गौरवान्वित किया। इस क्षेत्र के प्रति उन्होंने जो भाव व्यक्त किये तथा उक्त तथ्य से दोनों मनीषियों का मल्ल राष्ट्र के प्रति अतिशय स्नेह व्यक्त होता है।

मध्यकालीन प्रसिद्ध जैन लेखक जिनप्रभसूरि के ग्रन्थ "विविधतीर्थ-कल्प में अपापा पुरी का वर्णन मिलता है। उनके अनुसार अपापा का ही नाम बाद में पावापुरी हो गया। इस ग्रन्थ के भौगोलिक क्रम को देखते हुए पावापुरी का अभिज्ञान वर्तमान पड़रौना से करना समीचीन है।

लुम्बिनी तथा वैशाली के मध्य मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा अनेक स्तंभ स्थापित किये गये। अशोक का उद्देश्य था कि अपने साम्राज्य के यात्रा-पथों में प्रमुख-स्थलों पर शिलालेख तथा स्तम्भलेख, बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु, स्थापित किये जायें। यद्यपि सरयूपार क्षेत्र के अनेक स्थलों पर लगाये गये अशोक के स्मारक अब प्राप्त नहीं हैं, पर इतना निश्चित रूप से ज्ञात हो सका है कि लुम्बिनी और राजगृह का क्षेत्र उसे विशेष प्रिय था और इन दोनों के मध्य वाले बड़े राजमार्ग को प्रसिद्ध करने का उद्योग किया था।

पडरौना में अनेक प्राचीन टीले अभी अवशिष्ट हैं। उनसे जो पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध हुई है वह उस स्थल की प्राचीनता को द्योतित करती है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंघम ने इस सामग्री तथा भौगोलिक विवरणों के आधार पर पावा की पहचान पडरौना से की थी। कनिंघम के बाद इस क्षेत्र में जो कार्य हुआ है उससे भी यह बात पुष्ट होती है।

श्री भगवती प्रसाद खेतान ने बड़े श्रम के साथ संबंधित सामग्री का संकलन तथा विवेचन किया है। उन्होंने पुरातात्विक सामग्री के साथ

उपलब्ध साहित्य संदर्भों तथा विदेशियों के विवरणों का भी अनुशीलन किया है । प्रस्तुत पुस्तक की रचना कर उन्होंने सरयूपार–क्षेत्र के इतिहास और संस्कृति के उद्घाटन में जो उपलब्धि प्राप्त की है उसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं ।

**कृष्णदत्त बाजपेयी**
सेवा निवृत्त टैगोर प्रोफेसर तथा
अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
तथा पुरातत्व विभाग
सागर विश्वविद्यालय

सागर ( म० प्र० )
ज्येष्ठ पूर्णिमा,
१९ जून, १९८९.

# आत्म–निवेदन

पडरौना ( जनपद देवरिया, उ० प्र० ) मेरा जन्म स्थान है पर उद्योग एवं व्यापारिक कार्यों के कारण मैं प्रायः बम्बई में ही रहा। जब कभी भी मैं पडरौना आता था तो यहाँ से तीन कि०मी० दूर पूर्व में स्थित श्री सिद्धनाथ जी की पावन एवं बहुचर्चित सिद्धस्थली 'सिधुवाँ' का दर्शन करने अश्वय जाया करता था। प्राचीन, मनोरम और आध्यात्मिक शान्ति-प्रदान करने वाले इस स्थल की ख्याति सदियों पूर्व से इस क्षेत्र में व्याप्त है। इसकी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि जानने के लिए मैं शुरू से ही जिज्ञासु रहा हूँ। इसी क्रम में साहित्यिक एवं धार्मिक ग्रन्थों, ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक कृतियों के अध्ययन के दौरान इसकी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विरासत के विषय में जानकर प्रफुल्लित हो उठा।

मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि यह क्षेत्र राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों की चरणधूलि द्वारा पवित्र हुआ है। गोरखपुर गजेटियर से सूचना मिलती है कि एक सिद्ध महापुरुष ने दक्षिण-पश्चिम से आकर यहाँ साधना की थी एवं सिद्धि प्राप्त कर समाधिस्थ हुए थे। किंवदन्तियों के अनुसार श्री सिद्धनाथ जी गिरनार से यहाँ पधारे थे। गिरनार प्राचीन काल से लेकर आज तक जैन धर्म का एक महान केन्द्र रहा है। उक्त तथ्यों के आलोक में सहसा मुझे अन्तःप्रेरणा हुई कि महापुरुषों की चरण-रज से पावन भूमि पडरौना ही, वह प्राचीन पावा है जहाँ महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था, जिसे प्राचीन बौद्ध तथा जैन धर्म ग्रन्थों में पवित्र भूमि के रूप में जाना जाता रहा है। सम्भवतः सिद्धनाथ जी का यहाँ आने का एकमात्र प्रयोजन यही रहा होगा कि महावीर के निर्वाण की पवित्र स्थली को अपनी साधना एवं समाधि का स्थल बनावें।

इस विषय पर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से मेरी इन मान्यताओं की उत्तरोत्तर पुष्टि होती रही कि यहाँ की मिट्टी के कण-कण, जल की बूँद-बूँद एवं वायु की तरंगायित तरंगों से इसकी पवित्रता का बोध होता रहता है। यह पवित्र भूमि सर्वदा ही अपना मूक संदेश देती रही है, भले ही लोग उसे अनुभव करने में असमर्थ रहें।

दूसरे यह कि किसी भी स्थल की जानकारी के लिए श्रुति, स्मृति एवं किंवदन्ती का भी सहारा लेना ही पड़ता है केवल इतिहास का ज्ञान पर्याप्त नहीं है। पीढ़ी दर पीढ़ी से छन-छनकर जनमानस में व्याप्त स्मृतियों में कहीं न कहीं, कुछ न कुछ सत्य का अंश अवश्य विद्यमान रहता है, भले ही उसमें काल के प्रवाह से कुछ परिवर्तन हो जाये।

तीसरी बात यह कि गण्डक नदी का इस क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन युग से ही महत्त्व है और प्राचीन काल में जो भी मार्ग रहे हैं काल-क्रम के दीर्घ अन्तराल के बावजूद वे आज भी विद्यमान हैं। भले ही उनमें गण्डक के प्रवाह में आये परिवर्तनों के फल स्वरूप क्वचित परिवर्तन हुआ है।

अपनी उपरोक्त आस्था एवं मान्यताओं के आलोक में यथासामर्थ्य अन्वेषण, विवेचन एवं अनुसन्धान कर वास्तविक पावा को पहचानने और तद्सम्बद्ध भ्रान्तियों के निराकरण का प्रयास किया है। यह कार्य महान् है पता नहीं मैं इसमें कहाँ तक सफल हो पाया हूँ क्योंकि इतिहास मेरा विषय नहीं रहा है। परिस्थितिवश जो भी तथ्य सामने आते गये 'मधुसंचय' न्याय से उन्हें संकलित करता गया। शुद्ध रूप से मैं संकलन कर्त्ता हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ विगत बीस वर्षों के मेरे अनवरत परिश्रम एवं अध्यवसाय का परिणाम है। इतिहासविद्, पुरातत्त्ववेत्ता एवं अन्य विद्वान् ही इसका निर्णय कर सकेंगे कि मेरा प्रयास कहाँ तक सफल है। प्रमादवश कुछ भूल हो गई हो तो विद्वज्जन मुझे क्षमा करेंगे तथा उसे सुधारने हेतु मुझे सूचित करेंगे। इस महती कृपा के लिए मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा।

पावा-अनुसन्धान के लम्बे दौर में मुझे अनेक लोगों से जो सौहार्द एवं सहयोग मिला उनका मैं चिरऋणी हूँ और उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य है।

सर्वप्रथम मैं उन विद्वानों के प्रति सादर भाव से नतमस्तक हूँ जिन्होंने इसके पूर्व इस विषय पर पुस्तकों तथा लेखों के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किये हैं और जिनके अवलोकन एवं उपयोग का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

मैं माननीय श्री श्रेयांस प्रसाद जी जैन का अत्यन्त अनुग्रहीत हूँ जिनकी कृपा से दिगम्बर जैन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर हमारे लेख विद्वानों तक पहुँचे। मैं स्वर्गीय श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द जी वात्स्यायन अज्ञेय, नई दिल्ली, पं० दलसुख मालवणिया अहमदाबाद, डा० एस० पी०

नागेन्द्र भूतपूर्व कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, प्रो० योगेन्द्र मिश्रा पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग पटना विश्वविद्यालय, प्रो० शैलनाथ चतुर्वेदी, पूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर, प्रो० मधुसूदन ढाकी, एसोसिएट डाइरेक्टर अमेरिकन इंस्टीच्यूट आफ इण्डियन स्टडीज रामनगर, वाराणसी, डा० आर० सी० शर्मा, निदेशक राष्ट्रीय संग्रहालय कलकत्ता, प्रो० बी० एन० श्रीवास्तव, विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग लखनऊ, प्रो० उपेन्द्र नाथ ठाकुर, विभागाध्यक्ष, एशियन स्टडीज एवं प्राचीन इतिहास मगध विश्वविद्यालय बोध गया, डा० विजय बहादुर राय एवं डा० शिवाजी सिंह, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालय, डा० टी० पी० वर्मा प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विमाग का० हि० वि० वि०, बौद्धभिक्षु बुद्धमित्र जी (संस्थापक श्री राहुल सांकृत्यायन संस्थान) आदि का मैं सदैव हृदय से अनुग्रहीत रहूँगा जिन्होंने निरन्तर प्रेरणा देकर मुझे आत्मबल प्रदान किया है तथा जिनके आशीर्वाद एवं अमूल्य सहयोग से इस कार्य को करने में सफल हो पाया हूँ।

मैं श्री प्रेमचन्द सिंह, (हिन्दी विभाग स्नातकोत्तर महाविद्यालय पडरौना) के प्रति भी उनसे प्राप्त आत्मीयता पूर्ण सहयोग के लिए आभारी हूँ।

श्री राय देवेन्द्र प्रसाद जी जैन अध्यक्ष व आचार्य अनन्त प्रसाद जैन मन्त्री पावा नगर निर्वाण क्षेत्र समिति, गोरखपुर एवं जैन धर्मके मूर्धन्य विद्वान् आदरणीय भँवरलाल जी नाहटा कलकत्ता के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनसे विचार-विमर्श कर मुझे सोचने, समझने और लिखने की नई दिशा मिली।

मैंने ग्रन्थ लेखन की अवधि में विभिन्न पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों, विशेषरूप से राष्ट्रीय संग्रहालय कलकत्ता, डा० के० पी० जायसवाल शोध संस्थान पटना, अमेरिकन इंस्टीच्यूट आव इण्डियन स्टडीज रामनगर, एशियाटिक सोसायटी बम्बई, सिन्हा लायब्रेरी पटना, बिहार रिसर्च सोसाइटी पटना एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी, के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने से कैसे विमुख हो सकता हूँ, जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय तथा हर प्रकार से सहयोग प्रदान किया।

मैं आकाशवाणी केन्द्र गोरखपुर के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जहाँ मुझे पावा के विषय में अपना विचार प्रस्तुत करने के लिए समय-समय पर अवसर प्रदान किया गया जिससे मेरा उत्साहवर्धन हुआ। मैं उन समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं के सम्पादकों का बहुत आभारी हूँ जिन्होंने पावा सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने की कृपा की।

प्रो० कृष्ण देव जी ( सलाहकार अमेरिकन इंस्टीच्यूट आव इण्डियन स्टडीज रामनगर, वाराणसी तथा भूतपूर्व निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग भारत सरकार नई दिल्ली ) एवं प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ( पूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर म० प्र० ) ने मेरा निरन्तर मार्गदर्शन किया है एवं मुझे प्रेरित किया है। प्रो० कृष्णदेव जी ने सहर्ष इस पुस्तक का प्राक्कथन और प्रो० वाजपेयी ने प्रस्तावना लिखकर मुझ पर महती कृपा की है।

इस पुस्तक में उपलब्ध मानचित्रों के रेखांकन में श्री पी० वी० सिंह राणा से बहुमूल्य सहयोग मिला अतः मैं उनका आभारी हूँ। ग्रन्थ के पाण्डुलिपिकर्त्ता श्री शिवमूर्ति पाठक का भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने इसे प्रकाशित करने की स्वीकृति देकर जो उदारता दिखाई है उसके लिए मैं उनका और संस्थान के प्रबन्धकों का आभारी हूँ।

अन्त में महान जर्मन कवि गेटे के शब्दों 'सत्य को असत्य से, निश्चित को अनिश्चित से और असंदिग्ध को संदिग्ध से पृथक् करना इतिहासकार का अपना कर्त्तव्य है' के साथ विद्वानों, इतिहासवेत्ताओं, पुरातत्त्वविदों, भूगोल शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों से नम्र निवेदन है कि अपने गहन अनुशीलन, मनन, अध्ययन एवं सर्वेक्षण द्वारा वास्तविक पावा की खोज में सहायक हों, जिससे इस सम्बन्ध में अब तक जो भी भ्रान्तियों फैली हुई हैं वे सदा के लिए दूर हो सकें तथा वास्तविक पावा की पहचान हो सके। मैं अपने इस अकिंचन प्रयास को इतिहासकारों, पुरातत्त्व वेत्ताओं एवं विद्वानों को समर्पित करता हूँ—

त्वदीयं वस्तुगोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये।

**—भगवती प्रसाद खेतान**

खेतान हाउस,
पड़रौना, देवरिया (उ० प्र०) पिन–274304

# विषय-सूची

## प्रथम अध्याय

# विषय-प्रवेश

भारतीय परम्परा की यह विडम्बना रही है कि उसके अधिकांश शलाका-पुरुषों के जीवन चरित के विषय में ऐतिहासिक साक्ष्यों का नितान्त अभाव है। आज हमें उनके विषय में जो कुछ ज्ञात है उसमें अनुश्रुतियों एवं किंवदन्तियों का बाहुल्य है। निर्विवाद तथ्यों के अभाव में उनके प्रादुर्भाव के हजारों साल बाद भी उनका चरित प्रामाणिक एवं सर्वमान्य नहीं हो सका है। जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके निर्वाण से सम्बद्ध पावा नगरी की स्थिति आज भी विवादास्पद है और सदैव चर्चा का विषय रही है। निर्वाणस्थली पावा की वास्तविक भौगोलिक स्थिति निश्चित करना ही इस ग्रन्थ का विवेच्य है। चर्चा का आरम्भ हम पावा शब्द की व्युत्पत्ति से करेंगे।

**व्युत्पत्ति—**

पावा शब्द की व्युत्पत्ति अत्यन्त रोचक है। जिनप्रभसूरि ने 'विविध-तीर्थकल्प'[1] के 'अपापा बृहत्कल्प' के अन्तर्गत 'अपापा' 'पापा', और 'पावा' तीन नामों से इस नगरी का उल्लेख किया है। ग्रन्थकार के अनुसार पूर्वकाल में मध्यमा पापा का नाम अपापापुरी था। शक्रेन्द्र ने पावापुरी नाम किया, क्योंकि यहाँ महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ। इस प्रकार महावीर की निर्वाणभूमि होने के कारण यह स्थली 'अपापा' कही गई[2]। 'पापा' और 'पावा' इसी अपापा के अन्य नाम हैं। दिव्य ज्योति के अस्त हो जाने के कारण इसका नाम 'पापा' पड़ा। पापों से मुक्ति दिलाने वाली स्थली होने के कारण भी यह पापा नाम से विख्यात हुई—पापात् पाति इति पापा। सम्भवतः प्राकृत भाषा में 'प' का व हो जाने के कारण ही पापा, पावा के

---

१. विविध तीर्थकल्प–जिनप्रभसूरि पृ० ४३, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, सन् १९३४

२. मज्झिमपावाए पुव्विं अपावापुरि त्ति नामं आसि। सक्केणं पावापुरि त्ति नामं कयं। जेण इत्थ महावीरसामी कालगओ–वही, पृ० ४३

रूप में प्रसिद्ध हुई। अभिधानराजेन्द्र[१] में प्राचीन जैन ग्रन्थों के उद्धरण के आधार पर 'पावा' को 'पापा' कहा गया है—पावा-पापा, मध्यमाऽपर नाम्या।

संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर[२] में भी पावा को पापा माना गया है तथा संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी[३] में पावापुरी को अपापापुरी माना गया है।

प्रसिद्ध अंग्रेज पुरातत्त्ववेत्ता ए० कनिंघम[४] के मत में पावन, पखन, पद्रमन एवं पदखन, पावा का ही रूपान्तर है जिसका संशोधित रूप पडरौना है। तिब्बती कन्जुर 'कोहग्यूर' में इसे दिग्पचन नाम से सम्बोधित किया गया है। तिब्बती में 'दिग्' शब्द का अर्थ है—पवित्र, पूज्य। पचन शब्द का अर्थ है—नगर, निवासस्थान या बस्ती। इस प्रकार तिब्बती दिग्पचन, संस्कृत के पावनपुर, पावन नगर या पावन आलय का समानार्थी है। ऐसी स्थिति में कनिंघम का अभिमत है कि पावा मूलतः भारतीय नामकरण है या तिब्बती शब्द का अनुवाद, यह कहना कठिन है। ए० सी० कार्लाइल[५] ने पावा की उत्पत्ति संस्कृत शब्द पावन से मानी है। पावन शब्द से पवित्र, शुचि, विमल, निर्मल आदि भावों का बोध होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल से लेकर अब तक पावा शब्द निर्विवाद रूप से पवित्रता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

**महत्ता—**

पावा का इतिहास अतिप्राचीन है। निःसन्देह महावीर और बुद्ध के पूर्व ही यह नगरी स्थापित हो चुकी थी। प्राचीनकाल में इस नगरी के आर्थिक रूप से सुदृढ़ एवं वैभव-सम्पन्न होने एवं राजमार्गों द्वारा भारतवर्ष के प्रमुख नगरों से जुड़े होने के साक्ष्य मिलते हैं। पावा जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मावलम्बियों के लिए पूज्य थी। जैनों के लिए महावीर की निर्वाणभूमि होने के कारण तो बौद्धानुयायियों के लिए कुशीनगर में महाप्रयाण से पूर्व बुद्ध की अन्तिम विहार-स्थली होने के कारण।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या महावीर और बुद्ध से सम्बद्ध पावा

---

१. अभिधानराजेन्द्र—सं० राजेन्द्रसूरि, पञ्चम खण्ड, पृ० ८८४

२. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर—पृ० २८

३. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—सं० मोनय रविलियम्स, पृ० ६२८

४. एं०, ज्या० इं०, पृ० ३६६-६७

५. आ० स० इ० रि० टू० गो० सा० गा० खण्ड २२, पृ० ३४

एक ही थी ? सम्भवतः इस प्रश्न के उत्तर में पावा-अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण सूत्र अन्तर्निहित है। परन्तु इस प्रश्न की चर्चा बाद में, अभी हम पावा के महत्त्व पर ही विचार करेंगे।

जैनों के सम्प्रदाय-भेद की दृष्टि से भी इस नगरी का महत्त्व है। 'दीघनिकाय' के पसादिक सुत्त[1] एवं सामगामसुत्त[2] के अनुसार सर्वप्रथम पावा में ही जैनियों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर निकायों की सृष्टि हुई जिसकी सूचना बुद्ध को पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। दीघनिकाय[3] के अनुसार अपने जीवनकाल में ही बुद्ध द्वारा अपने अनुयायियों के लिए पावा को तीर्थस्थल घोषित कर दिया गया था। बुद्ध ने कहा था, जहां तथागत ने परिनिर्वाण पूर्व अन्तिम भिक्षा ग्रहण की उसका उतना ही महत्त्व है जितना उस स्थल का जहाँ प्रथम पिण्डपात ग्रहण कर तथागत अनुपम सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त हुए।

पावा की महत्ता कुशीनगर की अपेक्षा अधिक थी। बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द ने 'महापरिनिव्वाणसुत्त'[4] में कुशीनगर को एक क्षुद्र और जंगली नगला ( कुड्ड नगरकं उज्जगल नगरकं ) माव कहा था। प्रो० राधाकुमद मुखर्जी[5] भी सहमत हैं कि पावा की प्रधानता थी और कुशीनगर उसकी थोड़ी बहुत अधीनता में था।' 'महापरिनिव्वाण सुत्त' में बुद्ध के परिनिर्वाण के अवसर पर कुशीनगर में मल्लों द्वारा आयोजित उत्सव के विवरण से उनके वैभव, कला, संगीत इत्यादि का जो परिचय मिलता है उस आधार पर सहज ही कल्पना की जा सकती है कि पावा के मल्ल कितने वैभवशाली रहे होंगे।

पावा की आर्थिक सम्पन्नता एवं वैभव के कारण यहाँ से अन्य स्थानों को आवागमन हुआ करता था। नलिनाक्षदत्त एवं प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी[7] ने पूर्व बुद्धकालीन उत्तर भारत के बहुमुखी विकास का वर्णन

---

१. दीघनिकाय ( हिन्दी अनुवाद ) पसादिक सुत्त ३/६ पृ० २५२-२५९
२. ,, ,, सामगामसुत्त ३/९/४ पृ० ४४९
३. ,, ,, पृ० १४०
४. ,, ,, महापरिनिव्वाणसुत्त २/३ पृ० १४३
५. डॉ० मुखर्जी राधाकुमद—हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० १९९
६. दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) महापरिनिव्वाण सुत्त २/४ पृ० १५२
७. नलिनाक्षदत्त एवं कृष्णदत्त वाजपेयी—डेवलपमेण्ट आव बुद्धिज्म इन उत्तर प्रदेश पृ० २०, २९

करते हुए दो प्रमुख मार्गों का उल्लेख किया है। एक श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जो साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, गोमदि, उज्जयिनी और महिष्मती नगरों से होकर जाता था। दूसरा प्रमुख मार्ग श्रावस्ती और राजगृह को जोड़ता था। इस मार्ग पर यात्रा करने वाले पहले श्रावस्ती से वैशाली जाते थे फिर वहाँ से दक्षिण की ओर मुड़कर राजगृह पहुँचते थे। इस मार्ग पर कई प्रमुख नगर एवं पड़ाव थे जैसे सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, हस्तिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र, नालन्दा आदि। इस प्रकार पावा बुद्धकालीन भारत के प्रमुख मार्गों से जुड़ा हुआ था।

महावीर-निर्वाण के पश्चात् जैन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में पावा का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि विभिन्न स्थलों, विशेषकर धार्मिक स्थानों के नाम पावा रखे जाने लगे। वर्तमान में कई पावा नामक स्थान मिलते हैं, जैसे बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत टीकमगढ़ के निकट पपौरा, ललितपुर या झाँसी, उ० प्र० के मध्य 'पवा' या 'पवाजी', इन्दौर (म० प्र०) के निकट पावागिर, बड़ौदा, (गुजरात) के समीप पावागढ़ या पावागिर आदि। इन स्थानों की पुष्टि पं० नाथूराम प्रेमी[1] ने भी की है। प्रो० के० डी बाजपेयी[2] ने भी गुजरात में पंचमहाल जनपद के पावागिरि एवं चम्पानेर के निकट पावागढ़ का उल्लेख किया है।

परन्तु दुर्भाग्यवश बुद्ध के महापरिनिव्वाण के पश्चात् कालक्रम से मल्लराष्ट्र के मगध साम्राज्य में विलीन हो जाने के कारण शनैः शनैः पावा की महत्ता घटने लगी और अन्ततोगत्वा उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

## पावा-पतन

उत्तर मौर्यकालीन इतिहास के अनुसार सम्राट् अशोक के पौत्र सम्प्रत्ति के शासनकाल तक पावा का लोप हो चुका था। जैन साहित्य से सूचना प्राप्त होती है कि उसके शासनकाल में मौर्य साम्राज्य की निम्नलिखित भूक्तियाँ थीं:—

---

१. प्रेमी, पं० नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४२-४३

२. प्रो० बाजपेयी कृष्णदत्त—लोकेशन आव पावा, पुरातत्व, पृ० ५१

| क्र० सं० | राज्य एवं भुक्ति | राजधानी |
|---|---|---|
| १. | मगध | राजगृह |
| २. | अंग | चम्पा |
| ३. | बंग | तामलिति ( ताम्रलिप्ति ) |
| ४. | कलिंग | कांचनपुर ( कचणपुर ) |
| ५. | काशी | वाराणसी ( बनारस ) |
| ६. | कोशल | साकेत |
| ७. | कुरु | गजपुर ( हस्तिनापुर ) |
| ८. | कुशार्त ( कुसहा ) | सोरिय ( शौरिपुर ) |
| ९. | पंचाल | कपिल्लपुर (काम्पिल्यपुर) |
| १०. | जंगल | अहिछता |
| ११. | सौराष्ट्र | चोरवाड़ ( द्वारवती ) |
| १२. | विदेह | मिहिला ( मिथिला ) |
| १३. | वच्छ ( वत्स ) | कोशाम्बी |
| १४. | शाण्डिल्य | नन्दिपुर |
| १५. | मलय | भट्टिलपुर |
| १६. | व (म) च्छ (मत्स) | वेराड |
| १७. | वरणा | अच्छा |
| १८. | दशण्ण ( दशार्ण ) | मृतिकावती |
| १९. | चेदि | सुत्तिवई ( शुक्ति ) |
| २०. | सिन्धु—सोवरी | वीइ-भय (वीतिभय) |
| २१. | सूरसेन | महुरा ( मथुरा ) |
| २२. | भंगि | पावा ( पापा ) |
| २३. | पुरिवट्टा | मासपुरी |
| २४. | कुणाला | सावत्थी ( श्रावस्ती ) |
| २५. | लाट | कोडिवरिस ( कोटिवर्ष ) |

२५½ केगइ अद्ध केकयी अर्ध सेयविया

उपर्युक्त तालिका सूचित करती है कि परवर्ती मौर्ययुग के अधिकांश प्राचीन नगर नष्ट हो चुके थे तथा उनके स्थान पर नवीन नगरों का निर्माण हो चुका था। इसमें कपिलवस्तु का नाम लुप्त है। विदेह की राजधानी मिथिला अर्थात् जनकपुरी अंकित है। परन्तु मगध की मौर्य-

कालीन राजधानी पाटलिपुत्र के स्थान पर उसकी प्राचीन राजधानी राजगृह का उल्लेख वास्तव में आश्चर्यजनक है। इसमें वैशाली का उल्लेख नहीं है। बुद्धकालीन मल्लराष्ट्र की राजधानी पावा के स्थान पर सम्राट् सम्प्रति के शासनकाल में भंगि राज्य की राजधानी पावा उल्लिखित है। प्रतीत होता है कि बुद्धकालीन शाक्यों की राजधानी कुशीनगर एवं पावा का लोप हो चुका था। उक्त तालिका में अंगदेश की राजधानी चम्पा उल्लिखित है। मोतीचन्द्र[1] पावा के विषय में संशय की स्थिति में हैं, वे पावा और चम्पा दोनों का अंगदेश की राजधानी के रूप में उल्लेख करते हैं।

इतना निश्चित है कि मल्लराष्ट्र की राजधानी पावा का उस काल तक कोई अस्तित्व नहीं रह गया था। डॉ० मोहनलाल मेहता[2] के अनुसार 'भंगिदेश पारसनाथ की पहाड़ियों के क्षेत्र में स्थित होना चाहिए जिसकी राजधानी पावा रही है। प्रो० बाजपेयी ने भी इसकी पुष्टि की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि उत्तरमौर्यकालीन पावा हजारीबाग जनपद में था।[3]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत में पावा का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। परिस्थितिवश भले ही पावा समय के प्रवाह में बह गया हो लेकिन इस स्थान की पवित्रता का बोध किसी न किसी रूप में सदैव ही रहा है।

●

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० ७६

२. प्रो० मेहता, मोहनलाल प्राकृत प्रापर नेम्स–भाग १, पृ० ४५१

३. लोकेशन आव पावा, पृ० ५१

## द्वितीय अध्याय

# साहित्यिक साक्ष्य

पावा शब्द की व्युत्पत्ति, नगरी की महत्ता एवं इसके पतन पर प्रकाश डालने के पश्चात् क्रमशः जैन एवं बौद्ध साहित्य में पावा के विषय में उपलब्ध तथ्यों को प्रस्तुत करेंगे।

पावा विषयक जैन और बौद्ध साहित्य का विवेचन करने के क्रम में हम सर्वप्रथम दोनों परम्पराओं के एक-एक ग्रन्थ क्रमशः 'जैनागम' कल्पसूत्र और बौद्धग्रन्थ 'दीघनिकाय' के 'महापरिनिव्वाण' में उपलब्ध तद्विषयक सामग्री का अवलोकन करेंगे। निश्चित रूप से इनमें वर्णित तथ्य दोनों परम्पराओं में तद्विषयक प्राप्त सामग्री का पूर्ण परिचय देते हैं और इस दृष्टि से इन्हें प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है।

भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र[१] ( वी० नि० सं० ९८० या सन् ४५३ ) में पावा को 'मज्झिमापावा' नाम से सम्बोधित किया गया है। प्रतीत होता है कि पावा नाम की कई नगरियों के विद्यमान होने से महावीर की निर्वाणस्थली पावा को मज्झिमापावा नाम से निर्दिष्ट किया गया है। अन्य पावा नगरियों से पार्थक्य बोध हेतु ही इसके तत्कालीन शासक हस्तिपाल राजा का भी उल्लेख है। इसके अनुसार ( सूत्र १२१-१२२ )[२] जनपदों का विहार करते हुए महावीर ने अन्तिम ४२वाँ चातुर्मास पावापुरी के हस्तिपाल राजा की पुरानी रज्जुकशाला में बिताया। सूत्र १२३ में वर्णित है कि वहाँ मज्झिमापावा में चातुर्मास के सातवें पक्ष में महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए।[3] सूत्र १२४ के अनुसार उस समय देव-देवियों के आगमन से रात्रि अत्यन्त प्रकाशमयी हो गयी। १२८ वें सूत्र में उल्लेख है कि जब महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए तो उस रात्रि में काशी-कोशल देश के ( कासी-कोसलगा ) ९ मल्ल और ९ लिच्छवी १८ गणराज्यों ने यह कहकर दीपावली प्रज्ज्वलित की कि ज्ञान ज्योति अस्त

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र १२१

२. वही, सूत्र १२१-१२२

३. वही, सूत्र १२३

हो गयी है, अब हम पौद्गलिक द्रव्यों से प्रकाश करें। इसी ग्रन्थ के १४७ वें सूत्र में कहा गया है कि अवसर्पिणी के पाँचवें काल के व्यतीत होने में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने पर पावा-मज्झिमा के राजा हस्तिपाल की रज्जुकशाला में उन्होंने एकाकी अद्वितीय ( एगे अबीए ) स्वाती नक्षत्र के प्रत्यूषकाल में सुख-विपाक दुःख-विपाक, एवं उत्तराध्ययन सूत्रों का उपदेश दिया था।

बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के महापरिनिव्वाणसुत्त[1] में बताया गया है कि महापरिनिर्वाण के पूर्व बुद्ध का पावा में अन्तिम पड़ाव था। बुद्ध भोगनगर से चलकर पावा और पावा से कुशीनगर आ पहुँचे थे। इस यात्रा में वे पावा के सन्निकट कर्मकार पुत्र चुन्द के आम्रवन में विश्राम किये थे और अपना अन्तिम आहार ग्रहण किये थे। यहीं उन्होंने अन्तिम उपदेश दिये थे। ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाणोपरान्त उनके धातु अवशेषों का एक भाग पावा में रखा गया था। यह वस्तुतः पावा के मल्ल शासकों का अंश था। महापरिनिर्वाण बेला के अतिरिक्त एक बार पहले भी बुद्ध के पावा जाने का उल्लेख है। उस समय वे वहाँ अजकलापक या अजकपालीय नामक चैत्य में ठहरे थे और अजकलापक यक्ष को विनीत किये थे। बौद्ध स्थविर खण्डसुमन की जन्मभूमि भी पावा नगरी ही थी।

कल्पसूत्र और महापरिनिव्वाणसुत्त में उपलब्ध तथ्यों के अवलोकन से कुछ प्रश्न हमारे सम्मुख आते हैं—

(१) क्या महावीर अपने अन्तिम चातुर्मास में और बुद्ध अपनी चर्या के अन्त में क्रमशः हस्तिपाल और मल्ल शासकों की जिस पावा में आये थे, वह पावा एक ही थी और कुशीनगर के निकट स्थित थी ?

(२) क्या हस्तिपाल मल्लशासक था ?

(३) कल्पसूत्र के १२२ वें सूत्र में पावापुरी और १२३ वें सूत्र में मध्यमापावा एक ही प्रसङ्ग में उल्लिखित है ?

पावापुरी में अन्तिम चातुर्मास का और पावा मज्झिमा में अन्तिम उपदेश, निर्वाण, दीप-प्रज्ज्वलन आदि घटनाओं का उल्लेख है। ऐसी स्थिति में क्या कल्पसूत्रकार के काल में पावा और पावामज्झिमा एक ही

---

१. दीघनिकाय–महापरिनिव्वाणसुत्त–२।३ पृ० १३६

२. दीघनिकाय–महापरिनिव्वाणसुत्त २/३, पृ० १३६

थे ? प्रतीत यही होता है कि पावा और मज्झिमा पावा एक ही थे। जहाँ तक पावा और मज्झिमापावा का उल्लेख था विशेषतः उत्तरवर्ती ग्रन्थों आवश्यकचूर्णि, कल्पसूत्रवृत्ति आदि में मज्झिमापावा का उल्लेख प्राप्त होता है जबकि आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य जैसे अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती ग्रन्थों में पावा का ही उल्लेख है।[1] इस सम्बन्ध में आधुनिक लेखकों और विद्वानों के विवेचन से उलझन उत्पन्न हुई है।

जहाँ तक प्रथम और द्वितीय प्रश्न का सम्बन्ध है, वस्तुतः जैन-साहित्य में उल्लिखित हस्तिपाल ही बौद्ध साहित्य में मल्लशासक के रूप में चित्रित है। क्योंकि कल्पसूत्र में जहाँ पर निर्वाण के अवसर पर ९ मल्ल और ९ लिच्छवी गणराज्यों के राजाओं के उपस्थित होने का उल्लेख है वहाँ हस्तिपाल का अलग से नाम नहीं दिया गया है। ऐसा सम्भव नहीं है कि हस्तिपाल की राजधानी में जहाँ १८ अन्य राजा उपस्थित हों वहाँ वह स्वयं उपस्थित न हो और यह भी तब जबकि उसी की रज्जुकशाला में हो महावीर ठहरे हुए थे। स्पष्ट है ९ मल्लों में ही हस्तिपाल की गणना कर ली गई है। इस प्रकार हस्तिपाल को राजधानी मज्झिमापावा और मल्लशासकों की पावा में शंका के लिए कोई स्थान नहीं है।

यदि यह तथ्य इतना ही सरल और स्पष्ट है तो इतिहासकारों और विद्वानों के मस्तिष्क में पावा के विषय में शंका कैसे बनी रही ? वे इन तथ्यों के प्रकाश में निर्णय की स्थिति में पहुँचे क्यों नहीं ? या उनमें साहित्यिक, अभिलेखोय, पुरातात्त्विक और भौगोलिक अध्ययन तथा सर्वेक्षण के समन्वित प्रयास का अभाव रहा। जो भी हो, उपरोक्त विवेचन हमें महावीर की निर्वाणस्थली निश्चित करने हेतु अध्ययन की रूपरेखा प्रस्तुत करने में सहायक होता है। मैंने पावा-विषयक अनुसंधान हेतु जैन और बौद्ध साहित्य में पावा, मल्लराष्ट्र एवं इसके पड़ोसी देशों की भौगोलिक स्थिति, महावीर के चातुर्मास और बुद्ध की चर्या के परिप्रेक्ष्य में प्राग्बुद्धकालीन एवं बुद्धकालीन मार्गों का, साहित्यिक के साथ-साथ पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर अध्ययन को ग्रंथ का मुख्य आधार बनाया है। साथ ही निर्वाण-स्थली के रूप में विद्वानों द्वारा पावा के रूप में मान्य सभी नगरियों की स्थिति की भी समीक्षा की है।

---

१. प्रो० मेहता मोहनलाल, प्राकृत प्रापर नेम्स खंड १, पृ० ४५१

**जैन साहित्य में पावा**

जैन साहित्य में उपलब्ध पावा सम्बन्धी विवेचन के क्रम में हम सर्वप्रथम इसकी भौगोलिक स्थिति पर विचार करेंगे। जैनसाहित्य में भौगोलिक विवरण प्रायः उपेक्षित ही रहा है। डा० मोतीचन्द्र[1] का अभिमत है कि जैनसाहित्य ज्ञान का भण्डार होते हुए भी सामान्यतः तत्कालीन भौगोलिक तथ्यों पर प्रकाश डालने में असमर्थ है। इसका कारण जैसा कि बृहत्कल्पभाष्य[2] में उल्लिखित है अधिकतर जैनभिक्षुओं की यात्रा जैनतीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण, कैवल्य और निर्वाणस्थलों तक सीमित थी। जैन ग्रन्थकार सामान्य भौगोलिक विवरण प्रस्तुत करने के प्रति सचेष्ट नहीं रहे हैं।

जहाँ तक जैनसाहित्य में पावा की स्थिति का प्रश्न है, सभी ग्रंथ इसे मध्यदेश में स्थित बताते हैं परन्तु समय-समय पर इस देश की सीमाओं के घटने-बढ़ने से विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग सीमायें दी गई हैं। बृहत्कल्प भाष्य[2] में इसकी सीमायें, पूर्व में मगध तथा अंग, पश्चिम में कुरुक्षेत्र, उत्तर में कुणाल और दक्षिण में कौशाम्बी तक बतायी गई है। जबकि पुन्नाटसंघीय जिनसेन कृत 'हरिवंश पुराण'[3] (सन् ७८३) के अनुसार इसके उत्तर में नेपाल, दक्षिण में गंगा व मगध, पूर्व में अंगदेश तथा पश्चिम में काशी व कोशल देश बताया गया है।

ज्ञानचन्द्र जैन[4] के अनुसार पश्चिम में कुरु जनपद से लेकर पूर्व में अंगजनपद तक, उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में गोदावरी के तट पर स्थित अश्मक जनपद तक फैले हुए प्रदेश को आर्यक्षेत्र अथवा मज्मियदेश या मध्यदेश कहा गया है। डॉ० योगेन्द्र मिश्र[5] के अनुसार मध्यदेश की सीमा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक,

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र, सार्थवाह पृ० १

२. कद्दई निग्गन्थाणं वा निग्गन्थीण वा पुरालीमेणं जाव अङ्गामगहाओ एत्तए, दक्षिणेण जाव-कोसम्बीओ एत्तए, पच्चालीमेण जाव विसायाओ एत्तए, उत्तरेण जाव कुणालाविस याओ एत्तए–बृहत्कल्प भाष्य, पृ० १२२९

३. हरिवंशपुराण–सर्ग २ का अन्त और सर्ग ३ का आदि।

४. जैन ज्ञानचन्द्र—निग्गंठ ज्ञातपुत्र, पृ० २४

५. डॉ० मिश्र, योगेन्द्र कुमार—श्रमण भगवान् महावीर की वास्तविक निर्वाणभूमि पावा, पृ० २२

पूर्व में प्रयाग से राजमहल तक घटती-बढ़तो रही थी तथा पश्चिम में इसकी सीमा विनशन तक फैली हुई थी। वस्तुतः मध्यदेश की सीमा में हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य का भाग और पश्चिम में विनशन तथा पूर्व में प्रयाग का भाग अति प्राचीन काल से, सम्मिलित माना जाता रहा है। मनुस्मृति[3] में भो मध्यदेश को इसी सोमा का उल्लेख है और यह परिकल्पना उचित प्रतीत होती है।

जैनसहित्य के आलाक में मध्यदेश की सीमा निश्चित हो जाने के पश्चात् पावा के 'मध्यमा' नामकरण पर विचार करने से इसकी तीन सम्भावनायें प्रतीत होती हैं :—

(१) सम्भवतः महावोर के निर्वाण-काल में पावा एक विशाल नगर था और इसके शासक हस्तिपाल की रज्जुशाला, जहाँ महावीर का निर्वाण हुआ था, नगर के मध्य में स्थित होने के कारण ही इसे मज्झिमा पावा कहा गया।

(२) मध्यदेश की उक्त सीमाओं के सन्दर्भ में गंगा के उत्तर में नेपाल तथा चम्पारण के समीप देवरिया जनपद में स्थित इस पावा को मध्यमा पावा कहना उचित है।

(३) यह भी सम्भावना हो सकती है कि भारतवर्ष में प्रसिद्ध तीन पावा नामक स्थलों में महावीर को निर्वाण भूमि पावा की स्थिति अन्य दोनों स्थलों के मध्य होने के कारण इसे मध्यमा पावा कहा गया हो। पावा नामक तीनों स्थलों का विवरण इस प्रकार है :—

(अ) कुशीनगर, देवरिया (उत्तर प्रदेश) के निकट स्थित मल्लक्षत्रियों की राजधानी पावा। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

(ब) राजगृह, नालन्दा, बिहार के पास की पावा—इतिहास में कहीं भी इसके राजधानी होने का उल्लेख नहीं है।

(स) मिर्जापुर के पास की पावा—भग्गो या भार्गव क्षत्रियों की राजधानी।

परन्तु बलभद्र जैन[1] ने मिर्जापुर की इस पावा के स्थान पर तीसरी पावा हजारीबाग और मानभूमि प्रदेश में स्थित माना है जो इसकी राजधानो थी। पर यह तर्कसंगत नहीं लगता। जैसा कि डॉ० मिश्र[2] ने

---

१. जैन, बलभद्र पावापुरी, पृ० १७३

२. डा० मिश्र योगेन्द्र कुमार—श्रमणमहावीर की वास्तविक निर्वाणभूमि पावा पृ० २६

लिखा है, इतिहास में हजारीबाग मानभूमि स्थित, मल्लजनपद एवं उसकी राजधानी पावा का कोई पता नहीं चलता है। सम्भवतः राजगृह, नालन्दा स्थित पावा को ही मध्यमा पावा सिद्ध करने के लिए इस पावा की परिकल्पना कर ली गई है। वास्तव में इतिहास प्रसिद्ध पावा तो एक ही थी जो महावीर को अपने क्रोड में रखकर धन्य हुई है।

इस प्रकार स्पष्टतः मल्लक्षत्रियों की राजधानी ही मध्यमा पावा प्रतीत होती है।

इसके बाद पावा-विषयक विवरण के लिए जैनसाहित्य को श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में वर्गीकृत कर सर्वप्रथम श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध विवरण को प्रस्तुत किया जा रहा है—

कल्पसूत्र में उपलब्ध विवरण सम्भवतः उत्तरवर्ती जैन साहित्य जैसे आगमिक चूर्णियों, टीकाओं एवं चरित्रविषयक अन्य ग्रन्थों का मूलस्रोत रहा है। कालान्तर में ब्राह्मणपुराणों में वर्णित तीर्थ माहात्म्यों के समान ही नाना प्रकार के माहात्म्य इसमें जोड़ दिये गये हैं :—

कल्पसूत्र से सम्बन्धित विवरण अध्याय के आरम्भ में दे चुके हैं। आवश्यकचूर्णि[1] एवं कल्पसूत्रवृत्ति[2] में पावा को पावामज्झिमा एवं मज्झिमा नगरी कहा गया है। इसके अनुसार महावीर ने ऋजुबालुका नदी के तट पर वैशाख शुक्ल दशमी को केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन मज्झिमापावा में पधार कर महासेन वन में तीर्थप्रवर्तन किया था। वहाँ उस समय सोमिल ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। महावीर का द्वितीय समवसरण वहीं पर हुआ था। उसी स्थली पर उन्होंने पहली देशना दी थी। यहीं यज्ञ में आये हुए इन्द्रभूति, गौतम आदि ग्यारह प्रकाण्ड विद्वान् ब्राह्मणों को उन्होंने गणधर के रूप में दीक्षित किया था। तित्थोगालिय[3] के अनुसार यहीं महापद्म (भावी तीर्थंकर) का समवसरण होगा और वे ग्यारह गणधरों को दीक्षा देंगे।

आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[4] में महावीर का निर्वाण-वृत्तान्त पुराण शैली में वर्णित किया है। महावीर विहार करते

---

१. आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० ३२२, २४, ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम, १९२८-२९

२. डॉ० मेहता, मोहनलाल प्राकृत प्रापर नेम्स भाग १, पृ० ४५१

३. कन्हैयालाल, मणिकलाल मुन्शी, गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ६२–७९

४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-हेमचन्द्र, १२/४४०

हुए अपापा नगरी पहुँचे (जगाम भगवान्नगरी आपाम्)। वहाँ उन्होंने अपनी क्षीणायु जानकर अन्तिम देशना हेतु समवसरण रचाया।

जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थंकल्प (सन् १३२७ ई०) के अपापा बृहत्कल्प (२१) में पावा की उत्पत्ति आदि का ।वस्तार से वर्णन किया है जिसका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। इस कल्प के अन्त में वर्णन है कि जृम्भिकग्राम में केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् १२ योजन दूर मज्झिमापावा आकर महावीर ने गौतमादि गणधरों को दीक्षित किया। गणधरों ने यहीं द्वादशांग का प्ररूपण किया। यहीं महावीर के कानों से सिद्धार्थ वणिक् के उपक्रम से खरक वैद्य द्वारा काष्ठशलाका निकालने का वर्णन है।

विविधतीर्थंकल्प के 'पावा' शीर्षक अन्य कल्प (१४) में महावीर के निर्वाण से जुड़ी एक जनश्रुति का भी उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार कालान्तर में कार्तिक अमावस्या की रात्रि में निर्वाणस्थली पर मिथ्यादृष्टि लोगों ने वीर-स्तूप स्थान पर नागमण्डप की स्थापना कर दी। आज भी चारों वर्णों के लोग उसका यात्रा-महोत्सव मनाते हैं। उस रात्रि में कुएँ से निकाले गये जल से पूर्ण मिट्टी का दीप देवताओं के प्रभाव से बिना तेल के जलता है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने लिखा है कि जहाँ आज भी (जिनप्रभसूरि के काल तक) नागकुमार, साँप के रूप में प्रभाव दिखाते हैं। यहाँ अमावस्या की रात्रि में तेलरहित, जल से भरे हुए दीपक जलाते हैं। अनेक आश्चर्यों की भूमि परमजिनेश्वर के स्तूप से मनोहर स्वरूप वाली श्रेष्ठपुरी मध्यमापावा यात्रियों को समृद्ध करे।

प्रतीत होता है कि विविधतीर्थंकल्प में तीर्थों से सम्बन्धित जनश्रुतियों का भी उल्लेख होने के कारण तीर्थों के वर्णन में ऐतिहासिकता का अभाव है।

'विविधतीर्थंकल्प' से तीर्थों की भौगोलिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। प्रो० बाजपेयी ग्रन्थ के भौगोलिक तथ्यों के विवेचन के पश्चात् इस

---

१. विविधतीर्थकल्प–जिनप्रभसूरि, पृ० २१, सिंघी जैनज्ञानपीठ न० १०, शान्तिनिकेतन, सन् १९३४

२. वही, पृ० ४३

३. प्रो० बाजपेयी के० डी०–लोकेशन आव पावा, पृ० ५३, पुरातत्त्व, बुलेटिन आव द (इण्डियन आर्केलाजिकल सोसाइटी, नई दिल्ली १९८७

निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिनप्रभसूरि ने सभी तीर्थों का भ्रमण किया था और उन्होंने तीर्थों का वर्णन भौगोलिक स्थिति के क्रम से किया है। वे कौशाम्बी और अयोध्या (१२वाँ, १३वाँ) का वर्णन करने के पश्चात् ही अपापा (पावापुरी) का वर्णन करते हैं। इस प्रकार अयोध्या के पास ही पावा स्थित होना चाहिए।

दिगम्बर साहित्य में पावा सम्बन्धी विवरण की दृष्टि से सर्वप्रथम जिनसेन कृत 'हरिवंश पुराण'[1] (७८३ ई०) का क्रम आता है। इसके अनुसार पावा नगरी में निर्वाण के पश्चात् दीवाली मनायी गई थी। उसी समय से भारत में प्रतिवर्ष उक्ततिथि पर दीवाली उत्सव मनाने की प्रथा चली, जो अज्ञानरूपी अन्धकार से मुक्त होकर केवलज्ञान की ओर आत्मयात्रा है। इसमें श्रेणिकादि राजाओं द्वारा निर्वाण कल्याणक दृश्य के अवलोकन को भी चर्चा है। परन्तु डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[2] का मन्तव्य है कि यह असावधानीवश की गई एक ऐतिहासिक भूल है। इतिहास प्रमाणित करता है कि श्रेणिक (बिम्बसार) का देहान्त महावीर के निर्वाण से कम से कम पाँच वर्ष पूर्व हो गया था।

जटासिंह नन्दि या जटाचार्य कृत 'वरांगचरित'[3] (सातवीं शताब्दी) में अन्य तीर्थंकरों के जन्म एवं निर्वाणस्थलों के वर्णन के प्रसङ्ग में महावीर की निर्वाणस्थली पावा का वर्णन है—

---

१. जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य संततं समन्ततो भव्यसमूह संततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥१५॥
ज्वलत्प्रदीपपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैदीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावानगरीं समंततः प्रदीप्तिनाकाश तला प्रकाशते ॥१९॥
तथैव च श्रेणिक पूर्वभूभुजा, प्रवृत्या कल्याणमहं सहप्रजा।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथा यथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ॥२०॥
हरिवंश पुराण—जिनसेन, सर्ग ६६/१९, २०

२. डॉ० चौधरी, गुलाबचन्द्र, भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि पावा, प्राचीन पावा, पृ० ४५–७०, गोरखपुर, सन् १९७३।

३. कैलासशैले वृषभो महात्मा चंपापुरे चैवहि वासुपूज्यः।
दशार्हनाथः पुनरुर्जयन्ते पावापुरे श्रीजिनवर्धमानः ॥९१॥
वरांगचरित—जटासिंह नन्दी

दिगम्बर ग्रन्थ 'कषाय पाहुड' को प्रसिद्ध टीका जयधवला[1] को गाथा ३०-३१ में भी पावा विषयक वर्णन प्राप्त होता है—

याच्छा पावाण्येर कत्तियमासस्स किण्ह चौधसि ॥

जिनसेन शिष्य गुणभद्र[2] (९वीं सदी उत्तरार्ध) कृत उत्तरपुराण में पावापुरी में महावीर के निर्वाण का उल्लेख है।

अज्ञातकर्तृक प्राकृत ग्रन्थ (निर्वाण भक्ति[3]) में, जिसे विद्याधर जोहरापुरकर ने प्रभाचन्द्र और आशाधर के काल के मध्य की १२वीं-१३वीं शताब्दी की रचना माना है, पावा में महावीर के निर्वाण होने का उल्लेख है।

मदनकीर्ति (१३वीं सदी) ने 'शासन चतुस्त्रिशिका'[4] में पावा में महावीर की चरण प्रतिमा का इस प्रकार वर्णन किया है। जिनको तिर्यंच भी भक्तिपूर्वक अपनी वाणी से नमस्कार करते हैं और जिनके दोनों चरणों के दर्शन से भव्य जीवगति दुर्गति को नहीं प्राप्त होते एवं पावापुर में जिनके दोनों चरणकमल इन्द्र द्वारा सम्पूजित हैं, वे पापों को नष्ट करने वाले जिनेन्द्र, दिगम्बर शासन की रक्षा करें।

काष्ठासंघीय माथुरगच्छ के पुष्करगण के भट्टारक गुणकीर्ति के अनुज एवं महाकवि रइधू के गुरु भट्टारक यशःकीर्ति (१४२४-१४२३ के मध्य)

---

१. जयधवला

२. इत्यन्ततीर्थनाथोऽपि विहृत्य विषयान् बहून् ॥५०८॥
क्रमात् पावापुरं प्राप्य मनोहर वतान्तरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणि शिलातले ॥५०९॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिक पक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥५१०॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यान परायणः।
कृतत्रियोगसंरोधः समुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥५११॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥५१२॥
उत्तरपुराण—गुणसेन ७६/५०८–५१२

३. अट्ठावयाम्मि उसहो चंपाए वासुपूज्याजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥ १ ॥
—निर्वाण भक्ति

की रचना 'जिणरात्ति'[1] के अन्त में उल्लेख है कि महावीर ने ३० वर्ष तक विहार कर पृथ्वी पर अनिन्घ धर्म को प्रकट किया, फिर पावापुर में आत्मध्यान करके वे मुक्त हुए। उन्होंने अवशिष्ट चारघाती कर्मों का विनाश करके सिद्धालय में निवास किया, तब अमावस्या को दीपावली की गई और चतुर्निकाय देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

कवि मेघराज कृत 'तीर्थवन्दना'[2] (१६वीं शती) एवं भट्टारक अभयनन्दि शिष्य सुमति सागर (१६वीं शती) कृत 'तीर्थ जयमाला'[3] इन दोनों गुजराती रचनाओं में पावा का महावीर के नगर के रूप में उल्लेख है।

भट्टारक सुमतिसागर की अन्य कृति 'जम्बूद्वीप जयमाला'[4] में भी जैनतीर्थों के वर्णन के क्रम में पावा के विषय में उल्लेख है।

काष्ठासंघ नन्दीतटगच्छ के ही भट्टारक रत्नभूषण के शिष्य जयसागर (१७वीं सदी) ने गुजराती रचना तीर्थंजयमाला[5] में पावा का वर्णन किया है।

काष्ठासंघ नन्दीतटगच्छ के भट्टारक श्री भूषण के शिष्य ज्ञानसागर (१५७८-१६५०) की प्रमुख गुजराती रचना 'सर्वतीर्थवन्दना' में पावापुर का उल्लेख प्राप्त होता है—

---

१. दह–तिउण वरिसि विहरिवि जिणेन्दु,
पयड़ेवि धम्मु महियालि अणेन्दु,
पावापुर वर मज्झिहि जिणेसु,
वेदिग सह उज्झिवि मुत्ति ईसु ॥
चउसेसह कम्मह करि विणासु,
संपत्तउ सिद्ध णिवास-वासु।
देवाली अम्मावस अलेउ,
महो देउ बोहि देवाहिदेउ ॥
चउदेव-णिकायह अइमणुज्ज
आइवि विरइय णिव्वाणपुज्ज ॥

२. सिद्धवीर जिनंद नगर कहु पावापुरीए ॥२॥

३. सुपावापुरि वर वीर मुनीन्द्र ॥६॥

४. पावापुरि महामुनि जिन कहिया ॥३७॥

५. सुवासपूज्य चंपापुरि देव। वड्ढमाण पावापुरि सेव।
सुमिरनारि छे नेमिजिणंद। पूजो भवियण परमानन्द ॥७॥

मागधदेश विशाल नयर पावापुर जाणो।
जिनवर श्रीमहावीर तास निर्वाण बखाणो ॥
अभिनव एक तलाव तस मध्ये जिनमंदिर।
रचना रचित विचित्र सेवक जास पुरंदर ॥
जिनवर श्रीमहावोर तिहाँ कर्म हणि मोक्षे गया।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति सिद्ध तणु पद पामया ॥५॥

मराठी जैन साहित्य के प्राचीनतम लेखकों में मान्य गणकीर्ति (१५वीं सदी उत्तरार्द्ध) ने गद्य रचना 'तीर्थवन्दना' के ६७वें परिच्छेद में तीर्थक्षेत्रों का वन्दन किया है। इसमें पावा का उल्लेख इन शब्दों में किया गया है :

त्या सिद्धासि नमस्कारु माझा पावापुर नगरि श्री वर्धमान चौवोसवा तिर्थंकरु सिद्धिसि पावले। त्या सिद्ध क्षेत्रासि नमस्कारु माझा ॥

मूलसंघ–बलात्कारगण की लातूर शाखा के भट्टारक अजितकोर्ति के शिष्य चिलणा पण्डित (१६५१-१६७०) ने मराठी रचना 'तोर्थवन्दना' में पावापुरी का इस प्रकार चित्रण किया है—

महोपति सिद्धार्थ कुण्डलपुरो।
वीरजन्मले त्रिसल्यो उदरी ॥
तीसवर्ष कुमार दीक्षा सिकारी।
पावापुरी मुक्ति पद्मसरोवरी ॥७॥

दिगम्बर प्रतिक्रमण पीठिका में पावा के विषय में उल्लिखित है कि उर्ध्वाधस्तिर्यग्लोके सिद्धयतनानि नमस्करोमि सिद्धनिषिद्धका अष्टापद-पर्वते, सम्मेत् उर्जयन्ते चम्पायां पावायां मध्यमायां हस्तिपालिका मण्डपे नमस्यामि।

महावीर के जीवन चरित के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में निम्न मुख्य बिन्दुओं पर मतभेद है—

प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय वे विवाहित थे अथवा नहीं, उनके माता-पिता जीवित थे अथवा नहीं, उनकी माता त्रिशला का राजा चेटक से सम्बन्ध, महावीर की निर्वाण-तिथि आदि। प्रव्रज्या के समय दिगम्बर परम्परा उन्हें अविवाहित मानती है जबकि अन्य मत में प्रव्रज्या के समय वे एक पुत्री के पिता थे। ३० वर्ष की आयु में प्रव्रज्या के समय दिगम्बर परम्परानुसार उनके माता-पिता जीवित थे, जबकि श्वेताम्बर परम्परा

के अनुसार २८ वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। अपने भाई के अनुरोध पर उन्होंने २ वर्ष और गृहवास करना स्वीकार किया था। दिगम्बर परम्परा त्रिशला को गणराज्य वैशाली के राजा चेटक की पुत्री मानती है तो श्वेताम्बर परम्परा उन्हें चेटक की बहन मानती है। निर्वाण-तिथि के विषय में भी दोनों में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा में महावीर की निर्वाण-तिथि कार्तिक कृष्णा अमावस्या मानी जाती है जबकि दिगम्बर परम्परा इसे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी मानती है।

●

# बौद्ध साहित्य में पावा

समग्र भारतीय साहित्य में तत्कालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराओं एवं गतिविधियों का जैसा व्यवस्थित विवरण बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र नहीं। बौद्ध साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें गौतम बुद्ध के जीवन एवं उपदेशों के साथ-साथ समकालीन धर्म गुरुओं, राज्याध्यक्षों, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों का चित्रण है। इस चर्चा में हम पालित्रिपिटकों, अट्ठकथाओं और सिंहली बौद्ध साहित्य में प्राप्त महावीर एवं पावा विषयक उल्लेखों पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मध्यदेश की, जिसमें पावा स्थित है, भौगोलिक स्थिति पर विचार किया जा रहा है। पालित्रिपिटक[1] में मध्यदेश को जम्बू का सर्वश्रेष्ठ प्रदेश बताया गया है। बुद्ध ने जम्बू द्वीप में जन्म लेने का संकल्प करने के पश्चात् मध्यदेश में ही जन्म लेना उचित समझा। जातक अट्ठकथाओं में इस प्रकार उल्लिखित है कि किस प्रदेश में बुद्ध जन्म लेते हैं इस पर विचार करते हुए उन्होंने मध्यदेश को देखा।

बौद्ध साहित्य में मध्यदेश की सीमाओं का विवरण सर्वप्रथम विनयपिटक[2] से प्राप्त होता है। इसके पूर्व में कजंगल नामक निगम, पूर्वदक्षिण में सलिलवती नदी, जो मेदिनीपुर जनपद में होकर बहती है, दक्षिण में सेतकण्णिक नामक निगम और पश्चिम में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम बताया गया है। उत्तरदिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है उसके बाद सीमान्त देश। जातक अट्ठकथा[3] से भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. जातक अट्ठकथा—(हि०) प्रथम भाग, पृ० ३८, सं० भि० धर्मरक्षित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५१।

२. विनयपिटक (हि०), पृ० २१३, सं० पं० सांकृत्यायन राहुल, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९३५।

३. जातक अट्ठकथा (हि०), प्रथम भाग, सं० भि० धर्मरक्षित, ज्ञानपीठ काशी १९५१।

"मज्झिमदेसो नाम पुरत्थिमदिसाय **कजंगलं** नाम **निगमो**, तस्स अपरेन महासाला, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, पुब्बदक्खि-

आधुनिक विद्वानों ने बुद्धकालीन मध्यदेश के सीमा सम्बन्धी निगमों, नगरों व नदियों की पहचान का प्रयत्न किया है। मध्यदेश के पूर्व में स्थित कजंगल नामक निगम की पहचान कनिंघम[1] ने ह्वेनसांग की यात्रा में वर्णित क—चु—वेन् कि—लो' या कि—चु—खि—लो' या वर्तमान कंकजोल नामक स्थान से की है। यह बिहार प्रदेश के संथाल परगना जनपद में राजमहल से १८ मील दक्षिण में स्थित है। इसकी पुष्टि पं० राहुल सांकृत्यायन[2] ने की है।

मध्यदेश के दक्षिण-पूर्व में स्थित सलिलवती नामक नदी को वर्तमान सिलई नदी से समीकृत किया गया है। यह हजारीबाग और मेदिनीपुर जनपद से होकर बहती है।[3] मध्यदेश के दक्षिण में सेतकण्णिक नामक निगम की पहचान करने में कोई विद्वान् सफल नहीं हो पाया है। पं० राहुल सांस्कृत्यायन ने भी इसके सम्बन्ध में केवल यह कहा है कि यह हजारीबाग जनपद में कोई स्थान था।[4] मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर थूण नामक ब्राह्मण ग्राम स्थित है। सुरेन्द्रनाथ मजुमदार[5] ने इसे स्थाणोश्वर या वर्तमान थानेश्वर (जनपद करनाल) से समीकृत करने का प्रयास किया है जिसकी पुष्टि विमलचरण लाहा[6] तथा राहुल सांकृ-

---

णाय दिसाय **सललवती** नाम **नदी**, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, दक्खिणायदिसाय **सेतकण्णिकं** नाम **निगमो**, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, पच्छिमाय दिसाय **थूनं** नाम **बाह्मणगामो**, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, उत्तराय दिसाय **उसीरद्धजो** नाम **पब्बतो**, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झेति।"

१. ए० कनिंघम, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ७२३, चक्रवर्ती, चटर्जी एडण कम्पनी, कलकत्ता १९२४।

२. बुद्धचर्या (हि०), सांकृत्यायन राहुल, पृ० २७१, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस १९५२।

३. विनय पिटक—(हि०) पं० राहुल सांकृत्यायन, पृ० २१३, महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी १९३५।

४. वही, पृ० २१३।

५. सं० मजुमदार, एस० एन०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया—पृ० ४३, टिप्पणी। चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कम्पनी कलकत्ता १९२४।

६. लाहा, विमलचरण–ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज़्म, पृ० २, केगनपालट्रेंच ट्रबुनर एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९३२।

त्यायन[1] ने भी की है। पालिविवरण के अनुसार मध्यदेश की उत्तरी सीमा पर उशीरध्वज पर्वत अवस्थित था। विमलचरण लाहा[2] ने इसे हरिद्वार के समीप कनखल के उत्तर में उशीरगिरि नामक पर्वत से मिलाया था, इसकी पुष्टि राहुल सांकृत्यायन[3] ने भी की है।

इसप्रकार विभिन्न बौद्ध विद्वानों एवं चीनी यात्रियों के मत के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पालित्रिपिटक में उल्लिखित मज्झिमदेश, उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक तथा पूर्व में अंग जनपद से लेकर पश्चिम में कुरुराष्ट्र तक फैला था। जातक अट्ठकथाओं के अनुसार मध्यदेश का विस्तार लम्बाई में तीन सौ योजन, चौड़ाई में ढाई सौ योजन और घेरे में ९ सौ योजन है।[4]

इसके पश्चात् बौद्ध साहित्य में वर्णित पावा की भौगोलिक स्थिति तथा यहाँ उपलब्ध पावा और महावीर के निर्वाण सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं:—

सुत्तनिपात[5] के 'परायणवग्ग' के अनुसार पावा श्रावस्ती से कुशीनगर और कुश नगर से वैशाली आने-जाने वाले मुख्य मार्ग पर स्थित था। सुमंगल-विलासिनी[6] जो पालित्रिपिटक में वर्णित तथ्यों की व्याख्या करती है। इसमें महापरिनिव्वाणसुत्त में वर्णित भगवान् की राजगृह से कुशीनगर यात्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार राजगृह से कुशीनगर तक की दूरी ३ गव्यूति ( १२ मील ) बताई गई है ( पावा नगर तो तीणि गावुतानि कुसीनारा नगर )॥

मज्झिमनिकाय के 'सामगाम सुत्त'[7] से महावीर के निर्वाणोपरान्त

---

१. बुद्धचर्या ( हि० ) पृ० १ व ३७१, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, द्वि० सं० १९५२।

२. लाहा, विमलचरण, ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २।

३. बुद्धचर्या ( हि० ), पृ० ५४६।

४. जातक अट्ठकथा ( हि० ), प्र० भा०, पृ० ३९, सं० भिक्षु धर्मरक्षित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१।

५. सुत्तनिपात–परायणवग्ग ( हि० ), पृ० ४३२, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५१ ई०।

६. सुमंगलविलासिनी, दीघनिकाय अट्ठकथा—द्वि० भा०, टीका महेश तिवारी, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना १९७४।

७. मज्झिमनिकाय ( सामगाम सुत्त ) ३/१/४, ( हि० ), पं० सांकृत्यायन, राहुल, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, प्र० स० १९३४।

जैन श्रमणों में उत्पन्न कटुता, कलह, ईर्ष्या तथा प्रतिद्वन्द्विता का ज्ञान होता है। जब बुद्ध सामगाम में वर्षावास कर रहे थे अपना वर्षावास समाप्त कर चुन्दश्रमणोद्देश्य पावा से वहाँ आया। आनन्द को उसने महावीर के निर्वाण और जैनश्रमणों के परस्पर द्वेष और लड़ाई की सूचना दी। उनके अनुयायी दो दलों में विभक्त होकर ऐसे विवाद कर रहे थे मानो परस्पर युद्ध हो रहा हो। चुन्द एवं आनन्द दोनों ने बुद्ध के पास जाकर यह सूचना दी। इसी प्रसंग में आनन्द ने अपने मन की शंका प्रकट की कि महावीर के परिनिर्वाण के बाद जैसे उनके भिक्षुओं में कलह व प्रतिद्वन्द्विता चल रही है वैसे ही आपके न रहने पर अपने ( बौद्ध ) संघ में न चलने लगे।

दीघनिकाय के 'पासादिक सुत्त'[1] से भी पावा में महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके अनुयायियों में फूट की झलक मिलती है। उस समय बुद्ध शाक्यदेश में वधज्जा नामक आम्रवन प्रासाद में विहार कर रहे थे जब चुन्द और आनन्द ने उक्त वृत्तान्त बताया। इस अवसर पर बुद्ध ने चुन्द को उपदेश दिया—जहाँ शास्ता ( गुरु ) सम्यक् बुद्ध नहीं होता, धर्म दुराख्यात होता है। अतः चुन्द ! जिस धर्म का मैंने बोधकर उपदेश किया है उसे सभी मिल-जुलकर सम्यक रूप से समझें, बूझें, विवाद न करें।

दीघनिकाय' के 'संगीति परिपाप सुत्त'[2] के अनुसार महावीर के निर्वाण के पश्चात् ५०० भिक्षुओं सहित मल्लदेश में चारिका करते हुए पावा पहुँचकर बुद्ध ने कम्मरिपुत्र के आम्रवन में विहार किया। पावा के मल्लों ने नवनिर्मित उन्नति ( उन्मतक ) संस्थागार का उद्घाटन करने हेतु उनसे निवेदन किया। बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ सभागार में पधारे। धर्मकथा द्वारा उन्होंने पावावासी मल्लों को समुत्तेजित एवं सम्प्रहर्षित किया। जब मल्ल संस्थागार से चले गये तब बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को शान्त देखकर सारिपुत्र को धर्मकथा सुनाने हेतु आमंत्रित किया। सारिपुत्र ने भिक्षुओं को उपदेश दिया एवं सूचित किया कि निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र पावा में अभी-अभी कालगत हुए और निग्गण्ठों में फूट पड़ गई और वे दो भागों

---

१. दीघ निकाय ( पासादिक सुत्त ) ३/६ ( हि० ) पं० सांकृत्यायन राहुल व भिक्षु जगदीश कश्यप, भारतीय बौद्ध विहार परिषद्, लखनऊ, द्वि० सं० १९१९।

२. वही, संगीति परिपाप सुत्त ३/१० वही

में बँट गये। किन्तु उन्हें अर्थात् बौद्धभिक्षुकों को कलह रहित होकर बौद्धसंघ को चिरस्थायी बनाना चाहिये। बुद्ध ने इस उपदेश के लिए सारिपुत्र की प्रशंसा की।

'माज्झिम निकाय' के सामगामसुत्त, 'दीघनिकाय' के 'पासादिक सुत्त' और 'परिपापसुत्त' में लगभग एक ही तथ्य वर्णित है। महावीर के पश्चात् उनके अनुयायियों में परस्पर कलह की स्थिति उत्पन्न हो गई थी एवं पावा में उपस्थित बुद्ध को इसकी सूचना आनन्द से मिली और आनन्द को पावा के चुन्द से। तृतीय प्रकरण कुछ स्वतन्त्र है। इसमें महावीरानुयायियों में कलह को देखते हुए अपने संघ को बिखेरने से रोकने हेतु बुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश दिलवाया था।

'सुत्तपिटक' के 'खुद्दक निकाय की पुस्तक 'उदान'[1] से बुद्धकालीन पावा में अजकलापक या आजकपालिय चैत्य में अजकलाप नामक भयंकर यक्ष के वास का पता चलता है। वह नगरवासियों को निरन्तर आतंकित किया करता था, उसे नित्य बकरे की बलि अर्पित की जाती थी। बुद्ध पावा में अजकलापक या अजकपालिय चैत्य में विहार कर रहे थे। इस यक्ष ने उन्हें भयभीत करने का प्रयास किया था, परन्तु बुद्ध ने अपने प्रभाव से उसे विनीत कर दिया था। डा० आर० एन० मिश्र[2] ने अपनी पुस्तक 'यक्ष कल्ट एण्ड आइकनोग्राफी' में इस प्रकरण का विस्तार से विवेचन किया है।

उल्लेखनीय है कि 'उदान'[3] के अनुसार अजकलापक चैत्य पाटलिग्राम में था जबकि इसकी अट्ठकथा में इसे पावा में स्थित बताया गया है। 'उदान' के 'अजकलापक सुत्त' में यह विवरण इन शब्दों में मिलता है—

"एके समयं भगवा पावायं विहरति। अजकलापके चेतिये अजकलापकस्स यक्खस्स भवने। तेन खो पन समयेन भगवा स्तन्धकरातिमि सायं अक्खोकासे निसिन्नो होति, देवोक एकमेव फुसायति। अथ खो अजकलापको पक्खो भगवतो भयं छम्मि तत लोभहंसं उप्पाहेतु कामोयेन

---

१. उदान ( हि० ) भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, बुद्धाब्द २४८२।

२. यक्ष कल्ट एण्ड आइकनोग्राफी, पृ० ११४-११५, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, प्र० सं० १९८१।

३. उदान अट्टकथा (हि०), ( अजकलापक सुत्त ), भिक्ष् जगदीश काश्यप, नवनालन्दा, महाविहार नालन्दा, पटना, १९५९।

भगवा तेनु पसङ्कमि उपसङ्कमित्वा भगवतो अविदूरे तिक्खतु "अक्कुलो बक्कुलो" ति अक्कुल पक्कुलिकं अकासि एसो ते समण पिसाचो ति। अथ खो भगवा एतमत्थं भिदित्वा तापं वेलायं इमं उदानं उदानेसि। यदासकेसु धम्येसु पारगू होति ब्राह्मणो अथ एतं पिसाच च पक्कुलऽबातिवत्त-तीति ॥"

इसी आधार पर मल्लसेकर[१] ने भी इसे पावा में ही स्थित माना है। भरत सिंह उपाध्याय[२] एवं कृष्णदत्त वाजपेयी[3] ने इसका समर्थन किया है।

भौगोलिक अध्ययन की दृष्टि से 'महापरिनिव्वाणसुत'[४] महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें महापरिनिव्वाणपूर्व राजगृह से कुशीनगर की यात्रा तथा मार्ग में पड़ने वाले पड़ावों का विवरण प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के विवरण में इतनी मौलिकता है कि प्रतीत होता है कि वास्तविक यात्रा के आधार पर वर्णन किया गया है। विशाल भिक्षु संघ के साथ पावा पहुँचकर चुन्द कर्मकार के आम्रवन में बुद्ध द्वारा विहार करने पर चुन्द उनके समीप पहुँचा और अपने घर आहार ग्रहण करने हेतु आमन्त्रित किया। बुद्ध द्वारा चुन्द के घर सूकर-मद्दव ग्रहण करने का उल्लेख है। भोजनोपरान्त बुद्ध को रक्तातिसार की बीमारी हुई। इसी व्याधि में वे भिक्षु संघ के साथ कुशीनगर के लिए प्रस्थान किये थे।

सुमङ्गलविलासिनी[५] से बुद्ध के महापरिनिव्वाण के पूर्व पावा-विहार का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसमें भी बुद्ध द्वारा चुन्द कर्मकार के निवास पर बुद्ध के भोजन ग्रहण करने का विवरण है। यहाँ उल्लेख है कि सूकरमार्दव एक विशेष प्रकार की रसायन विधि द्वारा निर्मित भोजन था

---

१. मल्लसेकर, जी० पी०, डिक्शनरी आव पालिप्रापर नेम्स, पृ० १९३, लन्दन, १९३८।

२. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३१२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग प्र० सं० १९६१।

३. प्रो० वाजपेयी, के० डी०, लोकेशन आव पावा, पृ० ५६।

४. दीघनिकाय (महापरिनिव्वाणसुत्त) हि०, पं० राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० १२२-१४०, भारतीय बौद्धविहार परिषद्, लखनऊ, द्वि० सं० १९१९।

५. सुमंगल विलासिनी (दीघनिकाय अ० क०) टोका प्रो० महेश तिवारी, द्वि० भा०, पृ० २७५, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, १९७४।

जिसे बुद्ध ने अपने अन्तिम समय में ग्रहण किया था। इस प्रसङ्ग में उक्त ग्रंथ का यह उद्धरण द्रष्टव्य है—

सूकर मद्दवं ति नाति तरुणस्स नाति जिण्णस्स एक जेट्ठक सूकरस्स पवत्तमंसं। तं किर मुदुचेव सिनिद्धञ्च होति। तंपटिया पापेत्वा साधुकं पचापेत्वति अत्थो। एके भणन्ति—"सूकरमद्दवं तिपन मुदु ओदनस्स पञ्च गोरसपूस पाचन विधानस्स नामेतं, यथागवपानं नाम पाक नामं ति। केचि भणन्ति—सूकरमद्दवं नाम रसायन विधि। तंपन रसायन सत्थे आगच्छति तं चुन्देन—'भगवतो परिनिव्वान न भवेप्पा ति रसायनं पटिपत्तं' ति। तत्थपन द्विसहस्स दीप परि वारेसु चतूसु महादीपेसु देवता ओजं पक्खिपिंसु ॥

मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा पपंचसूदनी[1] के अनुसार निर्वाण के कुछ समय पूर्व तक महावीर नालन्दावासी थे। वे वहाँ से पावा चले आये जहाँ कालगत हुए। नालन्दा में बौद्धों की प्रधानता थी। इसी प्रसङ्ग में किसी के पूछने का उल्लेख है कि महावीर तो नालन्दावासी थे, पावा में कैसे कालगत हुए ? और बताया गया है कि सत्यलाभी उपालि गृहपति की दस गाथाओंमें बुद्ध के गुणों को सुनकर उन्होंने (महावीर ने) गरम खून उगल दिया। बीमारी की हालत में उन्हें पावा ले जाया गया वहाँ वे निर्वाण को प्राप्त हुए।

महान बौद्ध धर्मानुयायी एवं बौद्ध धर्म के प्रचारक स्थविर खण्डसुमन की जन्मस्थली पावा ही थी, जिसकी पुष्टि भरत सिंह उपाध्याय[2] ने की है। बौद्ध साहित्य में पावा के विषय में यह एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ती है।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली में द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ था, जिसमें भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों

१. मज्झिम निकाय (अ० कथा) पपंचसूदनी, सं० डा० टाटिया, नथमल, खण्ड ४, पृ० ३४, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, पटना, १७७५।
"ननु अयं नातपुत्तो नालन्दा वासिकौ। सौ कस्मा पावायां कालकत्तोति। सो किर उपालिना गाहापत्तिना। पटिवद्ध सच्चेन दसहि गाथाहि भाषिते बुद्ध गुणे सुत्वा उण्ह लौहितं छड्डेसि। अथ नं अफासुकं गहेत्वा पावां आगमंसु। सो तत्थ कालं अकासि।

२. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३२२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं० १९६१।

के बौद्ध भिक्षु एकत्रित हुए थे, जिसमें पावा के भी भिक्षु उपस्थित थे जैसा कि सिंहली ग्रंथ 'महावंस'[1] से ज्ञात है :—

१७. थेरी उग्गम्य नभसा, गन्त्वा कोसम्बियं ततो।
पावेय्यकावन्तिकानं, भिक्खूनं सन्तिकं लहुं।
१८. पेसेसि दूते तु सयं गन्त्वा होगङ्गम्हिह पब्बतं।
आह सम्भूत तथेरस्स, न सव्वं साणवासिनो।
१९. पावेय्यका सट्ठि थेरा, आसी तावन्तिका पि च।
महाखीणासता सब्बे, अहोगङ्गम्हिह ओतरु॥

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य में पावा-विषयक विवरण बहुलता से प्राप्त होता है और बुद्धकाल में पावा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

पावा के विषय में संस्कृत बौद्ध साहित्य[2] से भी विस्तृत जानकारी मिलती है, इसके सम्बन्ध में डा० अगने लाल ने विस्तार से वर्णन किया है।

जैन एवं बौद्ध साहित्य में वर्णित कुछ तथ्यों में अन्तर दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ बौद्ध साहित्य में वर्णित पावा के मल्ल एवं कुशीनारा के मल्ल इस प्रकार की दो शाखाओं का जैन साहित्य में कहीं उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इसके विपरीत कल्पसूत्र इत्यादि जैन ग्रन्थों में नवमल्लई, नवमल्लकि या नवमल्ल राजाओं का उल्लेख है। साथ ही बौद्ध ग्रंथों में केवल एक ही पावा का उल्लेख है चाहे वह प्रसिद्ध व्यापार मार्ग पर स्थित हो अथवा महावीर के निर्वाण से सम्बन्धित हो या बुद्ध तथा उनके शिष्यों या मल्लों के संस्थागार से। बौद्ध ग्रन्थों में मल्लों की पावा या पावा के मल्लों का बहुधा उल्लेख आता है। अधिकांश जैनग्रन्थों में निर्वाण भूमि का नाम पावा मात्र दिया गया है। कुछ ग्रन्थकारों ने पावा मज्झिमा या अपापा नाम भी दिया है। कुछ मज्झिमा को पावा से भिन्न बताते हैं। कुछ जैनग्रन्थों में पुराणों के तीर्थ-माहात्म्य की वर्णन शैली में सभी घटनाओं का उल्लेख किया गया है। जैन ग्रन्थों में एक ही ग्रंथ में एक ही वृत्तान्त दो स्थलों पर अलग-अलग रूप में वर्णित है। कल्पसूत्र में

---

१. महावंस-व्या०, वासुदेव श्रीधर, पृ० १२४-१२५, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, पटना, १९७१।

२. डा० अग्नेलाल, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, पृ० ३८, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९६८।

एक स्थान पर पावा को हस्तिपाल राजा की पावा कहा गया है तो दूसरे स्थान पर मज्झिमा पावा कहा गया है ।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जैनग्रंथों में बौद्धग्रन्थों जितना व्यवस्थित विवरण नहीं है । फिर भी इतना सत्य प्रतीत होता है कि ये विवरण पावा को मल्लों से सम्बद्ध और कुसीनगर के समीप स्थित होने की ओर संकेत करते हैं ।

●

तृतीय अध्याय

# मल्लराष्ट्र

उत्तरी मल्लराष्ट्र बुद्धकाल में मध्य देश में स्थित १६ महाजनपदों में से एक था जिसकी राजधानी पावा थी। अतः पावा पर विचार करने के पूर्व मल्लराजवंश एवं राष्ट्र का अध्ययन आवश्यक है। इस क्रम में हम सर्वप्रथम मल्ल शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे।

## व्युत्पत्ति

मल्ल शब्द की व्युत्पत्ति अभिधान राजेन्द्र[१] में इस प्रकार दी गई है—मल्लते धारयति बलमिति (मल्ल + अच्) बाहुयोधौ इत्यमरभरतौ। माल इति भाषा। संस्कृत-हिन्दी कोश[२] के अनुसार मल्ल से अच् प्रत्यय होकर मल्ल बनता है, जिसका अर्थ हृष्ट-पुष्ट, बलशाली, व्यायामशील है।

विभिन्न ग्रंथों में मल्लशब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। 'पाणिनि अष्टाध्यायी'[३] में मल्ल शब्द का अर्थ 'सन्निमुष्ठौ' सूत्र से 'मल्ल की मुष्ठियों की पकड़' (अहो मल्लस्य संग्राह) बताया गया है।

पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा[४] में मल्ल का अर्थ बाहु-योद्धा माना गया है। 'भगवतीसूत्र'[५] में इसका अर्थ बलधारण करने वाला कहा गया है—मल्ल (सक०) धारणे। 'पातंजल महाभाष्य'[६] में मल्ल और मुष्टिक

---

१. अभिधान राजेन्द्र, सं० विजयराजेन्द्र सूरि, षष्ठम भाग, पृ० १५७, रतलाम, म० प्र० १९१३।

२. आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ०७८१, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३।

३. अष्टाध्यायी, पाणिनि, सं० अग्रवाल, वी० एस०, पृ० १६२, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस।

४. धातुपाठ समीक्षा पाणिनि, पृ० ३५५, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८४-८५।

५. भगवती सूत्र ९/३३, जैनभवन, पी० २५, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७, १९८०।

६. महाभाष्य पातंजल, सं० अभ्यंकर, एम० एम० के० वी०, खण्ड ३/३/३६/१४८, भाण्डारकर ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट पूना, ४, १९२७।

संग्रह का उल्लेख है। कुश्ती का आरम्भ दो मल्लों की परस्पर ललकार से होता है—मल्लोमल्लमाहषते। 'पाइअ सद्‌दमहण्णवो'[१] में मल्ल शब्द का अभिप्राय 'बाहुयोद्धा', कुश्ती लड़ने वाला पहलवान, भीत का अवस्तम्भन-स्तम्भ, छप्पर का आधारभूत काष्ठ एवं एक राजकुमार मिलता है। विश्व-कोष[२] के अनुसार मत्स्य अर्थात् लक्ष्य-भेद में प्रवीण और बलवान होने के कारण चन्द्रकेतु को मल्ल की संज्ञा दी गयी है।[३] डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी इसकी पुष्टि की है। बृहत्‌हिन्दी कोश[४] में मल्ल शब्द का अर्थ कुश्ती लड़ने वाला, पहलवान, एक प्राचीन व्रात्य, क्षत्रियजाति, प्राचीन जनपद, कपोल, पात्र आदि है। आदर्श हिन्दी-संस्कृतकोश[५] के अनुसार मल्ल का अर्थ प्राचीन जातिविशेष, महाबल, मांसल स्थूल-महाकाय होता है।

मल्ल शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थं पर विचार करने से प्रतीत होता है कि बलिष्ठ, पहलवान, व्यायामशील, कुश्ती लड़ने की निपुणता के कारण मल्लों ने अपनी पहचान बना ली थी, इसीलिए जिस क्षेत्र में वे निवास करते थे उसे मल्लक्षेत्र, मल्लभूमि एवं मल्लराष्ट्र आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। इस मल्लभूमि के अधिष्ठाता लक्ष्मण के कनिष्ठ पुत्र राजकुमार चन्द्रकेतु माने जाते हैं। इनका एक नाम मल्ल भी बताया जाता है।

इस प्रकार रामायणकाल में मल्लराष्ट्र की स्थापना हो चुकी थी। महाभारत में भी इसका उल्लेख है। बुद्धकालीन १६ महाजनपदों में यह सम्मिलित था। हिमालय की तराई में स्थित मल्ल राष्ट्र दो भागों में विभक्त था। एक का केन्द्र कुशीनगर और दूसरे का पावा था। कालक्रम की दृष्टि से मल्लराष्ट्र का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है—

(i) प्राग्बुद्ध युग

(ii) बुद्धयुग

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो, सं० पं० हरगोविन्ददास, पृ० ६७५, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ७, द्वि ० सं० १९६३।

२. विश्वकोश (हिन्दी), भाग १, सं० वसु, एन० एन०, कलकत्ता, १९२८।

३. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों, का इतिहास, ५२ पृ० गोरखपुर, १९४६।

४. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० १०५३, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस, द्वितीय संस्करण, १९५६।

५. आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोश, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७९।

**मल्लराष्ट्र-प्राग्बुद्धयुग—**

मल्लराष्ट्र की स्थापना के पूर्व यह क्षेत्र कोशल राज्य में था। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में विदेहराज जनक के काल के उत्तरभारत की राजनैतिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इन ग्रन्थों के अनुसार उत्तरभारत में विदेह के अतिरिक्त ९ महत्त्वपूर्ण राज्य थे[1]—

(१) गन्धार
(२) केकय
(३) मद्र
(४) उशीनर
(५) मत्स्य
(६) कुरु
(७) पंचाल
(८) काशी
(९) कोशल

वैदिक साहित्य से इन राज्यों की भौगोलिक सीमा पर प्रकाश नहीं पड़ता है। अतः इनकी भौगोलिक स्थिति जानने के लिए वेदों के पश्चात्तवर्ती साहित्य को अध्ययन का आधार बनाना होगा। रायचौधुरी[2] के अनुसार वस्तुतः वर्तमान अवध ही प्राचीन कोशल राज्य था। उत्तर में इसकी सीमा नेपाल की पहाड़ियों की तलहटी तक फैली हुई थी। पूर्व-दिशा में सदानीरा नदी इसे विदेह से अलग करती थी। सदानीरा किसी समय आर्य जगत की पूर्वी सीमा थी इसके दूसरी ओर विस्तृत जंगल था। ब्राह्मण लोग इस प्रदेश में नहीं जाते थे। परन्तु माधव विदेह की इस प्रदेश पर विजय के पश्चात् यहाँ विदेह के समृद्ध राज्य की स्थापना हुई थी। माधव विदेह वृत्तान्त से स्पष्ट है कि कोशल-राज्य पर ब्राह्मणों का आधिपत्य विदेह से पूर्व हुआ था। कोशल के दक्षिण में सर्पिका अथवा स्यन्दिका नामक नदी थी और पश्चिम में गोमती, जो नैमिषारण्य से होकर बहती थी। यह नदी कोशल तथा पांचाल सहित अन्य राज्यों के बीच सीमा रेखा का कार्य करती थी। वैदिक साहित्य में कोशल के किसी

---

१. रायचौधुरी, एच० सी०, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ६२-६३।

नगर का उल्लेख नहीं है। रामायण काल में कोशल की राजधानी अयोध्या सरय के तट पर बसी हुई थी।

बुद्ध युग के पूर्व भी मल्लराष्ट्र भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध था। सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण में मल्ल जाति एवं मल्लराष्ट्र की उत्पत्ति एवं इसकी भौगोलिक स्थिति के विषय में विस्तार से सूचना प्राप्त होती होती है। इसमें अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् श्रीराम द्वारा अनुज पुत्रों को मण्डलीय राज्य देने के सम्बन्ध में लक्ष्मण से मन्त्रणा करने का उल्लेख है। राम कहते हैं कि अपने दोनों कुमार अंगद एवं चन्द्रकेतु धर्म के तत्त्व को समझने वाले और राज्य-शासन के लिए अपेक्षित दृढ़ता से युक्त पराक्रमी हैं। इनका राज्याभिषेक करने की मेरी इच्छा है। ऐसा देश बताओ जो रमणीय और बाधा रहित हो जहाँ पर ये दोनों धनुर्धारी आनन्द से विचरण कर सकें। वह ऐसा प्रदेश हो जहाँ न तो राजा को पीड़ा और न आश्रितों का विनाश हो। हे सौम्य! ऐसा देश बतलाओ जिसको इन राजकुमारों को देकर हम अपराधी न कहलायें।[1]

इसी प्रसङ्ग में भरत ने अपनी मन्त्रणा में अंगद के लिए कारुपथ तथा चन्द्रकेतु के लिए चन्द्रकान्ता नामक नगर के निर्माण का सुझाव दिया[2] और चन्द्रकेतु जो मल्ल के समान हृष्ट-पुष्ट थे उसके लिए

---

१. इमौ कुमारौ सौमित्रे तव धर्मविशारदौ।
अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च राज्यार्थे दृढविक्रमौ ॥२॥
इमौ राज्येऽभिषेक्ष्यामि देशः साधु विधीयताम्।
रमणीयो ह्यसम्बाधो रमेतां यत्र धन्विनौ ॥३॥
न राज्ञां यत्र पीडा स्यान्नाश्रमाणां विनाशनम्।
स देशो दृश्यतां सौम्य नापराध्यामहे यथा ॥४॥
वाल्मीकि रामायण, उत्तर खण्ड, सर्ग १०२/२-४ गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६७।

२. तथोक्तवति रामे तु भरतः प्रत्युवाच ह।
अयं कारुपथो देशो रमणीयो निरामयः ॥५॥
निवेश्यतां तत्र पुरमङ्गदस्य महात्मनः।
चन्द्रकेतोः सुरुचिरं चन्द्रकान्तं निरामयम् ॥६॥
वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १०२, ५-६

मल्ल भूमि पर चन्द्रकान्ता नाम से विख्यात स्वर्ग की अमरावती नगरी के समान नगरी बसाई गई ।[1]

भरत एवं चन्द्रकान्त नगरी के विषय में श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण में एक और उल्लेख प्राप्त होता है कि राजकुमार चन्द्रकान्त के राज्याभिषेक के बाद भरत ने उनके सहायतार्थ चन्द्रकान्त नगरी में एक वर्ष से कुछ अधिक काल तक वास किया था, जब चन्द्रकेतु का राज्य दृढ़ हो गया था तो वे पुनः अयोध्या आकर श्रीराम के चरणों की सेवा करने लगे ।[2]

इसी तथ्य का डा० राजबली पाण्डेय[3] ने इन शब्दों में उल्लेख किया है—वाल्मीकीय रामायण से ज्ञात होता है कि कारुपथ के पूर्वोत्तर भाग को जहाँ चन्द्रकेतु की राजधानी चन्द्रकान्ता बसाई गई थी कालान्तर में मल्लभूमि कहा गया । चन्द्रकेतु महाबली थे, मल्लयुद्ध में निपुण थे अतः उन्हें मल्ल उपाधि से विभूषित किया गया है । निस्सन्देह मल्लभूमि या मल्लराष्ट्र के वे ही संस्थापक थे । क्षत्रिय मल्लजाति के वे ही पूर्वज थे । भारतीय इतिहास में एक ही मल्लभूमि या मल्लराष्ट्र है जो गोरखपुर देवरिया जनपद में है ।

महाभारत में मल्लों के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । अज्ञातवास-स्थलों के सन्दर्भ में अर्जुन द्वारा गिनाये गये देशों में मल्लराज्य सम्मिलित था ।[4] धृतराष्ट्र-संजय संवाद में तत्कालीन भारत के राज्यों के वर्णन में मल्लराज्य का उल्लेख आया है । भीष्मपर्व के छठवें अध्याय में भी आर्य

---

चन्द्रकेतोश्च मल्लस्य मल्लभूम्यां निवेशिता ।
चन्द्रकान्तेति विख्याता दिव्या स्वर्गपुरी यथा ॥९॥

१. वही, वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग० १०२/९

२. भरतोऽपि तथैवोष्य संवत्सरमतोऽधिकम् ।
अयोध्या पुनरागम्य रामपादावुपास्त सः ॥१४॥

३. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ५२-५३ गोरखपुर, १९६७ ई० ।

४. दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥१३॥
[महाभारत, विराट पर्व-पाण्डवप्रवेशपर्व, प्रथमोऽध्यायः श्लोक सं० १३
गीता प्रेस, गोरखपुर

भूमि की तालिका में मल्लराज्य का उल्लेख है।[1] अश्वमेध पर्व से महाभारत कालीन मल्ल राज्य की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पूर्व भीमसेन ने जिन राज्यों का दिग्विजय किया था उसमें अयोध्या के पूर्व में स्थित गोपालक एवं मल्ल राज्य भी थे। महाभारत के दिग्विजय पर्व[2] में स्पष्ट उल्लिखित है कि मल्लराष्ट्र दो भागों में विभक्त था—

१. मुख्य मल्ल २. दक्षिणो मल्ल

कृष्णकालोन उत्तरापथ के मानचित्र से स्पष्ट है कि यह देश गण्डक के दोनों ओर के क्षेत्र में फैला हुआ था।

पौराणिक साहित्य में मल्लराष्ट्र सम्बन्धी विवरण के सन्दर्भ में डा० राजबली पाण्डेय[3] का अभिमत है कि पुराणों में मगध साम्राज्य की राजवंशावलियों के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती है। इनमें सरयू और बड़ी गण्डक के मध्य मल्लराष्ट्र का उल्लेख मात्र है। चन्द्रकेतु के वंशजों (मल्लों) ने कुशावती और शरावती को पहले ही अपने अधीन कर लिया था। इधर उन्होंने पश्चिमी कारुपथ (बस्ती) के गोपालक (गोपालपुर) पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया। प्रारम्भिक

---

१. अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ॥४४॥
वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ॥४५॥
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादा माहिकाः शशिकास्तथा ॥४६॥
[महाभारत, भीष्म पर्व, जम्बूखण्डविनिमर्णिपर्व, : श्लोक सं० ४४, ४५, ४६ गीता प्रेस, गोरखपुर,

२. ततो गोपलकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान्।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥३॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम्।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥१२॥
[महाभारत, सभापर्व, दिग्विजय पर्व, श्लोक सं० ३, १२,
गीता प्रेस, गोरखपुर

३. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ५८।

युगों में मल्लराष्ट्र कोशल से बिल्कुल स्वतन्त्र होकर अलग राष्ट्र हो गया था। इसी क्रम में कुशावती का पुनरुत्थान हुआ।

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रकेतु के वंशजों (मल्लों) का वर्चस्व महाभारत काल के पश्चात् तक बना हुआ था। इस क्षेत्र के महाभारतकालीन अन्य राज्यों की तुलना में मल्ल राज्य का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

बुद्ध काल के पूर्व महाजनपद युग का आरम्भ हो चुका था। बुद्धचर्या[1] से ज्ञात होता है कि ईसा की सातवीं सदी पूर्व भी मध्य देश सोलह महाजनपदों में विभाजित था। इन महाजनपद में लड़ाइयाँ भी होती थीं, परन्तु आपस में सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध कभी बाधित नहीं हुआ। ई० पूर्व छठीं शताब्दी में राजनैतिक स्थिति कुछ बदल गयी थी क्योंकि कोशल ने काशी को अपने साथ मिला लिया था और मगध ने अंग को। दक्षिण में, कोशल की सीमा काशी तक पहुँचती थी। जहाँ शायद काशी के लोगों का मान रखने के लिए प्रसेनजित का छोटा भाई ठीक उसी तरह काशिराज बना हुआ था जैसे मगध द्वारा अंग पर अधिकार हो जाने के बाद भी चम्पा के शासक को अंगराज सम्बोधित किया जाता था।

## मल्लराष्ट्र-बुद्धयुग

बुद्धकाल में महाजनपद युग में गणतन्त्र-शासन प्रणाली अपनी चरमोत्कर्ष पर थी। भारतीय इतिहास का महाजनपद युग लगभग १००० वर्ष ईसापूर्व से आरम्भ होकर लगभग ५०० वर्ष ई० पू० तक माना जाता रहा है। बौद्ध साहित्य से मल्लराष्ट्र की विस्तृत जानकारी प्राप्त है। मल्लराष्ट्र उस काल के १६ महाजनपदों में अग्रणी था। अंगुत्तर निकाय[2] में १६ महाजनपदों की सूची इस प्रकार मिलती है—

---

१. बुद्धचर्या, सं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधिसभा, सारनाथ, बनारस, १९५२,।

"सो इमेसं सोलसन्नं महाजनपदानं पहूतसत्तरतनानं इस्सराधिपच्च रज्जं कारेय्य, सेय्यथींद–अंगानं, मगधानं, कासीनं, कोसलानं, वज्जीनं, मल्लानं, चेतीनं (चेतीयानं), वंसानं, कुरुनं पञ्चालानं, मच्छानं, सूरसेनानं, अस्सकानं, अवन्तीनं, गन्धारानं, कम्बोजानं"

२. अंगुत्तरनिकाय (मूल), खण्ड ४, पृ० २५२, २५६, २६०, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नव नालन्दा, १९६०।

जैनग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी महाजनपदों की सूची कुछ भिन्न प्रकार से प्राप्त होती है—

| | |
|---|---|
| (१) अंग | (९) पाढ़ (पाण्ड्य या पौण्ड्र) |
| (२) बंग | (१०) लाढ़ (लाट या राढ) |
| (३) मगध (मगह) | (११) वज्जि (वज्जि) |
| (४) मलय | (११) मोली (मल्ल) |
| (५) मालव | (१३) कासी (काशी) |
| (६) अच्छ | (१४) कोशल |
| (७) वच्छ (वत्स) | (१५) अवाह |
| (८) कोच्छ (कच्छ ?) | (१६) सम्भूत्तर (सुम्होत्तर ?) |

उपर्युक्त सूचियों में अंग, मगध, वत्स, वज्जि, काशी तथा कोशल के नाम समान हैं। सम्भवतः अंगुत्तर सूची का अवन्ती ही भगवती सूत्र का मालव है तथा[1] मल्ल सम्भवतः मोली शब्द का ही अपभ्रंश है। इनके अतिरिक्त भगवती में जो नाम आये हैं वे नये हैं और उनसे पता चलता है कि जैन लेखकों को सुदूरपूर्व तथा सुदूर दक्षिण भारत की जानकारी थी। भगवती सूची का विस्तृत क्षेत्र होने से ऐसा प्रतोत होता है कि यह सूची अंगुत्तर निकाय के बाद की है। अतः जनक वंश के के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति जानने के लिए हम बौद्ध सूची को ही सही और प्रामाणिक मानेगें।

बुद्धकालीन महाजनपदों एवं गणतन्त्रीय राज्यों के विषय में अणे[2] ने लिखा है कि पालिग्रन्थों से सूचना मिलती है कि ई० पूर्व छठीं शताब्दी में कोशल के पूर्व में, हिमालय और गंगा के मध्य में शाक्य, बुली, कलाम, भग्ग, कोलिय, पावा के मल्ल, कुशीनगर के मल्ल, मोरिय तथा लिच्छवी गणतन्त्र राज्य उपस्थित थे।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि बुद्धकालीन महाजनपदों एवं गणतन्त्रों में मल्लराष्ट्र एक प्रमुख, महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली गणतन्त्र के रूप में उभरकर सामने आ चुका था।

---

१. भगवती सूत्र—परिशिष्ट २, २२५, जैनभवन, पी० २५, कलाकार स्ट्रीट कलकत्ता ७, १९८०।

२. अणे, माधवश्रीहरि : ग्लिम्प्सेज आव वैशाली, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, वैशाली पृ० ३४-३८।

## भौगोलिक स्थिति

मल्लराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट करने के लिए इसके समीपवर्ती राज्यों क्रमशः कोशल, शाक्य, कोलिय, मोरिय, मगध और वज्जिसंघ की सीमाओं एवं स्थितियों का बुद्धकालीन भूगोल के आधार पर अध्ययन करेंगे—

## कोशल राज्य

कोशल राज्य का विस्तार पालि विवरणों[1] में ३०० योजन बताया गया है। बुद्धकाल में कोसल देश उत्तर में हिमालय पर्यन्त, पूर्व में अचिरावती (राप्ती) दक्षिण में सई (सुन्दरिका) या (अधिक से अधिक गंगा नदी तक) और पश्चिम में गोमती नदी तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी श्रावस्ती (सावत्थि) थी।

**शाक्य देश**—यह वर्तमान उत्तरप्रदेश के उत्तरपूर्व में नेपाल की सीमा से होता हुआ बहराइच और गोरखपुर के मध्य फैला हुआ था। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत, पूर्व में रोहिणी नदी, दक्षिण या दक्षिण-पूर्व में मल्लों का गणतन्त्र तथा पश्चिम में कोसल देश स्थित था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु (कपिलवत्थु) थी।

## कोलिय राज्य

यह राज्य रोहिणी के पूर्व, दक्षिणी घाटी में रोहिणी तथा अचिरावती (राप्ती) के संगम के आगे राप्ती के दक्षिण में स्थित था। इसके उत्तर-पश्चिम में शाक्य राज्य, दक्षिण-पूर्व में मोरिय, उत्तर पूर्व में मल्लराष्ट्र स्थित था। इसकी राजधानी रामग्राम थी जिसके अन्तर्गत गोरखपुर जनपद के सदर तहसील का दक्षिणी भाग तथा बाँसगाँव तहसील का पश्चिमी भाग सम्मिलित था।

## मोरिय राज्य

इसके उत्तर, उत्तर-पूर्व में मल्लराष्ट्र, उत्तर-पश्चिम में कोलिय राज्य तथा दक्षिण में मगधराज्य स्थित थे। राप्ती एवं सरयू नदियाँ इसकी सीमा बनाती थीं। इसका आकार अन्य राज्यों की अपेक्षा छोटा था, इसकी राजधानी पिप्पलीवन थी। यह राज्य गोरखपुर जनपद का

---

१. विनयपिटक (हिन्दी) पं० राहुल सांकृत्यायन, पृ० १९९-२००, महाबोधि सभा, सारनाथ।

दक्षिणी-पूर्वी तथा देवरिया जनपद का दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्र था, जो पश्चिम में राप्ती नदी के किनारे डीह घाट से लेकर पूर्व में वर्तमान बरहज नगर तक था। इसके अन्तर्गत राप्ती, गुर्रा, फरेन्द्र (पूर्व में वथूवा) तथा करुणा (कुर्ना) नदियाँ थीं। आज भी नदियों के किनारे राजधानी (धानी) के अतिरिक्त मीथावेल, नाथ नगर, रुद्रपुर, दीनापार, मदनपुर, बराँव, समोगर, महेन, कपरवार, बरहज इत्यादि स्थानों पर प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

**मगध राज्य**

पालि-विवरणों के अनुसार बिम्बसार के राज्य का विस्तार कोसल के समान ३०० योजन था। उसमें २०० योजन की वृद्धि अजातशत्रु ने की थी। इस प्रकार मगध की सीमा काफी विस्तृत हो गयी। मगध राज्य पूर्व में अंग राज्य (जिसमें अंगुत्तराप अर्थात् गंगा और कोसी नदी के मध्य अंगदेश का भी भाग सम्मिलित था) की अन्तिम सीमा कोसी नदी तक फैला हुआ था। मगध के दक्षिण-पूर्व में सुह्यों का जनपद था, दक्षिण में कलिंगारण्य तथा उत्तर में वज्जिगणतन्त्र था। जो मही (गण्डक) नदी से लेकर बाहुमती (बागमती) नदी तक फैला हुआ था। गंगा नदी मगध एवं वज्जिगणतन्त्र को विभाजित करती थी। गंगा के दक्षिण में मगध तथा उत्तर में वज्जि गणतन्त्र था। मगध की राजधानी राजगृह थी।

**मल्ल राज्य**

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में गण्डक मल्लराष्ट्र के अन्दर से होकर बहती थी। प्राचीन महीनदी ही आधुनिक गण्डक है। मही को संयुक्तनिकाय के सम्वेज्जसुत्त[1] में महामही भी कहा गया है। इससे इसका बड़ी गण्डक होना सिद्ध होता है। इस नदी के एक तट पर मल्लगणराज्य स्थित था तथा दूसरे तट पर वज्जिसंघ। मल्लराष्ट्र की स्थिति वज्जिगणतन्त्र और कोसल राज्य के बीच, हिमालय की तराई में थी। इसके पूर्व या दक्षिण-पूर्व में वज्जिगणराज्य था। मल्लगणतन्त्र के पश्चिमोत्तर में शाक्य जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी और इसकी पश्चिमी सीमा पर अचिरावती (राप्ती) नदी थी। यह नदी कोसल और मल्ल राज्य के मध्य विभाजक रेखा थी। मल्ल राज्य के

---

१. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १३२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं० १९६१।

सुदूर दक्षिण-पूर्व में मगध राज्य था। मल्ल राज्य के पश्चिम में ही मगध और शाक्य जनपद के बीच कोलिय राज्य था। मल्लराष्ट्र और मगध के बीच मोरियो का छोटा सा राज्य स्थित था। मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत गोरखपुर जनपद का पूर्वीभाग सम्पूर्ण देवरिया जनपद तथा सारन जनपद का अधिकांश भू-भाग सम्मिलित था। दक्षिण में सरयू के दाहिने तट का भी कुछ भाग सम्मिलित था। मल्लराष्ट्र गणतन्त्रों के विस्तार की दृष्टि से विशालतम था। साधन-सम्पन्न तथा सर्वाधिक प्रभावशाली माना जाता था।

पालि त्रिपिटक के अनुसार मल्लरट्ठ (मल्लराष्ट्र) दो भागों में विभक्त था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः कुशीनारा और पावा थीं। राजधानियों के आधार पर 'मल्ला कोसिनारका' (कुशीनारा के मल्ल) और 'मल्ला पावेय्यका (पावा के मल्ल) कहे जाते थे। कुकुत्था नदी इन प्रदेशों की विभाजक रेखा थी। ए० कनिंघम की ऐसी मान्यता है कि पावा गण्डक के किनारे स्थित थी, तो निश्चित है कि यहाँ प्राचीन घाट रहे हैं जिससे बुद्धकाल में निरन्तर आवागमन होता रहा है। इसके अतिरिक्त मल्लराष्ट्र के प्रमुख नगरों में ब्राह्मणग्राम उरु वेलकप्प, अनूपिया एवं थूणांक थे। उनके अनुसार कसया से ८ मील नीचे छोटी गण्डक या हिरना नदी के दक्षिणी छोर पर प्राप्त कुकुत्था नदी का नाम आधुनिक काल में बाड़ी या बरही या बान्धी नाला है।

## वज्जिसंघ

गंगा के उत्तर में नेपाल की तराई तक फैला हुआ वज्जिसंघ १६ महाजनपदों में प्रमुख था। राहुल सांकृत्यायन[1] के मतानुसार वज्जिसंघ में वर्तमान बिहार प्रदेश के चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर एवं दरभंगा के कुछ भाग सम्मिलित थे। इसके पूर्व में बाहुमती (बागमती) नदी बहती थी और पश्चिम में गण्डक। इस प्रकार उसकी सीमा मल्लगणतन्त्र और मगध राज्य तक फैली हुई थी। वज्जिसंघ मल्ल राज्य के पूर्व या दक्षिण-पूर्व में तथा मगध राज्य के उत्तर में था।

ए० कनिंघम[2] वज्जिसंघ की भौगोलिक स्थिति के विषय में लिखते हैं कि वज्जिसंघ पूर्व से पश्चिम की दिशा में उत्तर से दक्षिण की अपेक्षा

---

१. बुद्धचर्या—सं० पं० सांकृत्यायन, राहुल—पृ० ३८०।

२. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता १९२४।

लम्बा था। पूर्व से पश्चिम की ओर उसकी लम्बाई तीन सौ मील और उत्तर से दक्षिण की ओर एक सौ मील थी।

वज्जि जनपद बुद्धकाल में एक प्रभावशाली गणतन्त्र था। मगध से इसकी प्रतिद्वन्दिता बुद्धकालीन राजनैतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वज्जिसंघ में आठ गणराज्य सम्मिलित थे और ये 'अट्ठकुलिक' कहलाते थे। वज्जियों के इन आठ कुलों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र, वज्जि, लिच्छवी और विदेह ही थे। चौथे गणतन्त्र का नाम सम्भवतः 'आतिक' या ज्ञातिक था, जिसकी नगरी नादिका मानी गयी है। वज्जिक संघ के शेष चार गणतन्त्रों वे सम्बन्ध में पालि स्रोतों से कुछ निश्चित सूचना नहीं मिलती। परन्तु हेमचन्द्र राय चौधुरी[1] ने स्वीकार किया है कि ये सम्भवतः उग्र (वैशाली या हस्तग्राम) भोग (भोगनगर के) कौरव (कुरुक्षेत्र के ब्राह्मण जो पूर्व काल में विदेह में आकर बस गये थे) एवं ऐक्ष्वाकु (वैशाली) के थे।

ए० कनिंघम[2] वज्जिसंघ की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वज्जिसंघ पूर्व से पश्चिम की दिशा में उत्तर से दक्षिण की अपेक्षा लम्बा था। पूर्व से पश्चिम की ओर उसकी लम्बाई तीन सौ मील और उत्तर से दक्षिण की ओर एक सौ मील थी।

ए० कनिंघम[3] ने बौद्ध साहित्य और ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर लिखा है 'वज्जिसंघ तन्त्र में कई प्राचीन नगर थे, जो सम्भवतः आठ अलग-अलग गणराज्यों की राजधानियाँ रही होंगी। बुद्धकाल में इस क्षेत्र के प्रमुख केन्द्रों में वैशाली, केसरिया, जनकपुर, नन्दनगढ़, सरमन, दरभंगा, पूर्णिया और मोतीहारी सम्मिलित थे।

कनिंघम[4] ने १८६२ में नन्दनगढ़ का स्वयं निरीक्षण किया था। ह्वेनसांग की यात्रा के मानचित्र में जिन नगरों का वर्णन किया है, उन-नगरों के अतिरिक्त कनिंघम ने अपने मानचित्र में करवरा, लौरिया,

---

१. रायचौधुरी, हेमचन्द्र रे, पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया—पृ० ११८-१२०, यूनिवर्सिटी प्रेस, हजारा रोड, कलकत्ता १९७२।

२. ए० कनिंघम, ऐंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८, चक्रवर्ती एण्ड चटर्जी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता १९२४।

३. वही १९२४।

४. वही, मानचित्र, ह्वेनसांग यात्रा, आगे।

अरेराज, बेतिया, रतवल नगरों को भी अंकित करते हुए इन्हें बुद्धकाल का प्रमुख नगर माना है।

## गणतन्त्र के रूप में मल्लराज्य

'दीघनिकाय' के जनवसमः सुत्त[1] में इन दोनों पड़ोसी गणतन्त्रों का साथ-साथ उल्लेख किया गया है—'वज्जिमल्लेसु'। इतिहास के पन्नों में भी इसका विवरण साथ-साथ मिलता है। मल्ल एवं लिच्छवी दोनों राष्ट्रों की यह मुख्य विशेषता थी कि ये प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में विश्वास करते थे।

मल्ल और लिच्छवियों का सघ था इतना निश्चित है क्योंकि महावीर के निर्वाण के समय यह संघ उपस्थित था। यद्यपि इस संघ की कार्यप्रणाली का कोई विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता है। परन्तु इतना अवश्य है कि वर्तमान federation या संघ के समान ही संघसमिति में क्षेत्रफल व जनसंख्या आदि का विचार न कर सभी संघ समान रूप से सदस्य रहते थे। यह इसी से स्पष्ट है कि संघ के परिषद में ९ लिच्छवियों और ९ मल्लों को मिलाकर कुल १८ सदस्य थे।

### मल्लराष्ट्र की शासन प्रणाली :

बुद्धकाल में मल्ल और लिच्छवि राष्ट्रों में गणतान्त्रिक राज्यप्रणाली और बौद्ध धर्म का विकास इन दो तथ्यों ने सम्पूर्ण भारतीय इतिहास को प्रभावित किया एवं मानव समाज को नवीन प्रेरणा प्रदान किया।

बुद्धकाल में मल्लराष्ट्र, वज्जिराष्ट्र तथा इनके निकटवर्ती क्षेत्रों में गणतान्त्रिक शासन-प्रणाली का पूर्णरूपेण विकास हो चुका था। साथ ही साथ सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति भी हो रही थी। उस समय संघीय गणतन्त्र थे जिसके अनेक राष्ट्र सदस्य होते थे। वस्तुतः महा-जनपद युग में संघों की परम्परा मिथिला से लेकर, वाहलिक तक फैली हुई थी। मल्ल एवं वज्जिराष्ट्र भी तत्कालीन संघ-शृंखला का कड़ी थे। वज्जि गणतन्त्र की शासन-प्रणाली के मूल सिद्धान्तों का दिग्दर्शन शाक्य मुनि तथा आनन्द के संवाद[2] से होता है—

---

१. दीघनिकाय—जनवसमः सुत्त (हि० अ०), पृ० १६०।

२. दीघनिकाय (हि०) भाग—२, महापरिनिब्बाण सुत्त, पृ० ५९-६२।
अथ खो भगवा आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि—"किन्ति, ते आनन्द, सुतं,—'वज्जी अभिण्हं सन्निपाता सन्निपात—बहुला' " ति ?
"सुतं मेतं भन्ते—'वज्जी अभिण्हं सन्निपाता सन्निपातबहुला' " ति।

१—जब तक वज्जि अपनी परिषद की बैठकें, भरपूर रूप में और बार-२ करते हैं।

२—जब तक वे, मिलकर बैठते-उठते और अपने वज्जिकार्यों (राष्ट्रीय कार्यों) को मिलकर करते हैं।

---

"यावकीवं च, आनन्द, वज्जी अभिण्हं सन्निपाता सन्निपाताबहुलाभविस्सन्ति, बुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परिहानि। किन्ति ते, आनन्द, सुतं—'वज्जी समग्गा सन्निपतन्ति समग्गा वुट्ठहन्ति समग्गा वज्जि करणीयानि करोन्ती' " ति ?

"सुतं मेतं, भन्ते—'वज्जी समग्गा सन्निपतन्ति समग्गा वुट्ठहन्ति समग्गा वज्जिकरणीयानि करोन्ती' " ति।

'यावकीवं च, आनन्द, वज्जी समग्गा सन्निपतिस्सन्ति समग्गा वुट्ठहिस्सन्ति समग्गा वज्जिकरणीयानि करिस्सन्ति, वुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परिहानि। किन्ति ते, आनन्द, सुतं—'वज्जी अप्पञ्ञत्तं न पञ्ञापेन्ति, पञ्ञत्तं न समुच्छिदन्ति, यथापञ्ञत्ते पोराणे वज्जिधम्मे समादाय वत्तन्ती' " ति ?

"सुतं मेतं, भन्ते—'वज्जी अपञ्ञत्तं न पञ्ञापेन्ति, पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दन्ति, यथापञ्ञत्ते पोराणे वज्जिधम्मे समादाय वत्तन्ती' " ति।

यावकीवं च, आनन्द, वज्जी अप्पञ्ञत्तं न पञ्ञापेस्सन्ति, पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दिस्सन्ति, यथापञ्ञत्ते पोराणे वजिजधम्मे समादाय वत्तिस्सन्ति, बुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परिहानि। 'किन्ति ते, आनन्द, सुतं—'वज्जी ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करोन्ति गरुं करोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति तेसं च सोतब्बं मञ्ञन्ती' " ति ?

"सुतं मेतं, भन्ते—'वज्जी ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करोन्ति गरुं करोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति तेसं च सोतब्बं मञ्ञन्ती' " ति।

याविकीवं च आनन्द, वज्जी ये ते वज्जीनं वज्जिमहल्लका ते सक्करिस्सन्ति गरुं करिस्सन्ति मानेस्सन्ति पूजेस्सन्ति तेसं च सोतब्बं मञ्ञिस्सन्ति, बुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परिहानि। किन्ति ते, आनन्द, सुतं—वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न ओक्कस्स पसय्ह वासेन्ती' " ति ?

"सुतं मेते भन्ते—'वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न ओक्कस्स पसय्ह वासेन्ती' " ति।

"यावकीवं च, आनन्द, वज्जी या ता कुलित्थियो कुलकुमारियो ता न ओक्कस्स पसय्ह वासेस्सन्ति, बुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परि-

३—जब तक वे, उचित प्रक्रिया के बिना कोई कानून लागू नहीं करते। विधिपूर्वक निर्मित कानून का उल्लंघन कर कोई कार्य नहीं करते और ये वज्जिय विधि-सम्मत ढंग से स्थापित प्राचीन संस्थाओं के अनुकूल आचरण करते हैं।

४—जब तक वे अपने वृद्धों और गुरुओं का सम्मान करते, आदर-सत्कार करते, उन्हें मानते-पूजते और उनकी सुनने योग्य बातों को सुनते, मानते और तदनुकूल आचरण करते हैं।

५—जब तक वे अपनी कुलवधुओं और कुल कुमारियों को बलात् नहीं रोकते या उन पर अत्याचार नहीं करते।

६—जब तक वे, वज्जि-चैत्यों ( जातीय मंदिरों और स्मारकों ) का आदर-सत्कार और मान करते तथा उनको पूर्व प्रदत्त धर्मानुकूल बलि ( चढ़ावा, पूजा आदि जो उन मंदिरों और स्मारकों को बनाये रखने, उनकी मरम्मत आदि में खर्च होता था ) का अपहरण नहीं करते, उसे नहीं छुड़ाते।

७—जब तक वे अपने आश्रितों की शरण, रक्षा और पोषण का उचित प्रबन्ध करते—तब तक "वज्जियों की, वृद्धि ही समझनी चाहिए, हानि नहीं।"

---

हानि। किन्ति ते, आनन्द, सुतं—'वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि च, तानि सक्करोन्ति गरुं करोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति, तेसं च दिन्नपुब्बं कतपुब्बं धम्मिकं बलिं नो परिहापेन्ती' " ति ?

"सुतं मेतं, भन्ते—'वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि च, तानि सक्करोन्ति गरुं करोन्ति मानेन्ति पूजेन्ति, तेसं च दिन्नपुब्बं कतपुब्बं धम्मिकं बलिं नो परिहापेन्ती' " ति।

"यावकीवं च, आनन्द, वज्जी यानि तानि वज्जीनं वज्जिचेतियानि अब्भन्तरानि चेव बाहिरानि च, तानि सक्करिस्सन्ति गरुं करिस्सन्ति मानेस्सन्ति पूजेस्सन्ति, तेसं च दिन्नपुब्बं कतपुब्बं धम्मिकं बलिं नो परिहापेस्सन्ति, वुद्धियेव, आनन्द, वज्जीनं पाटिकङ्खा, नो परिहानि। किन्ति ते, आनन्द, सुतं—'वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खावरणगुत्ति सुसंविहिता, किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं, आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं' " ति ?

"सुतं मेतं, भन्ते—'वज्जीनं अरहन्तेसु धम्मिका रक्खावरणगुत्ति सुसंविहिता, किन्ति अनागता च अरहन्तो विजितं आगच्छेय्युं, आगता च अरहन्तो विजिते फासु विहरेय्युं' " ति।

उक्त संवाद से स्पष्ट है कि किसी भी राज्य की स्थायी एवं सुदृढ़ शासन व्यवस्था वहाँ के नागरिकों के सह-अस्तित्व, विधिसम्मत शासन संचालन, परस्पर आदर भाव एवं स्नेह, वृद्धजनों के प्रति श्रद्धा, स्त्रियों के प्रति सम्मान आदि मूलभूत सिद्धान्तों पर निर्भर करती है।

**संस्थागार :**

बुद्धकालीन गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली में संस्थागार का प्रमुख महत्त्व रहा है। उस समय के संस्थागार की कार्य-पद्धति की तुलना वर्तमान में संसद से की जा सकती है। संस्थागार में विधि-निर्माण के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विषयों पर विचार-विमर्श हेतु बैठकें होती थीं। कभी-कभी वहाँ अतिथियों को भी ठहराया जाता था। इसका गठन भिक्षु-संघ के संगठन के आधार पर होता था। संस्थागार की बैठक राजा अथवा उपराजा की अध्यक्षता में होती थी। इसके प्रमुख सदस्यों में राजा-उपराजा, सेनापति, अष्टकुलिक, व्यावहारिक और विनिश्चय महामात्य, भांडारिक ( कोषाध्यक्ष ) सम्मिलित थे। सर्वसम्मति से जब संस्था किसी निर्णय पर नहीं पहुँचती थी, तब निर्णय पर पहुँचने के लिए सम्मति या वोट ( छंद ) का प्राविधान था। छंद ग्रहण के लिए रंगीन शलाकाओं का उपयोग किया जाता था, जिसे छंदशलाका कहा जाता था। संस्थागार में हुए बहुमत के निर्णय को 'पदभूपतिक' कहा जाता था। विचार-विमर्श की कार्यवाही को लिपिबद्ध कर अभिलेख तैयार किया जाता था और इसे लेखागार में सुरक्षित रखा जाता था।

**कार्यपालिका :**

संस्थागार विधायी कार्यों का दायित्व वहन करता था तन्निर्मित कानूनों एवं नियमों के क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता था। इसके लिए कार्यकारिणी समिति का गठन होता था, जो दिन-प्रतिदिन शासन का कार्य देखती थी। कार्यकारिणी समिति को 'उद्वाहिका' कहा जाता था। राहुल सांकृत्यायन[1] के मतानुसार 'उद्वाहिका के निर्वाचन हेतु प्रस्ताव प्रस्तुत करने वाले को 'अनुश्रावण' कहा जाता था। संघ के किसी भी सदस्य को अधिकरण के विषय में अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और सदस्यों को तीन बार यह

---

१. पं० सांकृत्यायन, राहुल, वैशाली का प्रजातन्त्र, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ४३-४५, वैशाली, विहार, १९८५।

अवसर प्रदान किया जाता था। प्रस्ताव का किसी के द्वारा विरोध न करने पर यह उद्‌वाहिका के सदस्यों द्वारा स्वीकृत होता था। कल्पसूत्र में उल्लिखित गणों में सम्भवतः ९ लिच्छवि गण के तथा ९ मल्ल गण के कुल १८ कार्यवाहक अधिकारी थे।

**न्यायपालिका :**

लाहा[१] के मतानुसार गणों की न्याय-प्रक्रिया में महामात्य, विधि पारंगत वोहारिका (कानून विशेषज्ञ), सूत्रधार, अट्ठकुलक (आठ कुल के उच्च न्यायाधीश), सेनापति, राजा के न्यायालयों में नीचे से ऊपर के स्तर तक अपराधी को गुजरना पड़ता था। ध्येय यह होता था कि किसी व्यक्ति के अपराध और उस हेतु प्रदत्त दण्ड की सम्यक् प्रकार से समीक्षा कर ही उसे दण्डित किया जाय ताकि कोई निरपराध दण्डित न हो जाय और अपराधी कृत अपराध की कोटि से कम या अधिक दण्डित न हो जाय। इस प्रकार गणराज्यों की न्याय व्यवस्था आदर्श कोटि की थी।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली परस्पर समानता, एकता, विचार-स्वातन्त्र्य और अधिकार एवं कर्त्तव्य के बीच संतुलन के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित थी। उस समय तक नागरिकों को गणतंत्रीय प्रणाली के संचालन का पूर्ण अनुभव प्राप्त हो चुका था, आधुनिक संसद के समान संस्थागार में कानून या विधि बनाने का प्रावधान था, जिसके क्रियान्वयन हेतु कार्यपालिका (कार्यकारिणी समिति) गठित थी। न्यायपालिका का स्तर सर्वोच्च था। (विधायिका), व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका तीनों के तालमेल ने गणतंत्रीय शासन प्रणाली को सफलता के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था।

बुद्धकाल में मल्लराष्ट्र की व्यापारिक महत्ता थी। वहाँ के व्यापारी कुशल, साहसी, साधन-सम्पन्न थे। धर्मरक्षित[२] के अनुसार पावावासी मल्ल व्यापारी 'पक्कुस मल्ल' रत्नजटित ५०० गाड़ियों को लेकर व्यापार के लिए जाता था। बन्धुल मल्ल सोने और हीरे की जड़ी हुई 'गदा' रखता था। वस्त्र-व्यापार, रँगाई, आदि उन्नति पर थी। यहाँ के महीन वस्त्र (मलमल) प्रसिद्ध थे। मल्ल नागरिक स्वयं इसका उपयोग करते थे।

---

१. वैशाली इन ऐंश्येण्ट लिटरेचर, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७७-७८, वैशाली, बिहार, १९८५।

२. भिक्षु, धर्मरक्षित, कुशीनगर का इतिहास, पृष्ठ २६, ६८, ७६, ८९, ९१, कुशीनगर (प्रकाशन) कुशीनगर, देवरिया, बुद्धाब्द, २४९३।

'लिच्छवियों की भाँति मल्ल भी गणतंत्रीय शासन प्रणाली में ही नहीं रहन-सहन में भी समानता रखते थे। 'अष्टकुलिक' की रंग-विरंगी वेश-भूषा, साज-शृंगार इत्यादि से सहज ही कल्पना की जा सकती है कि मल्ल राष्ट्र के नव मल्ल राज्यों के नायक भी उसी प्रकार के विभिन्न रंगों से सुसज्जित एवं अलंकृत रहे होंगे।

गांगुली[1] का कथन है कि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' से लिच्छवि, अष्टकुलिक की रुचि, कला-प्रदर्शन का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, इसमें तथागत सम्बोधि लाभ के ३ वर्ष पश्चात् जब वैशाली जा रहे थे, तो लिच्छवि गणतन्त्र के 'अष्टकुलिक' राज-वंश अपने-अपने राज्य के प्रतीक स्वरूप विभिन्न रंगों के साज-शृंगार से युक्त, उनके स्वागत हेतु गंगा तट पर उपस्थित हुए। अलग-अलग दलों की, अलग-अलग रंगों की साज-सज्जा दर्शनीय थी। कोई नीले रंग का प्रतीक बना हुआ था, तो कोई लाल। एक समूह पीले रंग के रथ पर आरूढ़ सुशोभित होकर प्रसन्न मुद्रा में उपस्थित हुआ।

डा० मुकर्जी[2] ने लिच्छवियों की रुचियों का गहन अध्ययन कर विशद् व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार प्रत्येक की विभिन्न रंगों की नीली, पीली, हरित, भजिष्ठा (लाल लोहित) श्वेत (ओदात) एवं मिश्रित (व्यायुक्ता) वेशभूषा रहती थी। उनकी वेष-भूषा, रथ, पगड़ी छाते, जूते, चाबुक, दण्ड आदि के विभिन्न रंग उनके प्रतीक के रूप में दृष्टिगोचर होते थे।

कुशीनगर के मल्लों की सम्पन्नता एवं कला-प्रियता तथा कार्य प्रणाली की निपुणता का विवरण महापरिनिब्बान सुत्त[3] से ज्ञात होता

---

१. वैशाली की महत्ता, वै० अ० ग्रं०, पृ० २०-२१।
सत्यत्र लिच्छवयः पीतास्या पीतरथा, पीतरश्मि प्रत्योद-यष्ठि। पीतवस्त्रा, पीतालंकारा, पीतोष्णीशा, पतिछत्राः पीतखड्ग मुनि पादुका।" तत्रेदुच्यतेः—

पीतास्या, पीतरथा, पीतरश्मि-प्रत्योदमुष्णीशा।
पीता च पंचककुदा पीतवस्त्रा अलंकारा॥

और एक दल आया पूर्णतः नीली चीजों से सजधज कर :—

नीलास्या, नीलरथा, नीलरश्मि–प्रत्योदमुष्णीशा।
नीलाच पंचककुदा नीलावम्ला अलंकारा॥

२. वैशाली इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, वै० अ० ग्रं०, पृ० १०।
३. दी० नि०—महापरिनिब्बान सुत्त (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४८-४१९।

होता है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात्, मल्लों द्वारा उनके अन्त्येष्टि-उत्सव के वर्णन से ज्ञात होता है कि आयुष्मान् आनन्द द्वारा बुद्ध के महापरिनिर्वाण का सन्देश प्राप्त होने पर संस्थागार में एकत्रित कुशीनारा के मल्ल गन्धद्रव्यों, मालाओं तथा वाद्यों को एकत्रित कर ५ हजार थान वस्त्र लेकर बुद्ध के महापरिनिर्वाण स्थली उपवन गये। वहाँ पहुँच कर वे बुद्ध के शव की गीत, वाद्य, नृत्य, माला, गन्ध आदि से अर्चना करते हुए ५ दिन तक वितान की रचना करते रहे। सातवें दिन उनके पार्थिव शरीर को वितान में रखकर वाद्य, गीत, गन्ध तथा माला से पूजित, मानित तथा सत्कृत करते हुए, वे कुकुट बन्धन चैत्य पहुँचे। वहाँ उन लोगों ने बुद्ध के शरीर को नये वस्त्र में लपेट कर, धुने हुए कपास में लपेटा। पुनः नये वस्त्र से लपेट कर धुने हुए कपास में लपेटा। इस प्रकार की प्रक्रिया ५०० बार की गई। तत्पश्चात् बुद्ध के शरीर को लोहे के तैल-द्रोणि में रखकर, दूसरे तैल द्रोणि से ढककर विभिन्न गन्धों की चिता बनाकर उस पर द्रोणि को रक्खा।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि मल्लराष्ट्र के नागरिक आरम्भ से ही गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली, धार्मिक, वीर, वैभवसम्पन्न, विविध कलाओं इत्यादि विधाओं में पारंगत थे।

## महावीर और बुद्ध

महावीर तथा बुद्ध दोनों की जीवन-गाथा में बहुत कुछ समानतायें हैं। दोनों का जन्म गणराज्यों के राजकुलों में हुआ था। महावीर का जन्म वज्जि के 'अष्टकुलिका' लिच्छवी गणतन्त्र की राजधानी वैशाली से राजगृह जाने वाले महापथ पर स्थित पहले सन्निवेश (सार्थवाह का पड़ाव) कुण्डग्राम में हुआ था। इसी कारण इन्हें वैशालिक कहा जाता था। बुद्ध का जन्म शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी में हुआ था। इसी कारण इन्हें शाक्यपुत्र कहा जाता है। महावीर और बुद्ध दोनों क्षत्रिय कुलरत्न थे और इनका सम्बन्ध इक्ष्वाकुवंश से था। दोनों युगप्रवर्तक एवं जीवन कल्याण मार्ग की प्राप्ति हेतु तरुणावस्था में ही अनगार बन गये। दोनों कैवल्य अथवा बुद्धत्व प्राप्त कर अपने ज्ञान से विश्व को आलोकित किए।

महावीर के बचपन का नाम वर्धमान तथा बुद्ध का सिद्धार्थ था। इसके अतिरिक्त भी दोनों महापुरुष विभिन्न संज्ञाओं से सम्बोधित किये जाते थे। वर्धमान को महावीर, निर्ग्रन्थ, ज्ञातपुत्र, कैवल्यमार्गदर्शक,

सर्वज्ञ, श्रमणधर्मा, वैशालिक आदि नामों से तथा सिद्धार्थ को श्रमण, गौतमबुद्ध, शाक्यपुत्त, शाक्यमुनि, बोधिसत्व, सर्वार्थसिद्ध, तथागत, शाक्यसिंह, शौद्धोधन इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। महावीर को विदेह, विदेहकुमार, विदेहदत्त, विदेह शकमाल, त्रिशलासुत आदि संज्ञायें भी दी गई थीं। दोनों को प्रदत्त उपाधियाँ उनकी गरिमा की द्योतक हैं।

इन दोनों महापुरुषों की समकालीनता तथा इनका काल निर्णय आरम्भ से ही विवाद का विषय रहा है। महावीर एवं बुद्ध की ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता तथा दोनों के निर्वाण-प्राप्ति के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपना मत व्यक्त किया है। मुनि नगराज[1] ने उन सबके विचारों की समीक्षा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार डा० आर० सी० मजुमदार, डा० एच० सी० रायचौधुरी व डा० के० के० दत्त महावीर को बुद्ध से ज्येष्ठ तथा बुद्ध के पश्चात् निर्वाण प्राप्त करने वाला स्वीकार करते हैं।

डा० हर्नले, डा० के० पी० जायसवाल आदि महावीर को बुद्ध से कनिष्ठ तथा पहले निर्वाण प्राप्त करने वाला बताते हैं। डा० हर्मन याकोबी एवं डा० शार्ल शार्पेण्टियर, महावीर को बुद्ध से कनिष्ठ तो मानते हैं परन्तु निर्वाण बुद्ध के पश्चात् मानते हैं। डा० राधाकुमुद मुखर्जी महावीर को ज्येष्ठ एवं बुद्ध से पूर्व निर्वाण प्राप्त करने वाला मानते हैं।

मुनि नगराज[2] ने भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के विचारों का

---

१. मुनि नगराज, महावीर एवं बुद्ध की समसामयिकता, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली-६, १९६९।

द्रष्टव्य—(१) ऐन एडवान्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ८५-८६। (२) इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स हास्टींग द्वारा। (३) जर्नरल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी—XIII, पृ० २४५। (४) 'श्रमण' पत्रिका में डॉ० जैकोबी के जर्मन लेख का अनुवाद, वर्ष १३, अंक—७, पृ० १०। (५) इण्डियन एन्टीक्वेरी, १९१४, पृ० १२५, ११६, (६) कल्चर हिस्ट्री आफ इण्डिया, एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, जिल्द-I पृ० ४०, पद-संकेत। (७) कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द I, पृ० १५२।

२. मुनि नगराज, महावीर एवं बुद्ध की समसामयिकता—पृ० १०४। आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १९६९।

अध्ययन कर महावीर एवं बुद्ध के काल के सम्बन्ध में निम्न मत व्यक्त किया है—

| महावीर | गौतमबुद्ध |
|---|---|
| जन्म ई० पू० ५९९ | ई० पूर्व ५८२ |
| गृहत्याग ई० पू० ५६९ | ई० पूर्व ५४४ |
| कैवल्य ई० पू० ५५७ | ई० पू० ४४७ |
| निर्वाण ई० पू० ५२७ | ई० पू० ५०२ |

परन्तु मुनि नगराज का यह मत दोनों महापुरुषों के समय सम्बन्धी भ्रम का निवारण नहीं कर सका है। प्रो० मधुसूदन ढाकी[1], प्रो० वी० सी० श्रीवास्तव[2] आदि विद्वान् मुनि नगराज के विचार से सहमत नहीं हैं। उन्होंने हर्मन याकोबी के विचारों के आधार पर महावीर का निर्वाण ई० पू० २८४ माना है। परन्तु डा० के० डी० वाजपेयी ने मुनि नगराज के मत का समर्थन किया है।

कुछ अन्य लब्ध प्रतिष्ठ पूर्ववर्ती विद्वानों ने महावीर और बुद्ध के काल पर अपना अभिमत व्यक्त किया है। डा० एस० राधाकृष्णन्[3] ने महावीर का जन्म एवं निर्वाण क्रमशः ५९९ ई० पूर्व तथा ५२७ ई० पूर्व एवं बुद्ध का जन्म एवं परिनिर्वाण क्रमशः ई० पू० ५६७ तथा ई० पूर्व ४८८ बताया है। डी० आर० पाटिल के अनुसार बुद्ध का महापरिनिर्वाण वर्ष ई० पूर्व ४८७ तथा ई० पूर्व ४८३ के मध्य होना चाहिए[4]।

विदेशी विद्वान हेडन्ज वेचर्ड ने महावीर एवं बुद्ध की तिथियों पर विचार किया है। उन्होंने अन्य विद्वानों के मत का विस्तृत विवेचन करते हुए बुद्ध का महापरिनिर्वाण सम्राट अशोक के राज्याभिषेक से ८५ से लेकर १५० वर्ष पूर्व माना है। इस आधार पर उन्होंने बुद्ध का महानिर्वाण ई० पू० ३५० के लगभग माना है। महावीर के निर्वाण के विषय में उनका कथन है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का

---

१. वार्ता के आधार पर।

२. वार्ता के आधार पर।

३. डॉ० राधाकृष्णन्, एस, भारतीय दर्शन (हि०) प्र० ख०, पृ० २३६, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली १९८६।

४. पाटिल, डी० आर०, कुशीनगर, पृ० ७, आर्कियालाजिकल सर्वे आव इंडिया, न्यू० देहली, प्र० सं० १९५७।

निर्वाण ५२८ ईसा पूर्व हुआ था तथा दिगम्बर परम्परानुसार ५१० ईसा पूर्व हुआ था। वे थेरावली से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाते हैं। उनका कथन है कि ऐतिहासिक पुस्तकों की मान्यता के विपरीत महावीर का निर्वाण बाद का होना चाहिए। उनका अभिमत है कि यदि बुद्ध का निर्वाण काल ई० पू० ३५० निश्चित है तो महावीर का निर्वाण भी उसके निकटस्थ समय में होना चाहिए।[1]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महावीर और बुद्ध के निर्वाण की तिथि के विषय में सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है। बौद्ध साहित्य में सर्वत्र बुद्ध का निर्वाण महावीर के पश्चात् बताया गया है। जैन साहित्य में बुद्ध के निर्वाण के समय का उल्लेख नहीं है। इस आधार पर बौद्ध साहित्य के विवरण को आधार मानते हुए महावीर के पूर्व निर्वाण प्राप्त करने की बात स्वीकार कर सकते हैं।

जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में कुछ समानताएँ एवं कुछ विभिन्नतायें हैं। महावीर और बुद्ध दोनों ही भारतीय संस्कृति की निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों ही सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या, परोपकार, कष्ट-सहिष्णुता तथा जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत रहे हैं। दोनों अर्हत् बुद्धि, तर्क, कर्म, संघ एवं भिक्षाचर्या में विश्वास करते थे। दोनों ने वैदिक धर्म एवं ब्राह्मणवाद पर कुठाराघात किया एवं पशुवलि, जाति एवं वर्गप्रथा के विरुद्ध थे। दोनों ही अनीश्वरवादी एवं सुधारवादी थे।

साथ ही दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर भी था। महावीर कठोर तपस्या मार्ग के समर्थक थे, बुद्ध मध्यममार्गी थे। महावीर आत्मवादी थे बुद्ध अनात्मवादी थे। इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन[2] के मतानुसार बुद्ध और महावीर में एक अन्तर यह है कि बुद्ध ने दूसरे किसी पूर्ववर्ती या समकालीन मत का समन्वय नहीं किया, जबकि महावीर ने पूर्वकालीन पार्श्वापत्यकों के मत का समन्वय किया है।

---

१. (अ)—वेचर्ड, हेडन्ज, डेट आव बुद्ध रिस्कलीडर्ड पृ० २९-३६, इण्डोलाजिका तेऊरेनेशिया खण्ड १०, इटली, १९८२।

(ब)—रिमार्क आनद प्राब्लम आव डेट आव महावीर, पृ० ७०-७५, वही १९ वही १९८३।

२. उत्तराध्ययन, सं० दोशी, रतनलाल ३१०/२३, सैलाना, म० प्र०, १९६२ ई०।

महावीर एवं बुद्ध के परस्पर साक्षात्कार के विषय में भी विद्वानों में मत-वैभिन्न्य रहा है। पं० राहुल सांकृत्यायन[1] तथा भँवरलाल नाहटा[2] की दृष्टि में महावीर एवं बुद्ध का कभी साक्षात्कार नहीं हुआ था। परन्तु वेंकटरमैय्या तथा प्रो० के० डी० वाजपेयी[3] का स्पष्ट मत है कि उन दोनों में परस्पर श्रावस्ती में शास्त्रार्थ हुआ था। साहित्यिक साक्ष्यों के अनुसार दोनों महापुरुष एक ही समय एक ही नगर जैसे—नालन्दा, वैशाली, श्रावस्ती इत्यादि में विहार किया है। दोनों के भिक्षुओं (श्रमणों) एवं गृहस्थ शिष्यों ( श्रावकों ) में बार-बार विवाद होते रहते थे।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[4] ने इन दोनों महापुरुषों की प्रतिद्वन्द्विता के विषय में विस्तार से चर्चा की है। एक बार नालन्दा में जब महावीर वास कर रहे थे, बुद्ध विशाल भिक्षु संघ के साथ वहाँ पहुँचे थे। उस समय नालन्दा अकाल तथा महामारी रोग से ग्रस्त था। महावीर ने नालन्दावासी असिबन्धकपुत्र को बुद्ध के पास यह कहकर भेजा कि ऐसे समय में जबकि नालन्दावासी जीवन-रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हों, गौतम का इतने बड़े भिक्षु संघ के साथ आना क्या उचित माना जायेगा ?

जब महावीर और बुद्ध नालन्दा में एक साथ विहार कर रहे थे, तो महावीर ने अपने शिष्य दीर्घतपस्वी से महात्मा बुद्ध का वाद-विवाद करवाया था। शिष्य के पराजित होने के पश्चात् उन्होंने गृहस्थ श्रावक उपालि गृहपति को बुद्ध के पास भेजा। वह बुद्ध से इतना प्रभावित हो गया कि उनके विचारों का अनुपोषक हो गया।

वैशाली में भी इसी प्रकार बुद्ध एवं महावीर की प्रतिद्वन्द्विता का प्रमाण मिलता है। महावीरानुयायी वैशाली नरेश चेटक का पुत्र सेनापति सिंहभद्र बुद्ध की ख्याति सुनकर उनका दर्शन करना चाहता था। बार-बार महावीर के रोकने पर भी वह बुद्ध का दर्शन करने गया और इतना

---

१. बुद्धचर्या (हि०), सांकृत्यायन राहुल, पृ० १०३-१०४।

२. सं० ललवानी, जी० पी०, भँवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७३, बी० एल० नाहटा अभिनन्दन समिति, ८८ केनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता—१, १९८६।

३. सं० प्रो० बाजपेयी, के० डी०, श्रावस्ती, पृ० ७, साहित्यनिकेतन, ३७/५० गिलिस बाजार, कानपुर १९८७।

४. बुद्धचर्या, सांकृत्यायन राहुल, पृ० १०३-१०४, ४१४-४२३।

प्रभावित हुआ कि उनको संघ के साथ मांसाहारी ( शूकर मार्दव ) भोजन के लिए आमन्त्रित किया जिसे स्वीकार कर अपने भिक्षु संघ के साथ वहाँ जाकर बुद्ध ने शूकर-मार्दव ग्रहण किया। मांसाहार को महावीर बहुत निन्दनीय मानते थे। बुद्ध के इस कृत्य के लिए महावीर और उनके अनुयायियों ने वैशाली में घूम-घूम कर बुद्ध एवं सिंहभद्र सेनापति की घोर निन्दा की। महावीर एवं बुद्ध में विद्यमान प्रतिद्वन्द्विता एवं कटुता की भावना की पुष्टि हर्मन याकोबी[1] ने भी की है।

परन्तु दोनों महापुरुषों के प्रत्यक्ष साक्षात्कार की सम्भावना को स्वीकारा नहीं जा सकता है। यदि दोनों का साक्षात्कार हुआ होता तो निश्चित ही ऐसी घटना अवश्य हुई होती जिसका दूरगामी एवं प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर हुआ होता। इसकी भी सम्भावना है कि यदि साक्षात्कार हुआ होता तो वाद-विवाद में जय-पराजय भी हो सकती थी जो दोनों की प्रतिष्ठा के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी जिसका उनके अनुयायियों एवं सामान्य जनों के बीच उनके धर्म प्रचार-प्रसार पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता, उनकी मर्यादा को ठेस पहुँच सकती थी। अतः यही कहा जा सकता है कि दोनों महापुरुषों का साक्षात्कार कभी नहीं हुआ था।

महावीर एवं बुद्ध के साक्षात्कार विवेचन के पश्चात् हम उनके कैवल्य-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति पर्यन्त वे किन-किन नगरों में वर्षाऋतु में वास किये, इसका अध्ययन करेंगे जिससे यह ज्ञात हो सके कि उनके चातुर्मास और वर्षावास से सम्बद्ध नगर कौन-कौन थे और उन्होंने किन नगरों को प्रमुखता दी ?

कठोर अहिंसावादी होने के कारण वर्षाकाल में जीव-जन्तुओं, प्राकृतिक वनस्पतियों की अधिकता के कारण इस ऋतु में हिंसा की सर्वाधिक सम्भावना होती है। इससे बचने के लिए तथा नदियों आदि में बाढ़ के कारण आवागमन की सुविधा न होने के कारण परिस्थितिवश एक स्थान पर वास करने की परम्परा जैन और बौद्ध धर्म में प्रचलित हुई। इस प्रवास को जैन धर्म में 'चातुर्मास' और बौद्ध धर्म में वर्षावास कहकर सम्बोधित किया जाता था। जैनों का 'चातुर्मास' श्रावण से कार्तिक तक एवं बौद्धों का वर्षावास श्रावण से आश्विन तक होता था।

---

१. याकोबी, हर्मन, जैनिज्म, इनसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड ७, प्र० ४७७, न्यूयार्क १९८०।

धर्मों को राज्य-संरक्षण प्राप्त होने के कारण चातुर्मास एवं वर्षावास सामान्यतया उन नगरों में किया जाता था जहाँ आवागमन के समुचित साधन उपलब्ध रहते थे, आवास-भोजन आदि की पर्याप्त व्यवस्था होती थी। चातुर्मास एवं वर्षावास से जैन एवं बौद्ध श्रमणों को धर्म प्रचार-प्रसार का सुयोग्य अवसर प्राप्त होता था।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् महावीर के चातुर्मासों[1] के तथा बुद्ध के सम्बोधि प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध के वर्षावासों[2] की क्रमानुसार तालिका निम्नलिखित है—

| महावीर | बुद्ध |
|---|---|
| १. राजगृह | १. ऋषिपत्तन मृगदाव ( सारनाथ ) |
| २. वैशाली | २. राजगृह महावीर के साथ की दिव्यशक्ति की घटना |
| ३. वाणिज्य ग्राम | ३. राजगृह |
| ४. राजगृह | ४. राजगृह अज्ञातशत्रु का बुद्ध से मिलन ( श्रमण-फल पूछना ) |
| ५. वाणिज्य ग्राम | ५. वैशाली |
| ६. राजगृह | ६. मंकुल पर्वत |
| ७. राजगृह | ७. त्रायस्त्रिंश |
| ८. वैशाली | ८. सुंसुमार गिरि |
| ९. वैशाली | ९. कोशाम्बी |
| १०. राजगृह | १०. परिलेय्यक वन |
| ११. वाणिज्य ग्राम | ११. नाला ब्राह्मण ग्राम |
| १२. राजगृह | १२. वेरंजा |
| १३. राजगृह | १३. चालिय पर्वत |
| १४. श्रेणिक की मृत्यु कोणिक का राज्यारोपण-चम्पा की राजधानी मिथिला चातुर्मास। | १४. श्रावस्ती |
| | १५. कपिल वस्तु |

---

१. शास्त्री, नेमिनाथ, तीर्थंकर महावीर और उनकी देशना, पृ० १६०, अ० भा० दि० जैन, वि० कार्यालय, वर्णीभवन, सागर, म० प्र० १९७४।

२. ( अ ) चुल्लवाग—सं० भिक्षु काश्यप, जगदीश ५, पालिमुद्रण परिषद, बिहार सरकार, नवनालन्दा महाविहार, प० नालन्दा, पटना, १९५६।

( ब ) धम्मपद अट्ठकथा, सं० डा० टाटिया, नथमल, ४-२, पटना, १९७३।

| महावीर | बुद्ध |
|---|---|
| १५. महावीर का चम्पा में पदार्पण रथमूसल व महा-शिलाकंटक युद्ध का प्रारम्भ-श्रेणिक की रानियों की दीक्षा-श्रावस्ती में पदार्पण गोशालक की मृत्यु मिथिला चतुर्मास। | १६. आलवी<br>१७. राजगृह<br>१८. चालिय पर्वत<br>१९. ,,<br>२०. राजगृह<br>२१. ४५–श्रावस्ती ( अनाथ पिण्डिक द्वारा निर्मित जेतवनाराम और मृगार माता के पूर्वाराम प्रासाद में ) |
| १६. वाणिज्य ग्राम | ४६. वैशाली के समीप वेलुव ग्राम में। वैशाली से पावा होकर कुशीनगर में महापरिनिर्वाण। |
| १७. राजगृह | |
| १८. वाणिज्य ग्राम | |
| १९. वैशाली | |
| २०. वैशाली | |
| २१. राजगृह | |
| २२. नालन्दा | |
| २३. वैशाली | |
| २४. ,, | |
| २५. राजगृह | |
| २६. नालन्दा | |
| २७. मिथिला | |
| २८. ,, | |
| २९. राजगृह | |
| ३०. पावापुरी ( मल्ल राज्य ) में अन्तिम वर्षावास कार्तिक अमावस्या में निर्वाण। | |

महावीर के चातुर्मासों एवं बुद्ध के वर्षावासों की उपर्युक्त तालिका के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जहाँ महावीर ने ११ चातुर्मास राजगृह, ७ वैशाली, ५ वाणिज्य ग्राम, ४ मिथिला, नालन्दा तथा १ पावापुरी में व्यतीत किया था, वहीं बुद्ध २६ वर्षावास श्रावस्ती, ५ राजगृह, ३ चालिय पर्वत, २ वैशाली, १ कपिलवस्तु, १ ऋषिपत्तन मृगदाव ( सारनाथ ), १ मंकुल पर्वत, १ त्रायास्त्रिश, १ सुसुमार गिरि, १ कौशाम्बी, १ परिलेय्यक वन, १ नाला ब्राह्मण ग्राम, १ वेरञ्जा और

१ आलवी में व्यतीत किये थे। इसके अतिरिक्त भरत सिंह उपाध्याय[१] के अनुसार पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती पालि विवरणों में भगवान् बुद्ध के उत्तरकुरुद्वीप, कैलाश, मानसरोवर, चन्द्रभागा, चिनाव नदी के तट, नर्मदा नदी को पार कर **सूचनोपरान्त जनपद** लंका और वर्मा तक जाने का उल्लेख मिलता है। परन्तु उनकी यात्रा का न तो कहीं वर्णन किया गया है और न उसमें लगे समय का या रास्ते में पड़ने वाले विश्राम स्थलों का निश्चित उल्लेख किया गया है। प्रायः वायुमार्ग से या ऋद्धि बल से ही उन्हें पहुँचा दिया गया है जिसे पौराणिक विवरण ही कहा जा सकता है। साथ ही बुद्ध की चर्याओं का क्रम क्या था इस पर न तो त्रिपिटकों से प्रकाश पड़ता है और न ही अट्ठकथाओं से। अतः बुद्ध की चारिकाओं का कालक्रम के अनुसार पूर्ण भौगोलिक विवरण असम्भव है।

बौद्ध साहित्य[२] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने प्रायः मध्यदेश की सीमा के अन्तर्गत ही अपनी चारिकायें की थीं। उत्तर में वे हिमालय के पार्श्व में स्थित कोलिय जनपद के निगम सायुग एवं हरिद्वार के समीप श्री ध्वज पर्वत, दक्षिण में कौशाम्बी, पूर्व में मध्य प्रदेश की पूर्वी सीमा पर स्थित कजंगल निगम के वेणु वन तथा मुखेलु वन में विहार किया था। वे अंगुत राय के अपण नामक ग्राम में विश्राम किये थे। परन्तु उनके द्वारा कोशी नदी पार करने का कहीं विवरण नहीं है। बुद्ध पश्चिम में मथुरा तक गये थे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बुद्ध के चारिका एवं देशना का क्षेत्र यद्यपि मध्यदेश तक ही सीमित रहा है, परन्तु महावीर के चारिका एवं देशना के क्षेत्र से विस्तृत रहा है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि महावीर का अधिकांश समय प्रायः बिहार में व्यतीत हुआ। पूर्वी-उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। बुद्ध की चारिका एवं धर्म-प्रचार का क्षेत्र जितना बिहार में रहा है उतना ही पूर्वी उत्तर प्रदेश में भी रहा है।

आश्चर्यजनक यह है कि महावीर के विषय में बौद्ध साहित्य में प्रायः

---

१. बुद्धचर्या—पं० सांकृत्यायन, राहुल, पृ० ८९, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, द्वितीय संस्करण, १९५२।

२. बुद्धचर्या (हि०) पं० सांकृत्यायन, राहुल पृ० ६७, मज्झिमनिकाय (हि०) पं० सांकृत्यायन राहुल, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९३३।

विवरण प्राप्त होताहै जबकि बुद्ध के विषय में जैन साहित्य एवं जैन शास्त्रों में बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक के रूप में बुद्ध का कहीं नामोल्लेख तक नहीं मिलता है। जैन साहित्य में समकालीन महापुरुषों, महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन गौण रहा हैं। इसमें उपदेशों एवं सिद्धान्तों की ही प्रधानता रही है। जबकि बौद्ध साहित्य में उपदेश एवं सिद्धान्तों के साथ-साथ विभिन्न समसामयिक महापुरुषों एवं घटनाओं की भी व्यवस्थित चर्चा की गई है।

## महावीर-बुद्ध देशना

प्राचीनकाल से ही देशना (उपदेश) धर्म-प्रचार का प्रमुख साधन रहा है। महावीर एवं बुद्ध भी धर्म-प्रचार हेतु विभिन्न स्थलों की यात्रा करते थे और उपदेश देते थे। साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि मल्लराष्ट्र दोनों युग-पुरुषों की देशना का प्रमुख केन्द्र रहा है और यहाँ जैन एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या अधिक थी।

मल्लराष्ट्र और बुद्ध के सम्बन्ध के विषय में साहित्य से ज्ञात होता है कि महापरिनिर्वाण पूर्व बुद्ध ने कई बार कुशीनारा की यात्रायें की थीं। महावग्ग[1] से ज्ञात होता है कि एक बार आपण में विहार करने के पश्चात् साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के संघ के साथ बुद्ध ने कुशीनारा के लिए प्रस्थान किया। उनके आगमन का समाचार प्राप्त कर मल्लों ने निश्चय किया कि जो बुद्ध केस्वा गत के लिए नहीं जायेंगे उनको पाँच सौ कार्षापण का दण्ड दिया जायेगा। बुद्ध का स्वागत करने वालों में बुद्ध के अनन्य शिष्य आनन्द का अभिन्न मित्र राजमल्ल भी अनिच्छापूर्वक सम्मिलित था। राजमल्ल के हृदय में बुद्ध एवं बौद्ध धर्म के प्रति किसी प्रकार की आस्था नहीं थी। इसी समय वह बुद्ध से प्रभावित होकर उनका उपासक बना तथा बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। उसने विशेषतः शाकभाजी से बुद्ध का सत्कार किया।

कुशीनारा के दक्षिण-पश्चिम में हिरण्यवती नदी के तट पर मल्लों का उपवतन नामक शालवन था। महापरिनिर्वाण पूर्व बुद्ध का आगमन इस शालवन में हुआ था, जहाँ पर सुभद्र नामक ब्राह्मण परिव्राजक ने उनके दर्शन से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। इस शालवन

---

१. विनयपिटक (हि०) महावग्ग ६, पृ० २५२-२५३, म० पं० सांस्कृत्यायन, राहुल, महाबोधिसभा, सारनाथ, बाराणसी १९३५।

में बुद्ध ने अन्तिम उपदेश[1] देकर महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। उपवतन शालवन को कनिंघम[2] ने कसया के माथा कुँवर कोट से समीकृत करने का प्रयास किया है, जो वर्तमान में महापरिनिर्वाण मन्दिर से ४०० गज की दूरी पर स्थित है।

महापरिनिर्वाण-यात्रा के पूर्व भी बुद्ध का कुशीनारा के उपवतन में आगमन हुआ था, जहाँ उन्होंने 'अंगुत्तर निकाय[3] के कुशीनारा सुत्त' का उपदेश दिया था। उपवतन शालोद्यान के अतिरिक्त कुशीनारा के समीप बलिहरण वन और खण्डवन भी स्थित थे, जहाँ बुद्ध कई बार चर्या कर विहार किये थे। वहीं पर उन्होंने 'मज्झिम निकाय' के 'किन्तिसुतन्त्र' तथा 'अंगुत्तर निकाय' के 'कुशीनारा सुत्त' का उपदेश दिया।

बौद्ध साहित्य[4] 'संगीति परिपापउसुत्त' दीघनिकाय ३/१० से ज्ञात होता है कि बुद्ध ५०० भिक्षु-संघ के साथ चारिका करते हुए चुन्दकर्मार के आम्रवन में विहार किये थे। उस समय उन्होंने पावा के नवीन संस्थागार का उद्घाटन कर पावा के मल्लों को उपदेश दिया था। इस अवसर पर सारिपुत्र ने भिक्षुओं को संगठित रहने का भी उपदेश दिया था। एक बार बुद्ध पावा के आजकलपिय अथवा 'अजकपालिय' नामक चैत्य में विहार करते हुए ठहरे थे तो उन्होंने आजकलाप यक्ष को विनीत किया था, जैसा कि 'उदान'[5] से ज्ञात होता है। इन घटनाओं का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

'महापरिनिव्वाण सुत्त'[6] के अनुसार महापरिनिर्वाण के पूर्व अन्तिम

---

१. दीघ निकाय (हि०) महापरिनिर्वाण सुत्त, पृ० १४६, भारतीय बौद्ध बिहार परिषद्, लखनऊ, वि सं० १९१९।

२. कनिंघम, ए० आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ७७-८३ एवं ऐश्येंट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ४९४, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, १९७५।

३. अंगुत्तरनिकाय (हि०) कौसल्यायन, भदन्त आनन्द, पृ० २५५-२५६, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७।

४. मल्लसेकर, जो० पी० डिक्शनरी आव पालि प्रापरनेम्स, खण्ड १, पृ० ६५५, जानमुरे अलमार्टा स्ट्रीट, लन्दन, १९३८।

५. उदान (हि०) भिक्षु काश्यप, जगदीश, पृ० ८, महाबोधि सभा सारनाथ-बुद्धाब्ध–४८२।

६. दीघनिकाय (म० परि० नि० सुत्त हिन्दी) भारतीय बौद्ध बिहार परिषद्, लखनऊ, द्वि० सं० १९१९।

पड़ाव के समय चुन्दकर्मार के घर पर शूकर-मार्दव का अन्तिम भोजन ग्रहण कर बुद्ध रोगग्रस्त हो गये थे।

अन्य निगमों और ग्रामों के विषय में यह निश्चित नहीं हो पाया है कि ये नगर पावा के मल्लराष्ट्र में थे अथवा कुशीनारा के। अरुवेलकप्प मल्लराष्ट्र का एक नगर था। बुद्ध कई बार वहाँ गये थे। संयुत्तनिकाय के 'भद्द सुत्त'[1] और 'मल्लिक सुत्त'[2] का उपदेश इस नगर में ही दिया गया था। अंगुत्तरनिकाय[3] में भी आनन्द को साथ लेकर बुद्ध द्वारा इस नगरी में विहार करने का उल्लेख है। आनन्द को यहाँ ठहरने का आदेश देकर बुद्ध स्वयं दिन में ध्यान के लिए समीपस्थ महावन में चले गये थे। इसी समय तपस्सु नामक एक गृहस्थ से आनन्द आकर मिला था। आनन्द उसे लेकर बुद्ध के पास गये थे। बुद्ध ने उसे दुःख की उत्पत्ति और निरोध का उपदेश दिया, जिससे उसके चित्त को शान्ति मिली।

'अनूपिया' मल्लराष्ट्र का एक प्रसिद्ध निगम था। महावस्तु[4] में इसे अनोमिय कहा गया है और इसे मल्लराष्ट्र में स्थित माना गया है, क्योंकि शाक्य कुमार ने महाभिनिष्क्रमण के बाद अनोमा नदी को पारकर अनूपिया के आम्रवन में सात दिन तक ध्यान किया था। पालिपरम्परा के अनुसार यह कस्बा कपिलवस्तु से २० योजन दूर था। इस प्रकार कपिलवस्तु और राजगृह के बीच में यह स्थित था। अनूपिया कपिलवस्तु के पूर्व में स्थित था, क्योंकि शाक्य कुमार ने घर से चलकर शाक्य, कोलिय और मल्ल इन तीन प्रदेशों को क्रमशः पार किया था। बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् कई बार भगवान् अनूपिया में आये थे। कपिलवस्तु की प्रथम यात्रा से वापस लौटते हुए वे अनूपिया होकर राजगृह आये थे। इस यात्रा का विस्तृत विवरण 'चुल्लवग्ग'[5] से ज्ञात होता है।

---

१. संयुक्त निकाय (हि०) भिक्षु काश्यप, जगदीश, खण्ड २, भद्दसुत्त, पृ० ५८६-८८।

२. वही, मल्लिक सुत्त, पृ० ७२७, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५४।

३. अंगुत्तर निकाय (हि०) कौसल्यायन, भदन्त आनन्द, खण्ड ४, पृ० ४३८, ४४४, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७।

४. महावत्तु ? खण्ड-२, पृ० १८९।

५. चुल्लवग्ग, सम्पा० भिक्षु काश्यप, जगदीश, ७/३, पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, पटना, १९५६।

कपिलवस्तु में पुत्र राहुल को प्रव्रजित करने के पश्चात्, राजगृह जाने के पूर्व बुद्ध मल्लराष्ट्र स्थित अनूपिया के आम्रवन में विहार कर रहे थे। उस समय शाक्य देशवासी अनिरुद्ध ने अपने अग्रज-महानाम से प्रेरणा पाकर अपने मित्र शाक्यों, राजकुमार भद्दिय ( भद्र ) आनन्द, भृगु, किम्बिल, देवदत्त एवं उपाली नापित के साथ वहाँ पहुँचकर प्रव्रज्या ग्रहण किया। 'दीघ निकाय' के पथिक सुत्त[1] में भी बुद्ध के अनूपिया कस्बे में विहार करने का उल्लेख है। यहीं भार्गव गोत्र परिव्राजक का आश्रम था, जहाँ भगवान् एक बार गये थे। 'सुखविहारी जातक का उपदेश अनूपिया के आम्रवन में ही दिया गया था।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ग्राम मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत था। उदान[2] में बुद्ध द्वारा कुछ भिक्षुओं के साथ इस ग्राम में जाने और वहाँ के ब्राह्मणों द्वारा उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किये जाने का उल्लेख है। जातक से भी मल्लराष्ट्र के इसी यूण ब्राह्मण-ग्राम का परिचय मिलता है, जिसकी स्थिति मिथिला एवं हिमवन्त के बीच मानी गई है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह यूण ब्राह्मण-ग्राम मल्लराष्ट्र की पूर्वी सीमा पर स्थित था।

मल्लराष्ट्र, वैशाली (वैशाली जनपद) एवं श्रावस्ती (बहराइच और गोंडा जनपदों) के मध्य स्थित था। इन महानगरों से बुद्ध का घनिष्ठ सम्बन्ध था। बुद्ध की चारिकाओं से ज्ञात होता है कि उनका राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु में निरन्तर आवागमन हुआ करता था। इन नगरों के आवागमन के लिए बुद्ध को मल्लराष्ट्र से होकर ही जाना पड़ता था। यहाँ के नगरों एवं निगमों में वे विहार किया करते थे, तथा यहाँ के नागरिक उनके उपदेशों से सदा ही लाभान्वित हुआ करते थे। बुद्ध के जीवन तथा देशना के सन्दर्भ में मल्लराष्ट्र की महत्ता इसी से द्योतित होती है कि उनकी प्रथम यात्रा यहीं से प्रारम्भ हुई थी, तथा अन्तिम यात्रा भी यहीं समाप्त हुई थी।

आवश्यकचूर्णि[4] में महावीर द्वारा पावा में देशना देने का उल्लेख बार-

---

१. चु० व० ७/३—दी० नि० (पथिक सुत्त), ३/१, पृ० ३१५।

२. उदान (हि० अनु०) पृ० १०६-१०७।

३. जा० प्रथम खण्ड (हि० अनु०) पृष्ठ १०६-१०७।

४. आ० चू० (प्रथम भाग), पृ० ३२२-३२४।

बार आता है। महावीर ने वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन मज्झिमपावा में पधार कर महासेन वन में तीर्थ प्रवर्त्तन कर सामायिक प्रकाश किया था, जहाँ पर सोमिल ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। महावीर ने उसी स्थली पर पहली देशना दी थी, तथा उनका द्वितीय समवशरण भी वहीं पर हुआ था। यहीं, यज्ञ में आये हुए इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह ब्राह्मणों को उन्होंने गणधर के रूप में दीक्षित किया था, इसीलिए वे धम्मवर चक्कवट्टी कहलाये।

उक्त ग्रन्थ[1] से ज्ञात होता है कि मल्ल देश के थूणांक सन्निवेश क बाहर पहुँचकर निगंठ ज्ञातपुत्त ध्यानलीन हो गये तथा पांचवां वर्षाकाल समाप्त होने पर उन्होंने मल्लदेश की ओर प्रस्थान किया और थूणिय सन्निवेश (अनूपिया) पहुँचे।

कल्पसूत्र के १२१, १२२ सूत्र से ज्ञात होता है कि ४२वां चातुर्मास पावापुरी के राजा हस्तिपाल की पुरानी रज्जुकशाला में व्यतीत किया। वहाँ पर उन्होंने १६ हजार पहर तक निरंतर उपदेश दिया था, तत्पश्चात् चातुर्मास के ७वें पक्ष में श्रमण महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए थे।

उपर्युक्त वर्णन से इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है कि महावीर एवं बुद्ध का मल्लराष्ट्र में निरंतर आवागमन हुआ करता था। मल्लराष्ट्र में बौद्ध एवं जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अधिक थी। अपने धर्म प्रचार हेतु दोनों इस क्षेत्र पर अपने को केन्द्रित किये हुए थे। इसका स्पष्ट कारण यही प्रतीत होता है कि दोनों को इस क्षेत्र से विशेष लगाव था, तथा आवागमन के साधन की सुगमता थी। इस सम्भावना से भी नकारा नहीं जा सकता है कि इसके मूल में उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता एवं प्रतिस्पर्धा की भावना विद्यमान थी।

## मल्लराष्ट्र का पतन

जब तक मल्लराष्ट्र साधन-सम्पन्न रहा, सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली रहा, शासक कुशल रणनीतिज्ञ रहे, उसकी शासन-व्यवस्था सुदृढ़ रही, समाज सुसंगठित रहा, तब तक मगध सम्राट् मल्लराष्ट्र पर आँखें उठाने का साहस नहीं कर पाये। किन्तु निकटवर्ती गणतन्त्रीय राष्ट्रों के पतन तथा इसकी अन्य निर्बलताओं के कारण मल्लराष्ट्र की शक्ति शनैः शनैः क्षीण होने लगी। नन्दवंशीय महापद्म के शासन काल में मल्लराष्ट्र ने

---

१. आ० चू० प्रथम भाग, पृ० २८०, २८२, २९२।

मगध की अधीनता स्वीकार कर ली। अन्ततोगत्वा प्रथम शुंग शासक पुष्यमित्र के शासन काल में मल्लराष्ट्र, मगध साम्राज्य में पूर्णतया विलीन हो गया, इस प्रकार इसका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया।

बुद्ध के महापरिनिर्वाणोपरान्त तत्कालीन निकटवर्ती राष्ट्रों के इतिहास का अवलोकन मल्लराष्ट्र के ऐतिहासिक अध्ययन हेतु आवश्यक है। बुद्ध के जीवन काल में ही अपनी विस्तारवादी साम्राज्य नीति के कारण नाग-वंशीय वैदेहीपुत्र सम्राट् अजातशत्रु की दृष्टि वज्जि संघ पर लगी हुई थी। उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् ही महत्वाकांक्षी अजातशत्रु ने गण-संघ के मुख्य सदस्य लिच्छवि गणसंघ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। फिर भी मल्लराष्ट्र इसके अधिकार से परे रहा। अजातशत्रु के पश्चात् उसके वंशज राजा शिशुनाग ने कोसल तथा उनके निकटवर्ती राज्यों पर विजय प्राप्त कर मगध साम्राज्य का और विस्तार किया था। किन्तु राजनैतिक सूझ-बूझ के कारण मल्लराष्ट्र इससे प्रभावित नहीं हुआ। तत्पश्चात् राजा महापद्म ने भी भारत की दिग्विजय करते समय कुछ अन्य राजाओं को समूल नष्ट कर दिया तथा कुछ को अपने अधीनस्थ कर छोड़ दिया, जिसका वर्णन 'कलियुगराज वृत्तान्त'[1] से प्राप्त होता है—

कलि के प्रभाव से महानन्दी (शैशुनाग वंश का अन्तिम राजा) द्वारा शूद्रा रानी से महापद्म (जिसको घननन्द भी कहते थे) नामक प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हुआ। वह अत्यन्त लोभी, अत्यन्त बलवान और सब क्षत्रियों का नाश करने वाला था। दूसरे परशुराम के समान वह इक्ष्वाकुवंशी, पान्चाल, कुरुवंशी, हैहय (चन्द्रवंश की एक शाखा), कालक एक लिंग, शूरसेन, मैथिल तथा दूसरे राजाओं को जीतकर एकराट (सम्राट्) तथा

१. महानन्देश्च शूद्रायां महिष्यां कालिचोदितः।
उत्पत्स्यते महापद्मो धननन्द इति श्रुतः॥
अति लुब्धोऽतिबलो सर्वक्षत्रान्तको नृपः।
ऐक्ष्वाकांश्च पाञ्चालान् कौरव्यांश्च हैह्यान॥
कालकानेक लिंगांश्च शूर सेनांश्च मैथिलान्।
जित्वा चान्यांश्च भूपालान् द्वितीय इव भार्गवः॥
एकराट् स महापद्मः एकच्छत्रो भविष्यति।
सकृत्स्नामेव पृथ्वीमनुल्लंघित शासनः
शसिष्यति महापद्मो मध्ये विन्ध्यहिमालयोः।
कलियुग राजवृत्तान्त (तृतीय भाग) अध्याय—२

एकच्छत्र राजा होगा। वह अनुल्लंघित शासन होकर विन्ध्य और हिमालय के बीच सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करेगा।

उपर्युक्त विजित राजाओं की सूची में 'ऐक्ष्वाकान्' अर्थात् इक्ष्वाकु वंश के अन्तर्गत शाक्य, मौर्य एवं मल्ल सम्मिलित रहे हैं। इस सूची में नाग-वंशीय कोलियों का कहीं स्वतन्त्र उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, निःसंदेह वे 'अन्य राज्यों' में सम्मिलित रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि मगध सम्राट् महापद्म ने इस जनपद पर आक्रमण किया था, जिसके परिणाम-स्वरूप शाक्य एवं कोलिय गणतन्त्र का राजनैतिक अस्तित्व सदा के लिए नष्ट हो गया और इसी कारण उत्तरवर्ती ग्रन्थों से इन राष्ट्रों की कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। किन्तु मौर्य साम्राज्य के उदय के समय इन दोनों राज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मल्ल एवं मौर्य गणतन्त्र मगध की आधीनता स्वीकार कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भोग करते रहे हैं।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार मौर्य शासन काल में भी मल्लराष्ट्र का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र[1] से मौर्यकालीन भारतवर्ष की शासन प्रणाली के सम्बन्ध में सूचनायें प्राप्त होती हैं। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सभी एकतांत्रिक (राजाओं द्वारा शासित) राज्यों को समूल नष्ट कर दिया तथा उत्तर भारत के गणतंत्रों को अधीन कर लिया था, लेकिन उनकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रही। मौर्य कालीन गणतन्त्रों की निम्नलिखित सूची में मल्लक गणतन्त्र का भी उल्लेख है।

| | |
|---|---|
| १. काम्भोज | ६. कुरू |
| २. सुराष्ट्र | ७. पान्चाल |
| ३. क्षत्रिय | ८. मल्लक |
| ४. मद्रक | ९. लिच्छवि |
| ५. कुकुर | १०. वज्जि |

उपर्युक्त गणतन्त्रों की सूची के प्रथम तीन भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर भाग तथा चौथे से सातवें पूर्वी पंजाब एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गणतंत्र थे। बिहार में लिच्छवि एवं वृज्जि (वज्जि) गणतन्त्र का अस्तित्व बना रहा तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में केवल मल्लराष्ट्र ही शेष रह गया था। सूची में

१. कौटिल्य, अर्थशास्त्र ११/१।

मल्लराष्ट्र के लिए मल्लक का उल्लेख ('मल्लक' में 'क' लघुवाचक प्रत्यय) सम्भवतः इस तथ्य का द्योतक है कि मल्लराष्ट्र की शक्ति पहले से क्षीण हो गई थी, फिर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ था।

इससे प्रतीत होता है कि मौर्यकाल में मल्लराष्ट्र के शासनाध्यक्ष अपनी कुशलता एवं राजनैतिक प्रवीणता के कारण मगध सम्राट् के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। सम्राट् अशोक का बुद्ध की परि-निर्वाण भूमि कुशीनगर में आगमन मल्लराष्ट्र से मित्रवत् सम्बन्ध का परिचायक है। सम्राट् अशोक के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की शासन व्यवस्था शिथिल पड़ने लगी। मौर्य वंश के अन्तिम काल में देश की अव्यवस्था के कारण पुनः यूनानियों (बाख्त्रियों) के आक्रमण की आशंका बढ़ गई थी। निर्बल तथा प्रजापालन में अक्षम अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने शासनच्युत कर बागडोर अपने हाथ में ली। इस प्रकार शुंग-युग का आरम्भ हुआ। पुष्यमित्र वैदिक धर्म का प्रबल समर्थक तथा बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी था, इसकी धार्मिक कट्टरता के कारण ही उसके शासन काल में मल्लराष्ट्र का अस्तित्व सदैव के लिए समाप्त हो गया। इसके पश्चात् मल्लराष्ट्र या गणतन्त्र की चर्चा कहीं प्राप्त नहीं होती है। शुंगों के समकालीन पातंजल 'महाभाष्य' में जहाँ अनेक प्रदेशों एवं राज्यों का उल्लेख है, वहाँ मल्लराष्ट्र अथवा गणतन्त्र की कहीं भी चर्चा नहीं है। शुंग शासन-काल में लिखित मनुस्मृति में मल्लों के विषय में उल्लेख है :

> झल्लो मल्लश्च राजन्याद व्रात्यन्निच्छिविखेच ।
> नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥[1]

व्रात्य (वैदिक संस्कार से च्युत) क्षत्रिय एवं सवर्ण स्त्रियों से झल्ल, मल्ल, निच्छवि (लिच्छवि), नटकरण, खस, द्रविड़ आदि जातियाँ उत्पन्न हुईं। मनुस्मृति के उपर्युक्त विवरण से मल्लों के विषय में स्पष्ट है कि शुंग-युग में वैदिक धर्म के व्यापक प्रचार के कारण ही बौद्ध धर्मावलम्बी मल्लों को वैदिक संस्कार से च्युत घोषित कर वर्णसंकर जाति (निम्न-श्रेणी) में स्थान दिया गया था, जो उचित प्रतीत नहीं होता है।

उपरोक्त अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् मल्ल गणतन्त्र ने नागवंशी एवं मौर्यवंशी सम्राटों के अधीनस्थ

१. मनुस्मृति, १०/२२।

रहते हुए भी अपनी कुशलता, राजनैतिक सूझ-बूझ एवं वाक्पटुता के कारण उनसे मधुर सम्बन्ध स्थापित कर अपना अस्तित्व सुरक्षित रक्खा था, किन्तु शुंग वंश के प्रथम शासक पुष्यमित्र के शासन काल में उसका पतन हो गया।

किसी भी राष्ट्र के लोप हो जाने के कारण उसकी प्रमुख जाति की महत्ता भले ही घट जाय, किन्तु उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। विशाल मल्ल राज्य का समय-समय पर विस्तार एवं संकुचन होता रहा, अन्ततोगत्वा उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। लेकिन मल्ल जाति अब भी वर्तमान है।

कालांतर में मल्ल जाति की अनेक शाखायें विकसित हुई हैं, जिसमें मझौली के मल्ल प्रमुख हैं। इनका सम्बन्ध विसेन वंश से है। विसेन वंश की उत्पत्ति के विषय में इतिहास से ज्ञात होता है कि विक्रम से ३०० वर्ष पूर्व इस क्षेत्र में मौर्य और मल्ल दो राष्ट्र थे। मौर्य साम्राज्य के उदय से मौर्य गणतन्त्र उसमें विलीन हो गया, किन्तु मल्लराष्ट्र ने मौर्य साम्राज्य के अधीन रहकर भी अपने अस्तित्व को बचाये रक्खा। मौर्यों में बहुत से क्षत्रियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया था। चन्द्रगुप्त भी बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं था। उस समय तक मौर्यों में एकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की प्रवृत्ति उत्पन्न हो चुकी थी। मल्लों पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। जिसके फलस्वरूप विशाल मल्लराष्ट्र के दक्षिणी भाग, मझौली में, जो देवरिया जनपद के दक्षिणी छोर पर, देवरिया से दक्षिण-पूर्व में ३५ कि० मी० की दूरी पर स्थित है, एक छोटे राजवंश की स्थापना हुई थी। ऐसा ज्ञात होता है कि अमुक वैदिक धर्मावलम्बी मौर्य का विवाह मझौली की मल्ल राजकुमारी के साथ हुआ था, जिससे उत्पन्न विश्वसेन इस राजवंश के प्रथम पुरुष थे, किन्तु इसके ननिहाल में रहने के कारण इसके अभिजन अपने को विसेन सम्बोधित करने लगे। इस प्रकार मल्लों के मझौली राज्य में विसेन वंश की स्थापना हुई। विसेन क्षत्रियों के विषय में डॉ० राजबली पाण्डेय[1] का मत है कि मल्ल एवं मौर्यों के मिश्रण से उत्पन्न हुई नवीन राजवंशकी क्षत्रिय जाति की शाखा को विसेन सम्बोधित किया जाने लगा। मझौली के विसेन (मल्ल) राजवंश के विषय में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :—

१. मुख्य राजवंश की मल्ल उपाधि थी।

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद की क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० १४५-१४६।

२. मयूर (मौर्य) से उनका सम्बन्ध था।

३. मझौली उनकी राजधानी थी।

मल्ल जाति के विषय में काशी प्रसाद जायसवाल[1] का मत है कि मौर्यों के समय में या इसके कुछ पीछे गणजाति के रूप में मल्लों का तिरोभाव हो गया था, यद्यपि ग्यारहवीं शताब्दी तथा इसके बाद तक तिरहुत और नेपाल में व्यक्तिगत मल्ल परिवारों का उदय होता रहा है। मल्लों के वर्तमान प्रतिनिधि गोरखपुर और आजमगढ़ जिलों में मल्ल जाति के लोग हैं। हरनन्दन पाण्डेय[2] का कथन है कि पावा (नगरी) कुशी-नगर के बहुत पास स्थित थी। आज भी इस क्षेत्र में रहने वालों का एक भाग अपने को मल्ल कहता है हिन्दू समाज में उन्हें सैंथवार कहा जाता है, उनका समाज में स्थान आर्थिक समृद्धि एवं स्थानीय प्रभाव पर अव-लम्बित है। उनमें से कुछ तो जाति क्रम में क्षत्रियों के बाद माने जाते हैं। पड़रौना तहसील में सैंथवारों के सौ गाँव हैं। वे आर्य पूर्वजों से उत्पन्न हुए समझे जाते हैं। ऐसा अनुमान है कि सैंथावरों का यहाँ आगमन आजमगढ़ जनपद के लखनौर परगना से हुआ था, जहाँ पर उनके परिवार वाले अब भी बड़ी संख्या में निवास करते हैं और जो अपने को मल्ल सम्बोधित करते हैं। एक मान्यता यह भी है कि ये हुमायूँ के शासन काल में मझौली के राज-दरबार में सैंथवार सैनिक के रूप में इलाहाबाद से आये हुए थे। उनके वंशज राजपूत थे तथा वे मल्ल उपाधि धारण किये हुए थे। उच्च वर्ग के सैंथवारों को अब भी मल्ल सम्बोधित किया जाता है। वे क्षत्रिय होने का दावा करते हैं जिनको स्थानीय उच्च वर्ग के हिन्दू अनुचित मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि सैंथवारों के पूर्वज सैनिक रहे हैं। क्षत्रियों से उत्पत्ति का दावा करते हैं तथा अपने को मल्ल सम्बोधित करते हैं। उनमें से अधिकांश (धार्मिक उदासीनता के कारण) द्विजाद्योचित संस्कार नहीं करते हैं। उपर्युक्त तथ्य आधुनिक मल्लों एवं (बौद्ध धर्म से प्रभावित) प्राचीन प्रसिद्ध मल्लों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध के द्योतक हैं। राजबली पाण्डेय के अनुसार 'सैंथवार' शब्द प्राचीन 'संस्थागार' का प्राकृत रूप है। संस्थागार गणजातियों का सभाभवन था। ये जातियाँ गणतन्त्र के टूट जाने पर भी, बौद्ध संघ के प्रभाव से (बौद्ध संघ का संचा-

---

१. हि० पो० प्रथम भाग, पृ० ५०।

२. पाण्डेय हरनन्दन, जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, खण्ड ६, भाग २, पृ० २६२-२६५।

लन बराबर गणतांत्रिक ढंग से होता था), अपने सामाजिक और धार्मिक कामों के लिए संस्थागार (सभा-भवन = पंचायत स्थान) का उपयोग करती रहीं इसीलिए सैंथवार नाम से ये लोग प्रसिद्ध हो गये और वह नाम अभीतक प्रचलित है।"[1] राहुल सांकृत्यायन[2] ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए लिखा है कि आजकल के 'सैंथवार जाति' के लोग कुशीनारा (कुशीनगर) के मल्लों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मल्लराष्ट्र के मगध साम्राज्य में विलीन होने के पश्चात् भी मल्लों का अस्तित्व बना हुआ है। मल्ल एवं इसकी उपजातियाँ उदाहरण स्वरूप विशेन, सैंथवार आदि गोरखपुर मंडल के देवरिया, गोरखपुर, आजमगढ़, बस्ती आदि जनपदों में बिखरी हुई हैं, जिसका मुख्य केन्द्र देवरिया जनपद का मझौली एवं पडरौना क्षेत्र है।

उपर्युक्त अध्ययन से मल्ल राष्ट्र के गौरवशाली इतिहास का आभास होता है। रामायण एवं महाभारत काल में इसकी महत्ता के कारण ही इसका निरन्तर उल्लेख आता है। बुद्धकाल में यह उन्नति के शिखर पर पहुँच चुका था। इसका एक मात्र कारण तीर्थंकर महावीर एवं महात्मा बुद्ध का इस क्षेत्र से अटूट सम्बन्ध रहा है। रामायण काल से बुद्ध काल के समय को मल्ल राष्ट्र के स्वर्णिम युग की संज्ञा से सुशोभित किया जा सकता है। गणतंत्रीय शासन-प्रणाली, संगठित समाज, अग्रजों के प्रति आदर, अनुजों के प्रति स्नेह, महिलाओं के प्रति सम्मान एवं सह-अस्तित्व का यह सशक्त हस्ताक्षर है। यहाँ की आर्थिक सम्पन्नता, धार्मिक-सहिष्णुता, साहित्य एवं कला की उन्नति, मल्लों की परिष्कृत अभिरुचि का अनुपम उदाहरण है। उत्थान में ही पतन निहित होता है। मल्ल राष्ट्र भी इससे अछूता नहीं रहा।



---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली–गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० १५२, १५९।

२. पं० सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्या (हि०), पृ० १६७।

चतुर्थ अध्याय

# पावा की अवस्थिति सम्बन्धी विभिन्न मत

जैन और बौद्ध साहित्यिक साक्ष्यों के विवेचन से स्पष्ट है कि अपापा, पावा या पापा महावीर और बुद्ध दोनों से ही सम्बद्ध रही और अपनी राजनीतिक स्थिति, कला, संस्कृति एवं वैभव की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। फिर भी इसकी प्राचीनता, भौगोलिक स्थिति आदि के विषय में आज भी विद्वान् सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। समय-समय पर विभिन्न स्थलियों की पहचान पावा के रूप में की जाती रही है। इस प्रकरण में अद्यावधि पावा के रूप में प्रसिद्ध या पावा संज्ञक स्थलियों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

जहाँ तक पावा की प्राचीनता का प्रश्न है विद्वानों में मतभेद है। डॉ० राजबली पाण्डेय[1] के अनुसार इस नगरी का बुद्ध-पूर्व कोई संकेत नहीं मिलता है परन्तु डॉ० बाजपेयी[2] ने महाभारत में कई स्थलों पर पावा के उल्लेख की चर्चा की है। खेद का विषय है कि इतिहासकारों, पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा समय-समय पर प्रयास के बाद भी पावा के इतिहास एवं इसकी स्थिति के विषय में सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका। अद्यावधि निम्न स्थलों को पावा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है—

१. ग्राम-पपतार, तहसील-पडरौना, जनपद-देवरिया ( उ० प्र० )
२. पवैय्या, जनपद-गोरखपुर ( उ० प्र० )
३. माझा, जनपद-चम्पारण ( बिहार )
४. उस्मानपुर, तहसील-पडरौना, जनपद-देवरिया ( उ० प्र० )
५. झरमठिया, तहसील-पडरौना, जनपद-देवरिया ( उ० प्र० )
६. पपउर, तहसील-हाटा, जनपद-देवरिया ( उ० प्र० )
७. सठियाँव-फाजिलनगर, तहसील-पडरौना, जनपद-देवरिया (उ० प्र०)
८. पावापुरी, जनपद-नालन्दा ( बिहार )
९. पडरौना, तहसील-पडरौना, जनपद देवरिया ( उ० प्र० )

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, 'गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास', पृ० ७७, गोरखपुर १९४६।

२. प्रो० बाजपेयी, कृष्णदत्त 'लोकेशन आव पावा', पृ० ४७, पुरातत्व, नई दिल्ली १९८७।

साहित्यिक साक्ष्यों एवं स्थल-सर्वेक्षण के आधार पर उक्त स्थलों का विवरण इस प्रकार है :

**१. पपतार :**

देवरिया जनपद के पडरौना तहसील स्थित पपतार की पावा के रूप में चर्चा मिलती है। मात्र गोरांगगोपाल सेनगुप्त[1] ने इस ग्राम को पावा के रूप में पहचान की है। पडरौना तहसील के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि यहाँ पपतार नामक ग्राम का कोई अस्तित्व नहीं है। विद्वान् की इस मान्यता का आधार क्या रहा है इस सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है।

**२. पवैय्या :**

डॉ० हीरालाल जैन[2] के मत में गोरखपुर जनपद स्थित पवैय्या नामक स्थान पावा है किन्तु डॉ० जैन अपने मत के समर्थन में कोई साहित्यिक अथवा पुरातात्त्विक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। स्वतन्त्र जनपद घोषित होने के पूर्व देवरिया गोरखपुर जनपद का ही अंग था। अतः कुशीनगर का निकटवर्ती क्षेत्र गोरखपुर जनपद का ही अंग रहा होगा। अतः सम्भव है पहले गोरखपुर में सम्मिलित वर्तमान पडरौना अथवा पपउर ( देवरिया ) ही असावधानीवश पवैय्या उल्लिखित अथवा मुद्रित हो गया हो।

**३. माझा :**

बिहार प्रदेश के गोपालगंज जनपद की सदर तहसील में, पूर्वोत्तर रेलवे की गोपालगंज-छपरा लूप लाइन पर गोपालगंज के निकट स्थित माझा ( माझागढ़ ) को कपिलदेवगिरि[3] ने पावा के रूप में पहचान करने का प्रयास किया है। लेकिन अपने पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं दे पाये हैं जिससे उसे पावा के रूप में स्वीकार किया जा सके।

---

१. सेनगुप्त, गोरांगगोपाल, 'डेलीलैण्डरुट्स इन एंशिएंट इण्डिया', पृ० १-४, पटना १९६८।

२. जैन, हीरालाल, 'पावासमीक्षा'—सं० कन्हैयालाल सरावगी, पृ० १५, अशोक प्रकाशन, कटरा बाजार, छपरा, बिहार १९७२।

३. गिरि, कपिलदेव—'महावीर की निर्वाण भूमि पावा की स्थिति', श्रमण, नवम्बर १९७०।

**४. उस्मानपुर :**

देवरिया जनपद के अन्तर्गत फाज़िलनगर से दक्षिण-पूर्व में ६ कि० मी० की दूरी पर उस्मानपुर ग्राम स्थित है। इसके पावा होने की सम्भावना से भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग[1] ने १९७३-७४ में यहाँ उत्खनन करवाया था। परन्तु कोई ऐसा साक्ष्य नहीं प्राप्त हुआ जो इसे पावा सिद्ध कर सके।

**५. झरमठिया :**

देवरिया जनपद में पडरौना से दक्षिण-पूर्व दिशा को ओर १२ कि० मी० दूरी पर स्थित कुबेर स्थान से ७ कि० मी० पर तुरपट्टी का टोला नुनिया पट्टी है। नुनिया पट्टी से झरमठिया १० किमी० है। इस प्रकार पडरौना से दक्षिण-पूर्व में २८ किमी० की दूरी पर सिन्दूरिया बुजुर्ग ग्रामसभा में झरमठिया है। यहाँ से १.५ कि०मी० पश्चिमोत्तर में लोह लँगड़ी ग्राम है जहाँ भग्नावशेषों का टीला है। टीले का शीर्ष भाग समतल है। सठियाँव फाजिलनगर से यह उत्तर-पूर्व दिशा में ७ कि० मी० पर स्थित है। जनश्रुति के अनुसार इसे ५२ बीघा टीला कहा जाता है। किसी समय में यह मदनसिंह का कोट रहा है। वर्तमान में टीले को कंकालीस्थान नाम से सम्बोधित किया जाता है और यहाँ नर्वदेश्वरी शिव मन्दिर स्थापित है। कार्लाइल[2] ने इस टीले का विस्तृत वर्णन किया है। उनके मत में सम्भवतः इसे राजाजोबनाथ ने निर्मित कराया था। इसकी महत्ता की पुष्टि फ्यूरर[3] ने भी की है। पुरातत्त्व के विद्वानों का मत है कि पावा के निर्णय हेतु इस स्थल का सर्वेक्षण तथा उत्खनन होना चाहिए।

पावा के समीकृत किये जाने वाले उपरोक्त अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण पाँच स्थलों पपतार, पवैय्या, माझा, उस्मानपुर और झरमठिया के अलावा पपउर, सठियाँव, फाजिलनगर, पावापुरी और पडरौना को पावा सिद्ध

---

१. इन्डियन आर्कियोलाजी रिव्यू, रिपोर्ट १९७३-७४।

२. कार्लाइल, ए० सी० एल०, 'आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया' रिपोर्ट १९७५-७६-७७, पृ० ११५-१६।

३. फ्यूरर, ए०—मानुमेन्टल एंटिक्विटीज एण्ड इन्स्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ० २४० इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६९।

करने हेतु विद्वानों ने गम्भीर प्रयास किया है। इन विद्वानों ने अपनी मान्यता के पक्ष में यथासम्भव साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस क्रम में हर्मन याकोबी[1] ही प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने महावीर के निर्वाण-स्थल के विषय में मुख्यतः निम्न दो स्थलों की चर्चा की है—प्रथम बौद्ध साहित्य के आधार पर पावा शाक्य राज्य में स्थित थी जहाँ महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था और बुद्ध ने महापरिनिर्वाण पूर्व अन्तिम प्रवास किया था। दूसरा स्थल जैन धर्मावलम्बियों के मान्यतानुसार महावीर के निर्वाण-तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध वर्तमान नालन्दा जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीप स्थित पावा।

हर्मन याकोबी पावा के विषय में असमंजस की स्थिति में हैं। एक ओर वे यह मानकर चलते हैं कि जिस प्रकार पावा काल्पनिक हो सकती है उसी प्रकार महावीर के निर्वाण की घटना भी काल्पनिक हो सकती है। दूसरी ओर उनका मानना है कि महावीर निर्वाण स्थली के सम्बन्ध में जैनों की परम्परा के विषय में शंका करना उचित नहीं है। याकोबी के मत पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए मुनि नागराज[2] ने कहा है कि सम्भव है बौद्ध शास्त्रों में जिस पावा का उल्लेख किया गया है, नाम-साम्य के कारण उसमें कुछ भूल हुई हो और ऐसी भूलों का होना असम्भव भी नहीं है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि निर्वाण सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य ही मनगढ़न्त हैं। वस्तुस्थिति यह है कि ऐतिहासिक साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में पावा के विषय में याकोबी की शंका निर्मूल सिद्ध होती है।

परम्परा और इतिहास में बहुधा आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। परम्परा सम्मत पावा दक्षिण बिहार में है वहाँ के भव्य मन्दिरों ने उसे जैन तीर्थ बना दिया है। लेकिन ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्य निश्चित रूप से इसके प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। महावीर के निर्वाण के अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के १८ गणराजाओं की उपस्थिति दक्षिणी बिहार के पावा में सम्भव नहीं है क्योंकि वह उनके शत्रु प्रदेश मगध में स्थित थी।

---

१. याकोबी, हर्मन—'सेक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट' वाल्यू० ३१, पृ० ९, १९ २६४, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन, १८४४।

२. मुनि, नगराज—आगम और त्रिपिटक....एक अनुशीलन–भाग–१, पृ० ५४, कलकत्ता १९२०।

शार्पेन्टियर[1] भी पावा-विषयक बौद्ध साहित्य के उल्लेखों से असहमत होते हुए दक्षिण बिहार वाली पावा को मान्यता देते हैं। रीज़ डेविड्स[2] पावा की स्थिति के विषय में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं। वे बुद्धकालीन १६ महाजनपदों में से एक मल्ल जनपद की राजधानी पावा को हिमालय और गंगा के मध्य में कोशल के पूर्व स्थित होने का अनुमान करते हैं। स्मिथ,[3] हिरणावती नदी को गण्डक से समीकृत करते हैं। हिरणावती नदी के निकट कुशावती या कुशीनारा की स्थिति मानते हैं और कुशीनारा के आस-पास पावा को खोजने का प्रयास करते हैं।

वील एवं डॉ० विमलचरण लाहा[4] ने पावा को कुशीनगर के अन्तर्गत माना है। इन विद्वानों के अनुसार ह्वेनसांग ने चुन्द का निवास-स्थान कुशीनगर में देखा था, चूँकि चुन्द पावा का निवासी था इसलिए वे पावा एवं कुशीनगर को एक ही नगर मानते हैं।

पावा के सम्बन्ध में डॉ० लाहा[5] का मत विचारणीय है जो उनकी निम्न पुस्तकों में प्राप्त होता है :--

**१. हिस्टोरिकल ज्याग्रफी आव इण्डिया :**

इस ग्रन्थ में वील द्वारा प्रतिपादित मत कि चुन्द का गृह कुशीनगर में था, के आधार पर कुशीनगर व पावा को एक बताया गया है। साथ ही स्मिथ की मान्यता कि सम्भवतः हिरण्यवती ही गण्डक है, जिसके तट पर कुशीनगर या कुशावती स्थित थी, के आधार पर कुशीनगर में ही पावा को खोजने का प्रयास किया गया है।

**२. ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म :**

इस ग्रन्थ में लाहा[6] संशय की स्थिति में दिखाई पड़ते हैं। किसी स्थान

---

१. शार्पेन्टियर जे०—'दि डेट आव महावीर इण्डियन एन्टीक्वरी' वाल्यू० XLIII पृ० ११८, १२५, १६७, बाम्बे १९१४।

२. डेविड्स, रीज़—बुद्धिस्ट रिकार्ड आव द वेस्टर्न वर्ल्ड, वाल्यू० २, पृ० ३१-३२।

३. स्मिथ, वी०—'अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया', पृ० १६७, चतुर्थ संस्करण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९२४।

४. डॉ० लाहा, विमलचरण—हिस्टोरिकल ज्याग्रफी आव एन्शिएण्ट इण्डिया पृ० ११६, पेरिस १९५४।

५. वही, पृ० ११६।

६. डॉ० लाहा, विमलचरण—'ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृ० १९, लन्दन १९३२।

पर वे कनिंघम द्वारा प्रतिपादित पडरौना को पावा के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कुशीनगर से १२ मील की दूरी पर उत्तर-पूर्व दिशा में है तो कहीं पर वे कार्लाइल द्वारा मान्य कुशीनगर से १२ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित फाजिलनगर सठियाँव को पावा कहते हैं।

इतना ही नहीं इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक[1] द्वारा भारत वर्ष का मानचित्र प्रस्तुत किया गया है जिसमें पावा को स्पष्टतः कुशीनगर के दक्षिण-पूर्व में अंकित करते हुए स्वीकार किया गया है कि सठियाँव फाजिलनगर पावा है। ऐसा प्रतीत होता है कि लाहा स्वतन्त्र विचार नहीं बना पाये हैं, नहीं तो वे किसी एक स्थल को ही पावा घोषित करते।

उपर्युक्त विवरण प्रस्तुत करने का आशय यही है कि भौगोलिक स्थिति के अनुसन्धान का अनेक विद्वानों ने प्रयास किया है, किन्तु वे सदा ही असमंजस की स्थिति में रहे हैं। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि क्षेत्रों का सर्वेक्षण एवं उत्खनन सम्भव नहीं हो पाया है और साहित्यिक साक्ष्यों पर विद्वान् गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर पाये हैं।

**पावा-पपउर**

देवरिया जनपद के अन्तर्गत पडरौना तहसील में पडरौना से ६$\frac{1}{2}$ मील उत्तर-पश्चिम में पडरौना-रामकोला राजमार्ग के उत्तर तथा पडरौना-रामकोला रेलवे लाइन के उत्तर-दक्षिण दोनों तरफ पपउर ग्राम बसा हुआ है। इसकी जनसंख्या लगभग २००० है। पपउर ग्राम से १$\frac{1}{2}$ फर्लांग पश्चिम में पपउर 'धूँस' ( टीला ) रेलवे लाइन के दोनों तरफ ( उत्तर और दक्षिण में ) स्थित है। इस धूँस पर माँ काली का मन्दिर है।

पं० राहुल सांकृत्यायन प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने पपउर को पावा की संज्ञा दी थी। लेकिन इस स्थल के निर्वाण भूमि होने के सम्बन्ध में उन्हें संशय प्रतीत होता है। एक ओर वे कसया से १२ मील उत्तर-पूरब स्थित पडरौना को पावा के रूप में मान्यता देते हैं तो दूसरी ओर पडरौना के समीपस्थ पपउर को निर्माण भूमि (पावा) मानते हैं।[2]

१. डॉ० लाहा, विमलचरण--ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म, पृ० १९, लंदन १९३२।

२. पं० सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्या ( हिन्दी ), पृ० ३५२।

मोतीचन्द्र[1] श्रावस्ती-राजगृह मार्ग का विस्तार से उल्लेख करते हुए पावा की पहचान पडरौना तहसील के पपउर गाँव से करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने पं० राहुल सांकृत्यायन के मत का अनुमोदन मात्र ही किया है अपना कोई स्वतन्त्र विचार नहीं उपस्थित किया है। नाथूराम प्रेमी[2] भी राहुल सांकृत्यायन की भाँति पपउर को ही पावा के रूप में मानते हैं। विद्याधर जोहरापुरकर[3] भी पपउर को ही पावा मानने के पक्ष में हैं। बलदेव उपाध्याय[4] पहले पपउर को पावापुर से जोड़ते थे किन्तु 'पावा की पहचान तथा वैशाली-पावा मार्ग की खोज'[5] पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए स्वीकार किये हैं कि पडरौना ही पावा ज्ञात होता है।[6]

पपउर को पावा के रूप में मान्यता देने के विरुद्ध दो बातें मुख्य रूप से हमारे समक्ष आती हैं। प्रथम पपउर टीले के मध्य से पडरौना-रामकोला रेलवे लाइन निकली है। रेलवे लाइन के निर्माण के समय उत्खनन में कोई ऐसी पुरातात्त्विक सामग्री नहीं प्राप्त हो सकी जिससे पपउर टीले को पावा से सम्बद्ध किया जा सके। दूसरे, पपउर ग्राम से टीले पर जाने के लिए आज कोई मार्ग नहीं है। रामकोला से भी टीले पर जाने के लिए पगडण्डी अथवा रेलवे लाइन का सहारा लेना पड़ता है। प्राचीन काल में भी यदि कोई मार्ग रहा होता तो आधुनिक काल में भी वह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता।

इस प्रकार मेरे विचार से पपउर को पावा के रूप में मान्यता देने का कोई ठोस आधार नहीं है।

**पावा : सठियाँव-फाजिलनगर**

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में पडरौना तहसील के अन्तर्गत सठियाँव-फाजिलनगर स्थित है। यह कुशीनगर से १० मील दक्षिण-पूर्व

---

१. डा० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १७, १८।
२. प्रेमी, पं० नाथूराम, जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ४२४।
३. सं० जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दन संग्रह, पृ० १५७।
४. उपाध्याय, पं० बलदेव—भगवान महावीर वैशाली की दिव्यविभूति, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २४१।
५. युगयुगीन सरयूपारीण, पृ० ५९-७८।
६. पं० बलदेव उपाध्याय के २२-२-८८ के पत्र के आधार पर।

२६°.८० अक्षांश उत्तर और ८४° १८ देशान्तर पूरब लखनऊ-गोहाटी राजमार्ग नं० २८ पर स्थित है। सठियाँव एवं फाजिलनगर दो अलग-अलग ग्राम हैं। सठियाँव में एक डीह (टीला) है। टीले पर एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में ग्राम बसा है। यह विशाल टीला भूमि से लगभग ६ मीटर ऊँचा है। इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम लगभग १२० मीटर और उत्तर से दक्षिण लगभग ८० मीटर है। फाजिलनगर, सठियाँव से उत्तरी-पूर्वी कोने में पूरब-उत्तर-पूर्व की ओर करीब २३०० फीट या १/२ मील से भी कम दूरी पर स्थित है। फाजिलनगर थाने के समीप ही मुख्य राजमार्ग के उत्तरी ओर फाजिलडीह (टीला) स्थित है। यह टीला सड़क के किनारे-किनारे पश्चिम से पूर्व को चला गया है।

फ्यूरर[1] ने सठियाँव डीह या टीले की लम्बाई उत्तर से दक्षिण १९०० फीट तथा चौड़ाई पूर्व से पश्चिम ९०० फीट बताया है। इस डीह के पश्चिम में १२००'×५५०' का एक तालाब है। इस डीह से लगभग ६५०' की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में दूसरा वृत्ताकार टीला (व्यास २७०') है। इसके अलावा डीह के निकट अनेक टीले एवं पोखरे हैं। सठियांव डीह से लगभग $\frac{1}{2}$ मील दूरी पर उत्तर-पूर्व में फाजिला या फाजिलनगर स्थित है। इसके निकटवर्ती टीले पर एक विशाल आयताकार स्तूप के भग्नावशेष दृष्टिगोचर होते हैं जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम २७०' फीट तथा चौड़ाई उत्तर-दक्षिण १५७' है। इस स्तूप के धरातल की परिधि लगभग ४००' एवं ऊँचाई ६३.५' फीट होनी चाहिए। टीले के विस्तृत पूर्वी भाग में उक्त स्तूप से लगभग ४० फीट उत्तर-पूर्व दिशा में एक टीला है जिसकी परिधि लगभग १७०' है जो प्राचीन आयताकार मन्दिर का भग्नावशेष प्रतीत होता है। इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम लगभग ३०' तथा चौड़ाई उत्तर से दक्षिण लगभग २१' है।

कार्लाइल[2] पहले विद्वान् हैं जिन्होंने सठियाँव-फाजिलनगर को ही

---

१. फ्यूरर ए०, मानुमेन्टल एन्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ० २४०, इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६९।

२. कार्लाइल, ए० सी० एल०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट खण्ड, १८, पृ० १०१, इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६९।

पावा के रूप में मान्यता दी थी। डॉ० राजबली पाण्डेय[1] ने भी कार्लाइल के सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए सठियाँव-फाजिल नगर को ही पावा माना है। भिक्षु धर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य[2] ने भी इसे ही पावा स्वीकार किया है।

कार्लाइल, डॉ० राजबली पाण्डेय, धर्मरक्षित, आदि विद्वान् सठियाँव को चैत्यग्राम का अपभ्रंश मानते हुए इसे ही पावा समझते हैं। परन्तु १९७९ में वहाँ के उत्खनन[3] से यह निश्चित हो गया है कि सठियाँव 'चैत्यग्राम' का अपभ्रंश न होकर श्रेष्ठिग्राम का अपभ्रंश है।

भाषा-विज्ञान के आधार पर भी सठियाँव से पावा का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। कन्हैयालाल सरावगी[4] के अनुसार सठियाँव श्रीपावा का अपभ्रंश है। 'श्री' का प्राकृत रूप सरि या सठि होता है पावा का कालान्तर में यावा-याँवा हो गया। इस प्रकार श्रीपावा = सरिपावा = सठिपावा = सठियाँवा बन गया। बोलचाल में सुविधा हेतु इसे सठियाँवा कहने लगे। परन्तु डॉ० नेमिचन्द शास्त्री[5] के अनुसार पावा का अपभ्रंश सठियाँव सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत तर्क युक्तिसंगत नहीं है। प्राकृत नियमानुसार श्री का 'सरि' होना तो उचित है परन्तु र का ठ नहीं बनता है। इस प्रकार सठियाँव को 'पावा' का अपभ्रंश मानना युक्ति संगत नहीं है और आज तो पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सठियाँव का प्राचीन रूप 'श्रेष्ठिग्राम' प्रमाणित हो जाने के पश्चात् यहाँ कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है।

प्राचीन पावा का नाम परिवर्तित होकर फाजिलनगर हो जाने के

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७८, गोरखपुर १९४६।

२. भिक्षु, धर्मरक्षित—'कुशीनगर का इतिहास', पृ० २१६-२२६ कुशीनगर प्रकाशन, कुशीनगर देवरिया, बुद्धाब्द २४९३।

३. फाजिलनगर-सठियाँव उत्खनन, संक्षिप्त परिचय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर १९७९।

४. सरावगी, कन्हैयालाल—पावा समीक्षा, पृ० ४२, अशोक प्रकाशन, छपरा, सारण बिहार १९७२।

५. डॉ० शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी देशना, पृ० ३०१, ३०३, दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, सागर, मध्यप्रदेश १९७४।

विषय में आनन्द प्रसाद जैन[1] का कथन है पावा काल के प्रवाह में स्मृति-पटल से ओझल हो गया। सम्भवतः किसी मुसलमान शासक ने 'पावा नगर' नाम को फाजिलनगर के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार पावा सदा के लिए भुला दिया गया। परन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इतिहास से ज्ञात होता है कि मौर्य शासन काल के उत्तरार्ध में पावा का लोप हो चुका था और मौर्य काल में भारत में मुस्लिम सत्ता का अस्तित्व ही नहीं रहा है।

सठियाँव-फाजिलनगर के उत्खनन[2] से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—

१. पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में फाजिलनगर से सटे ग्राम सठियाँव का नाम श्रेष्ठिग्राम था।

२. यहाँ से मिट्टी की १० मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। इसमें एक मुद्रा पर 'श्रेष्ठिग्रामाग्रहारस्य' लेख है। वर्तमान सठियाँव-फाजिलनगर स्वयं अग्रहार के रूप में प्रतिष्ठित था। इसका निर्माण वर्तमान फाजिलनगर के बालू के टीले के ऊपर गुप्तकालीन बस्ती के रूप में किया गया था। 'अग्रहार' एक विशेष प्रकार का सन्निवेश था, जो राज्य की ओर से विद्वान् ब्राह्मणों को उपहार स्वरूप दिया जाता था जहाँ शासक विद्वान् ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर बसा देते थे। उस भूभाग का भूमिकर अग्रहार वासियों को प्राप्त होता था। अग्रहार की स्थापना की परम्परा गुप्तकाल से प्रारम्भ हुई। गुप्तकाल में यह शिक्षा का केन्द्र बन चुका था।

३. यहाँ खण्डित-अवस्था में मिट्टी की मानव एवं पशु की कई लघु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिसमें गुप्तकालीन शैली का सौन्दर्य पूर्णरूपेण उपस्थित है। इसमें अश्व एवं अश्वारोहों की मूर्ति प्रमुख है।

४. यहाँ से गुप्तकालीन भवनों की कुछ भग्नदीवारें व वृत्ताकार चबूतरे का मध्यकुण्ड प्राप्त हुआ है। बुर्ज के आकार की गोलाकार संरचनाओं से किसी गढ़ी के निर्माण की धारणा व्यक्त की गई है।

५. सठियाँव के गड्ढे से मौर्ययुग की ईंटों से निर्मित दीवार के अवशेष लालरंग के बर्तन के साथ, काले लेपयुक्त (ब्लैक खण्ड) तथा कृष्णमार्जित

---

१. जैन, आनन्द प्रसाद ( शोधपत्र ) निर्वाण भूमि पावा, मगध विश्वविद्यालय संगोष्ठी, अप्रैल १९७५।

२. फाजिलनगर सठियाँव उत्खनन—गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर १९७९।

भाण्ड ( एन० बी० बी० ) तथा धरातल से कुछ काले-लाल भाण्ड ( ब्लैक एण्ड रेड ठीकरें ) भी मिले थे।

यहाँ से प्राप्त ईंटों की माप—४२ सेमी० × २६ से० मी० × ६ से० मी० है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सठियाँव प्राचीन श्रेष्ठिग्राम है और फाजिलनगर सठियाँव क्षेत्र का निर्माण मौर्यकाल एवं गुप्तकाल में आरम्भ हुआ था। इसके पहले कोई अस्तित्व नहीं था। इन रिपोर्टों से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि श्रेष्ठिग्राम का पावा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ तक सठियाँव-फाजिलनगर की पावा के रूप में पहचान का प्रश्न है, विद्वान् अनिश्चय की स्थिति में रहे हैं। 'ए हिस्टारिकल एटलस आफ साउथ एशिया'[1] में सठियाँव-फाजिलनगर के निकट पावा अंकित है। इस नगर के पावा होने पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया गया है—

सिंहली बौद्ध ग्रन्थ दीपवंस एवं महावंस में पावा की स्थिति कुशीनगर से मही ( गंडक ) नदी की ओर ( तीन गब्यूति ) १२ मील बताई गई है। फाजिलनगर-सठियाँव कुशीनगर से १० मील पूर्व-दक्षिण में स्थित है। मही ( गंडक ) नदी से सठियाँव-फाजिलनगर का न सम्बन्ध रहा है और न है।

इस प्रकार पुरातात्त्विक साक्ष्य एवं बौद्धसाहित्य के उल्लेख सठियाँव फाजिलनगर को पावा मानने के पक्ष में नहीं हैं। अतः सठियाँव-फाजिलनगर की पहचान पावा के रूप में करना उचित नहीं है।

**पावापुरी : नालन्दा**

दक्षिण-बिहार के नालन्दा जनपद में मुख्यालय से लगभग ७ मील दक्षिण-पश्चिम में पावापुरी स्थित है। पावापुरी परस्पर १.५–२ मील दूरी पर स्थित पावा तथा पुरी नाम के पृथक् ग्राम हैं। पावापुरी पटना-राँची मार्ग पर पटना से ५ मील दूर तथा २५°५ अक्षांश एवं ८५° ३२' देशान्तर पर स्थित है। यहाँ से बिहार शरीफ ( उड्डयनपुरी ) ७ मील की दूरी पर दक्षिण दिशा में है। गिरियक की पहाड़ी से यह लगभग ३ मील उत्तर की दिशा में बसी हुई है। राजगृह से पगडण्डी

---

१. सम्पा० पाल, विटले—ए हिस्टारिकल एटलस आव साउथ एशिया, यूनिवर्सिटी आव शिकागो प्रेस, शिकागो एण्ड लंदन, १९७८।

द्वारा पावापुरी की दूरी ८ मील है, तथा मार्ग द्वारा २२ मील है। कुशीनगर से यह पावापुरी गंगा के उस पार दक्षिण-पूर्व में लगभग २३५ मील की दूरी पर है।

सर्वप्रथम बुकनन[1] ने १८१२ में पावापुरी तथा इसके निकटवर्ती क्षेत्र का निरीक्षण एवं सर्वेक्षण किया था। इसके बाद फ्रेकलिन[2] ने १८२० में तथा कीट्टो[3] ने १८४७ में इसका सर्वेक्षण किया। कनिंघम,[4] ब्राडले[5] एवं वेग्लर[6] ने इसका सर्वेक्षण कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है—जैसे लिस्ट आव मानुमेट्स आव बंगाल,[7] बिहार एवं उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स,[8] भण्डारकर लिस्ट[9] कुरेशी लिस्ट[10] में पावापुरी का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ तक पावा और पुरी का सम्बन्ध है पुरी में मन्दिरों का समूह है जबकि पावा में मन्दिर नगण्य हैं। बुकनन[11] के सर्वेक्षण के समय पोखरे के उत्तर में पुरी ग्राम तथा वहाँ से लगभग १ मील की दूरी पर पावा ग्राम

---

१. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, 'हिस्ट्री एन्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया', खण्ड १, पृ० १६८, १६९, १९५, १९७, दिल्ली, १९७६

२. फ्रैंकलिन-इण्डियन एन्टीक्वरी खण्ड ३१, पृ० ७०, बाम्बे—१९०२

३. कीट्टो, एम०—'आन द रूट आव फाह्यान', जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, पृ० ९५५, कलकत्ता १८४७

४. कनिंघम, ए०—'आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया' रिपोर्ट, खण्ड-१, पृ० २८, इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी।

५. जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, पृ० २८, ३४, कलकत्ता-१८४७

६. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट, खण्ड-८, पृ० ७७-७८

७. लिस्ट आव मानुमेन्ट्स आव बंगाल, पृ० २४२-२५६ कलकत्ता।

८. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, बंगाल-उड़ीसा, पृ० २१७-२३०, रिवेन्यू डिपार्टमेन्ट, पटना, बिहार।

९. भण्डारकर लिस्ट खण्ड—१९ से २३

१०. कुरेशी लिस्ट, पृ० ६७, ९४

११. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, हिस्ट्री एन्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इंडिया, खण्ड १ (पटना, गया) दिल्ली, द्वि० संस्करण १९७६।

स्थित था। गुलाबचन्द्र चौधरी[1] के अनुसार नालन्दा जिले में स्थित पावापुरी या पावा नगरी या पावा ग्राम एक न होकर पावा और पुरी दो भिन्न गाँवों का सम्मिलित नाम है। परस्पर वे १.५, २ मील दूरी पर स्थित हैं। जैन धर्मावलम्बी, पोखरपुर एवं दशरथपुर के मध्य के भूभाग को पावापुरी सिद्धक्षेत्र रूप में मानते हैं। पुरी में विशाल मन्दिरों की शृङ्खला दृष्टिगोचर होती है। पुरी के प्राचीन काल से ही ग्राम होने की पुष्टि यहाँ स्थित मुख्य, ग्राम मन्दिर या समवसरण मन्दिर, जहाँ महावीर ने कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् उपदेश दिया था, से होता है। ग्राम मन्दिर के अतिरिक्त जलमन्दिर व श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों के अनेक मन्दिर, यहाँ निर्मित हैं। यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए धर्मशालायें भी निर्मित हैं। वर्तमान में यहाँ विद्यमान दो मंजिला ग्राम मन्दिर के ५ भव्यशिखर दो मंजिला भव्य धर्मशाला उसके मुख्य विशाल द्वार, निकटवर्ती अन्य धर्मशालाएँ, दीनशाला, जलमन्दिर एवं निकटवर्ती पर्यटक विभाग कार्यालय, महताव बीबी मन्दिर, दिगम्बर मन्दिर आदि आकर्षक भवन हैं। १८१२ में बुकनन[2] ने इस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया। उनके अनुसार पुरी स्थित ग्राम मन्दिर के दोनों आँगन के चारों कोणों पर ४ शिखर निर्मित थे। मुख्य मन्दिर ईंट निर्मित वृत्ताकार चबूतरे के रूप में था, इस पर पलस्तर किया हुआ था। चबूतरे की परिधि निचले भाग की परिधि से बड़ी थी जिस पर प्रस्तर निर्मित महावीर के युगल चरण स्थापित थे। ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ निर्मित थीं। इन मन्दिरों के निर्माण का श्रेय प्रसिद्ध जगत सेठ तथा उनके परिवार वालों को था।

कनिंघम[3] ग्राम मन्दिर या समवसरण मन्दिर को अपूर्व, दर्शनीय एवं निर्माण कला का अनुपम उदाहरण मानते हैं। ब्राडले[4] ने सम्भावना व्यक्त की है कि पुरी के दक्षिण में सरोवर के निकट गुम्बदाकार प्राचीन

---

१. डॉ० चौधरी, गुलाबचन्द्र, भगवान महावीर की निर्वाण भूमि पावा, पृ० ४८, गोरखपुर १९७३।

२. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, हिस्ट्री एन्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इंडिया, ( पटना-गया ) खण्ड १, पृ० १६८-६९।

३. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट, जिल्द--१, पृ० २८।

४. जर्नल आव एसियाटिक सोसायटी आव बेंगाल १८७२ पृ० २९९।

टीले का जो अवशेष रहा होगा, उसे समवसरण मन्दिर के चबूतरे के निर्माण के समय उपयोग में लिया होगा। वहाँ से उन्हें अनेक बुद्ध प्रतिमायें प्राप्त हुई थीं। इसी कारण उन्होंने इसे बौद्ध स्मारक अथवा स्तूप के रूप में स्वीकार किया है। जे० डो० बेंगलर[1] ने १८७२-७३ के अपने सर्वेक्षण के समय पुरी के मुख्य मन्दिर का जीर्णोद्धार होते हुए देखा था। गुलाबचन्द्र जैन[2] के अनुसार पुरी ग्राम में श्वेताम्बरों का एक बृहद् जैन मन्दिर है। पुरी के मन्दिरों की तुलना में पावा के मन्दिर नगण्य प्रतीत होते हैं। पावा के सर्वेक्षण के समय बुकनन[3] ने ६०′×१५०′ के धरातल पर निर्मित ईंट एवं मिट्टी के खण्डित अवस्था में प्राप्त टीले को देखा था। इन्होंने टीले में बुद्ध की कुछ कलाकृतियों के होने की सम्भावना व्यक्त की थी। इन भग्नावशेष के दोनों तरफ सरोवर थे। एक सरोवर के समीप एक लघुसूर्य मन्दिर, जिसमें लक्ष्मी की प्रतिमा स्थापित थी, निर्मित था। इसके १८ वीं शताब्दी के अन्त में निर्मित होने की सम्भावना है।

डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[4] के अनुसार पुरी ग्राम में श्वेताम्बरों का एक विशाल जैन मन्दिर है, पुरी के मन्दिरों की तुलना में पावा के मन्दिर नगण्य प्रतीत होते हैं। पावा के विषय में डॉ० चौधरी ने लिखा है, 'पावा एक ग्राम का नाम है जो प्रसिद्ध प्राचीन बौद्ध बिहार घोषितराम (घुसराना) तथा तिमिरराम (तितरांवा) के समीप स्थित है। वहाँ प्राचीनता के द्योतक चिन्ह नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ जैन धर्मावलम्बी कभी भक्तिभाव प्रकट करने भी नहीं गये हैं। महावीर की निर्वाण-स्थली से पावा का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि पावा ग्राम की जनश्रुतियों में भी इसकी कोई चर्चा नहीं है।

पुरी के ग्राम मन्दिर की प्राचीनता के विषय में अनेक रोचक तथ्य

---

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट ८, पृ० ७७-७८, (१८७२-७३)।

२. डॉ० चौधरी- गुलाबचन्द्र—भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि पावा, पृ०४८।

३. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर० हिस्ट्री एन्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इंडिया (पटना-गया) खण्ड १, पृ० १६८-६९।

४. डॉ० चौधरी, गुलाबचन्द्र, भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि पावा, पृ० ४९।

प्रकाश में आते हैं। जे० डी० बेंगलर[१] के अनुसार इस मन्दिर में कुछ प्राचीन मूर्तियाँ हैं जो आज से शताब्दियों पहले खण्डित हो जाने के कारण अपूज्य हो गई थीं। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[२] ने बताया है कि इन मूर्तियों में से एक पर संवत् १२६० का अभिलेख उत्कीर्ण है—"संवत् १२६० ज्येष्ठ सुदी २ रेनुमा ? प्र० चोराकेनात्मक श्रेयोऽर्थ श्री महावीर बिम्बकारितं प्रतिष्ठितं च श्री अभयदेवसूरिभिः"। पूर्णचन्द नाहर[३] ने भी इसकी पुष्टि की है। इस प्रकार पावापुरी का सबसे प्राचीन अभिलेख सत् १२०३ ई० का है, जिसके अनुसार वि० सं० १२६० ज्येष्ठ सुदी २ में श्री महावीर का बिम्ब तैयार हुआ जिसे अभयदेवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। इसमें न तो इस स्थल को महावीर निर्वाण-स्थली बताया गया है और न उसकी निर्वाण-स्थली के रूप में पावापुरी का नाम अंकित है। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[४] ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि इसमें न तो स्थान का नाम उत्कीर्ण है और न इसमें महावीर की निर्वाण स्थली होने का कोई दावा ही पेश किया गया है। अनुमानतः भक्तों द्वारा पूजा-अर्चना की सुविधा हेतु अतीत काल में राजगृह आदि स्थानों से लाकर इस मूर्ति को यहाँ स्थापित किया गया था।

ग्राम मन्दिर का दूसरा अभिलेख मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन काल का है जिसे बुकनन[५] ने लिपिबद्ध किया है। उनके मतानुसार वहाँ से प्राप्त अभिलेखों में सबसे प्राचीन अभिलेख विक्रम संवत् १६०५ ( १५४८ ई० ) का है। भण्डारकर[६] की सूची में इस अभिलेख को वि० संवत् १६९७ ( १६४० ) का माना गया है। किन्तु बाद के विद्वानों ने इसको बैसाख सुदी ५ वि० संवत् १६९८ ( १६४१ ई० ) का माना है।

---

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट ८, १७२-७३, पृ० ७७।
२. डॉ० चौधरी, गुलाबचन्द्र, भगवान महावीर की निर्वाण भूमि पावा, पृ० ४९।
३. नाहर, पूर्णचन्द—जैन लेख संग्रह भाग ३, पृ० २७३ इंडियन मिरर स्ट्रीट कलकत्ता १९२७।
४. डॉ० चौधरी गुलाबचन्द्र, भगवान महावीर की निर्वाण भूमि पावा, पृ० ४९-५०।
५. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०—हिस्ट्री एन्टीक्विटीज। टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया, खण्ड १, पृ० १६८-६९
६. भण्डारकर लिस्ट—१००३

इस अभिलेख से पावापुरी ग्राममन्दिर के जीर्णोद्धार के विषय में ज्ञान होता है। इस अभिलेख को बिहार निवासी खरतरगच्छीय महान्तियाण संघ ने शाहजहाँ के शासनकाल (१६२७-१६५८) में वेदी के नीचे स्थापित करवाया था। इस अभिलेख में २१ पंक्तियाँ हैं। विजयसिंह नाहर[1] के अनुसार इस विशाल प्रशस्ति शिलालेख को पुरातत्त्वविद् पूर्णचन्द नाहर ने वेदी से निकालकर ग्राम मन्दिर की दीवाल में स्थापित करवाया था। अभिलेख की दूसरी पंक्ति एवं तीसरी पंक्ति में तिथि तथा पातिशाह साहिजाँह की चर्चा है। अभिलेख की दूसरी पंक्ति में प्रथम बार इस बात का उल्लेख मिलता है कि पावापुरी चौबीसवें जिनाधिराज श्री वर्धमान स्वामी के निर्वाण-कल्याणक से पवित्र है। उपरोक्त तथ्यों की डी० आर० पाटिल,[2] गुलाबचन्द्र चौधरी[3] एवं योगेन्द्र मिश्र[4] ने भी पुष्टि की है।

डी० आर० पाटिल[5] का मत है कि वर्तमान ग्राम मन्दिर की अपेक्षा यह अभिलेख अधिक प्राचीन है। सम्भवतः प्राचीन ग्राम मन्दिर के नष्ट हो जाने पर इसे आधुनिक ग्राम मन्दिर में स्थापित किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम काल में आवागमन की असुविधा एवं गंगा के उत्तरी क्षेत्र से जैनमतानुयायियों का सम्बन्ध न होने के कारण १६४९ ई० में नालन्दा जनपद की यह पावापुरी महावीर की निर्वाणभूमि पावा के रूप में मान्यता प्राप्त होकर पूज्य हो गयी। ग्राम मन्दिर से सम्बद्ध ७ अन्य लेख क्रमशः संवत् १५११ माघ सुदी सोमवार, १७७२, १९१०, १९२३, १९२९, १९३२, १९५३ और १९५८ के हैं। प्रतीत होता है कि मुर्शिदाबाद, कलकत्ता, बिहार शरीफ (पटना-जिला) पाटन, येवला

१. नाहर, विजयसिंह—'पावापुरी दिग्दर्शन' महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारिका, पृ० ८७, नालन्दा, बिहार १९७४
२. पाटिल, डी० आर०—एन्टीक्वेरियन रिमेन्सेज इन बिहार, पृ० ४२२ पटना, १९६३
३. डॉ० चौधरी, गुलाबचन्द्र—भगवान महावीर की निर्वाण भूमि पावा–प्राचीन पावा, पृ० ४१, ग रखपुर १९७३
४. डॉ० मिश्र, योगेन्द्र—श्रमण भगवान महावीर की वास्तविक निर्वाण भूमि पावा, प्राचीन पावा, पृ० १७, ४५, गोरखपुर १९७३
५. पाटिल, डी० आर—एन्टीक्वेरियन रिमेन्सेज इन बिहार, पृ० ४२२, पटना १९६३

और बम्बई के धनवान श्रावकों ने इस तीर्थस्थली के विस्तार में योगदान किया है।

महत्त्व की दृष्टि से पावापुरी के मन्दिरों में ग्राम मन्दिर के पश्चात् जलमन्दिर का क्रम आता है। इस मन्दिर के प्रादुर्भाव के विषय में श्री विजयसिंह नाहर[१] ने रोचक तथ्य प्रस्तुत किया है। महावीर का निर्वाण सुनकर दूर-दूर से देव एवं मानव आये तथा ग्राम मन्दिर से १ मील दूर इसी स्थान पर उनके पार्थिव शरीर का बडी धूमधाम से अग्नि संस्कार किया गया। सभी आगन्तुक देव एवं मानव यहाँ को थोड़ी-थोड़ी मिट्टी ले गये, फलतः इतना बड़ा गड्ढा हो गया जिसने सरोवर का रूप ग्रहण कर लिया।

श्री नाहर ने जलमन्दिर एवं उसके निर्माण के विषय में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। बुकनन[२] ने १८१२ के अपने सर्वेक्षण के आधार पर बताया है कि यह जैनमन्दिर पोखरे (झील) में टापू सदृश था इसी कारण इन्होंने इसे पोखरपुरी की संज्ञा दी है। उस समय टापू पर जाने के लिए उत्तर दिशा से पगडण्डी थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान पुल बुकनन के सर्वेक्षण के बाद आज से लगभग १०० वर्ष पहले बना होगा इसके पहले जलमन्दिर तक नौका द्वारा जाना पड़ता था और सर्वेक्षण के बाद ही इस मन्दिर का जीर्णोद्धार भी किया गया ऐसा विद्वानों का मत है। पाश्चात्य विद्वान् जे० डी० बेंगलर[३] ने सन् १८७२-७३ में लिखा है कि वर्तमान रूप में यह मन्दिर उसकी यात्रा के काल के थोड़ा ही पहले बना होगा। वहाँ पहुँचने का रास्ता मिट्टी भरकर बनाया गया था। उसने जब पहले देखा था तब वह काम पूरा नहीं हुआ था।

मुनि नगराज[४] ने भी स्वीकार किया है कि प्राचीन जलमन्दिर का

---

१. नाहर, विजयसिंह—पावापुरी दिग्दर्शन, भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारिका पृ० २७-२८

२. मान्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०—'हि० ए० टो० स्टै० इ० इ०' खण्ड-१, पृ० १६८-६९

३. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया रिपोर्ट, ८, पृ० ७७, १८७२-७३

४. मुनि नगराज, निर्वाण एवं परिकल्पना, भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारिका, पृ० ७२

जीर्णोद्धार एवं संगमरमर लगवाने का कार्य सम्भवतः १९१२ ई० में सम्पन्न हुआ था। प्राचीन पुल का जीर्णोद्धार एवं उसे चौड़ा करवाने, उस पर लाल पत्थरों की रेलिंग लगवाने तथा सुदृढ़ प्रवेश द्वार के निर्माण का कार्य सम्भवतः १९३८ में आरम्भ हुआ। इसके निर्माण में कई वर्ष लगे। प्रवेश द्वार अनुपम है, पुल की लम्बाई ६०० फीट है। इसके निर्माण में कलकत्ता के जौहरियों का विशेष योगदान रहा है। चारों ओर परकोटा के निर्माण की योजना थी, किन्तु वह पूरी नहीं हो सकी।

ऐतिहासिक उल्लेखों और परम्पराओं में विरोध होने पर किसी स्थान के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति स्पष्ट करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यही बात महावीर की निर्वाण-स्थली पावा के सम्बन्ध में भी है। जैनधर्मावलम्बी परम्परागत रूप से नालन्दा जनपद में स्थित पावापुरी को निर्वाण-स्थली मानते चले आ रहे हैं किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्य इसको निर्वाण-स्थली मानने के विपरीत हैं। परम्परा एवं इतिहास के इस अन्तर्विरोध से अवगत श्री भँवरलाल नाहटा[1] का मत उल्लेखनीय है—बहुत से स्थानों का सही निर्णय केवल इतिहास के आधार से नहीं किया जा सकता है। परम्परा का भी अपना महत्त्व है। हजारों वर्षों से लोकश्रद्धा बिहार-प्रान्त स्थित मध्यमा पावा को ही प्रभु का प्रयाण-स्थल समझकर अपनी भक्ति प्रकट करती आ रही है, इसलिए राजनैतिक या निहित स्वार्थ में लिप्त कुछेक वर्ग या सम्प्रदाय की तात्विक व्याख्या सामयिक लाभ के लिए ही है। विदेशी विद्वानों ने प्रायः बौद्ध त्रिपिटकों को ही अपने इतिहास लेखन में सहायक माना है। जैन सिद्धान्त एवं जैनागमों में व्यक्त विचार उन्हें एकांगी नजर आये हैं। फलतः उनका निर्णय स्पष्ट नहीं हो सकता क्योंकि सम्प्रदायगत विद्वेष से एक दूसरे को हेय समझने को बाध्य हैं। मेरा अपना विचार है कि लोक परम्परा लोकाचार के द्वारा बिहार स्थित मध्यमा पावा या युगपुरुष की निर्वाण भूमि को अपने विश्वास का केन्द्र मानती आयी है इसलिए हम उस लोकमंगलमयी लोकभावना के समक्ष नतमस्तक होने को बाध्य हैं। हमारा इतिहास इसके विरुद्ध नहीं है। बौद्धों द्वारा मान्य पावा वस्तुतः बौद्धों की पावा है और वह जैनों की पावा नहीं है।

---

१. नाहटा, भँवरलाल, विश्वमित्र दैनिक, पृ० ४, १२ अप्रैल १९८४ कलकत्ता

मुनि नगराज[1] ने भी परम्परा और ऐतिहासिकता के अन्तर्विरोध को स्वीकार किया है—परम्परा सम्मत पावा दक्षिण बिहार में है और वहाँ के भव्य मन्दिरों ने उसे जैनतीर्थ बना दिया है। साथ ही उन्होंने स्पष्ट किया है कि ऐतिहासिक साक्ष्य से इस बात का परिज्ञान नहीं होता है कि पावा वहाँ है। महावीर के निर्वाण के अवसर पर पावा में मल्लों और लिच्छवियों के १८ गणराजाओं की उपस्थिति पावा के उत्तरी बिहार में स्थित होने की ओर संकेत करती हैं। दक्षिण बिहार की वर्तमान पावा तो निश्चय ही उनके शत्रु प्रदेश में थी। वे अपने कट्टर शत्रु मागधों के प्रदेश में कैसे उपस्थित हो सकते थे ? दूसरे यदि पावा मगध राज्य में स्थित होती तो, महावीर निर्वाण के समय जो उस काल की महान घटना थी, सम्राट कुणिक अजातशत्रु वहाँ अवश्य उपस्थित होते।

महावीर के निर्वाण के समय पावा में और बुद्ध के परिनिर्वाण के समय कुशीनगर में मगध सम्राट अजातशत्रु की अनुपस्थिति के सम्बन्ध में डॉ० बाजपेयी[2] ने लिखा है कि यह आश्चर्यजनक है किन्तु कुशीनगर में अजातशत्रु के उपस्थित होने में बाधा यह थी कि वह मल्लों की प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता से ईर्ष्या करता था। विचारणीय यह है कि उसने मगध के निवासियों के अनुरोध पर अपना दूत बुद्ध के धातु अवशेषों को प्राप्त करने के लिए भेजा था।

डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी[3] भी मगधसम्राट अजातशत्रु की उस पुनीत अवसर पर अनुपस्थिति पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं क्योंकि जैन स्रोतों के अनुसार वह महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान था। यदि निर्वाण मगध के किसी स्थान पर हुआ होता तो अजातशत्रु वहाँ अवश्य पहुँचता। इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पसूत्र के अनुसार निर्वाण काल में केवल शत्रु राजा ही उपस्थित थे ऐसी स्थिति में मगध राज्य के किसी भी स्थान पर पावा की स्थिति असम्भव थी। अतः महावीर को निर्वाण-स्थली मगध में नहीं अपितु ऐसे प्रदेश में होनी चाहिए जहाँ पर मल्ल और लिच्छवी तो एकत्रित हो गये परन्तु अजातशत्रु अनुपस्थित रहा। ऐसा स्थल मल्ल अथवा लिच्छवी प्रदेश में ही सम्भव था अन्यत्र नहीं। हर्मन याकोबी[4]

१. मुनि नगराज, भगवान महावीर एवं बुद्ध की समसामयिकता, पृ० १६१
२. डॉ० बाजपेयी, कृष्णचन्द्र—लोकेशन आव पावा, पृ० ५४।
३. डॉ० चतुर्वेदी, शैलनाथ—प्राचीन पावा, पृ० ५-६, गोरखपुर १९७३।
४. डॉ० याकोबी, हर्मन—से० बु० आव द ई०, खण्ड २२, पृ० २६६।

ने लिखा है कि कल्पसूत्र के अनुसार जिस समय महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था उस समय मगध के शत्रुगण ने एक महोत्सव किया जो पन्द्रह वर्ष पूर्व वैशाली के युद्ध की किसी विजयपूर्ण घटना की स्मृति में मनाया गया था।

जहाँ तक अठारह गणों की भौगोलिक स्थिति का प्रश्न है कल्पसूत्र में इन गणों को ( काशी कोशलस्थ ) काशी कोशल में स्थित बताया गया है अर्थात् ये गणराज्य मगध से अलग काशी एवं कोशल में स्थित थे।

जैन और बौद्ध साहित्य में कुणिक अजातशत्रु का बहुशः उल्लेख होने के कारण विद्वानों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा कि वह जैन अनुयायी था या बौद्धानुयायी या दोनों धर्मों में से किस धर्म के प्रति अधिक अनुराग रखता था। टी० डब्ल्यू० रीज डेविड[१] का मत है कि यद्यपि बौद्ध त्रिपिटकों में सम्राट् अजातशत्रु सम्बन्धित वर्णन अधिक प्राप्त होता है फिर भी वे बौद्ध धर्म के हितैषी मात्र थे अनुयायी नहीं। अजातशत्रु द्वारा बुद्ध से मिलकर श्रामण्य फल पूछने का एक उल्लेख प्राप्त होता है। इस चर्चा के परिणाम के विषय में रीज डेविड ने लिखा है कि अन्त में सम्राट् अजातशत्रु ने बुद्ध को अपना मार्ग दर्शक स्वीकार कर लिया और पितृ-हत्या के लिए पश्चात्ताप किया। फिर भी निश्चित प्रमाण के अभाव में कुणिक ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया या नहीं इस विषय में किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है। राधाकुमुद मुखर्जी[२] ने भी श्रामण्यफल सूत्र के आधार पर इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है कि अजातशत्रु का झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति था किन्तु इसे उन्होंने धारण नहीं किया था।

रीज़ डेविड[3] के अनुसार इस बात का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता है कि कुणिक द्वारा बुद्ध या उनके संघ के किसी भी भिक्षु का दर्शन किया गया या कभी उनके साथ धर्म-चर्चा की गई। यहाँ तक कि उसके द्वारा भिक्षु के जीवन काल में भिक्षु संघ को कभी आर्थिक सहायता देने का

---

१. रीज डेविड, टी० डब्ल्यू०—बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १५-१६ कलकत्ता, प्रथम सं० १९५०।

२. मुखर्जी, राधाकुमुद—हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० १९१, भारतीय विद्याभवन बम्बई १९५०।

३. रीज़ डेविड, टी० डब्ल्यू०,—बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० १५-१६।

भी उल्लेख नहीं है। योगेन्द्र मिश्र[1] का मत है कि सम्राट अजातशत्रु का झुकाव इस समय बौद्ध धर्म को ओर ही था।

जैन साहित्य में भी कुणिक सम्बन्धी संस्मरण कुछ अधिक रहा है सम्भव है उनका सम्बन्ध जैन धर्म से अधिक रहा हो। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद अजातशत्रु द्वारा उनके धातु अवशेषों की माँग के विषय में रीज डेविड[2] का कथन है कि सम्राट् ने अपने दूत द्वारा यह कहकर बुद्ध के धातु अवशेषों को प्राप्त किया कि वे भी उन्हीं की भाँति एक क्षत्रिय हैं। बुद्ध के धातु अवशेषों को प्राप्त कर उन्होंने उस पर स्तूप बनवाया। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि बुद्ध-निर्वाण के तत्काल बाद ही जब राजगृह में प्रथम संगीति हुई, अजातशत्रु ने सप्तवर्णी गुफा के द्वार पर एक सभा भवन बनवाया था जहाँ बौद्ध पिटकों का संकलन हुआ। सम्भवतः बौद्ध धर्म स्वीकार न करके भी उसने बौद्ध धर्म के प्रति जो सहानुभूति दिखाई वह भारतीय राजाओं की इस मान्यता के अनुरूप थी कि सब धर्मों का संरक्षण राजा का कर्त्तव्य होता है।

योगेन्द्र मिश्र[3] ने मगध सम्राट् अजातशत्रु और पावा के राजा हस्तिपाल के एक होने की सम्भावना को स्पष्टतः इन्कार किया है।

वास्तव में पावा की भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए जहाँ पर मल्ल, लिच्छवी एवं काशी-कोशल के गण-राजा महावीर निर्वाण की सूचना पाते ही पहुँच जायें। इन लिच्छवी गणराजाओं में क्षत्रिय कुण्डपुर के महावीर स्वामी के कुछ स्वकुलीन ज्ञातृक गण-राजा भी रहे होंगे। उस समय काशी-कोशल मे कई छोटे-छोटे गण राज्य फूल-फल रहे थे। पावा स्वयं भी तो काशी-कोशल क्षेत्र में ही थी। अतः भौगोलिक सामीप्यता, शासन पद्धति की समानता एवं भगवान् महावीर की भक्ति के कारण काशी-कोशल, वज्जि के अट्ठारह गण राजा तुरन्त आ गये।

जैन ग्रन्थों में पावा के विषय में विस्तार से विवेचन हुआ है। महावीर के निर्वाणोपरान्त, सिर्फ पावा का ही वर्णन आता है, लेकिन

---

१. मिश्र, योगेन्द्र—श्रमण भगवान् महावीर की वास्तविक निर्वाण भूमि पावा, राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ, पृ० १९६, कलानिधि प्रकाशन, देवरिया।

२. रीज़ डेविड, टी० डब्ल्यू०—बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १५-१६।

३. मिश्र, योगेन्द्र—श्रमण भगवान् महावीर की वास्तविक निर्वाण भूमि पावा, पृ० १९६।

७वीं से १२वीं शताब्दी के जैन साहित्य में पावापुरी का निरन्तर उल्लेख आता है। गुलाबचन्द्र चौधरी[1], के अनुसार—"पावा विषयक, जैन उल्लेखों का विश्लेषण करने से पता लगता है कि महावीर के निर्वाण स्थल के रूप में पावा की अनुश्रुति, जैन ग्रन्थकारों के पास थी किन्तु वह कहाँ है इसका ज्ञान उन्हें नहीं था। यदि उनका आशय नालंदा जिले की वर्तमान पावापुरी से होता जो मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से (आजकल पगडंडी के रास्ते) ९-१० मील की दूरी पर स्थित है तो मगध राज्य के उल्लेख के अन्तर्गत पावापुरी की चर्चा अवश्य रही होती। महावीर के निर्वाण का वर्णन करते समय राजगृह और पावा का साथ-साथ उल्लेख होना चाहिए था, पर ऐसा किसी ग्रन्थ में नहीं किया गया है। राजगृह का वर्णन आचरांगसूत्र, सूत्रकृतांग, भगवतीसूत्र; ज्ञाताधर्म-कथा, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिक, उत्तराध्ययन, तिलोयपण्णत्ति, पद्म-पुराण, हरिवंश पुराण, विविध तीर्थ-कल्प आदि ग्रन्थों में मिलता है। पर किसी भी ग्रन्थ में राजगृह के निकटस्थ पावापुरी या पावा का उल्लेख नहीं है। जबकि राजगृह से १ मील दूर स्थित, नालंदा का वर्णन, राजगृह के साथ-साथ बहुत बार आया है। सूत्रकृतांग में एक अध्याय का नाम नालन्दीय अध्ययन है। विविध तीर्थकल्प (सन् १३०७ ई०) के वैभार-गिरि कल्प (११ वाँ) में राजगृह के आस-पास के स्थानों का वर्णन दिया गया है, उसमें नालन्दा का भी उल्लेख किया गया है, पर राजगृह के समीपस्थ पावा का इस कल्प में उल्लेख नहीं किया गया है। 'वैभार-गिरिकल्प' का रचना काल वि० सं० १३६४ है।

बौद्ध ग्रन्थ महापरिनिर्वाणसुत्त के चतुर्थ भाणवार[2] के अध्ययन सुमंगल विलासिनी[3] में, कुशीनगर में महापरिनिर्वाण के पूर्व पावा में चुन्द कुमार पुत्र के यहाँ सूकरमार्दव की अन्तिम भिक्षा ग्रहण कर बुद्ध रुग्ण हो गये थे। वे पावा से कुशीनगर तक की यात्रा में २५ स्थानों पर ठहरते हुए सायंकाल तक कुशीनगर के शालवन में पहुँच पाये थे। आधुनिक

१. चौधरी, गुलाबचन्द्र—भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि पावा, प्राचीन पावा, पृ० ६२।

२. दीघनिकाय, (हि० अनुवाद,) महापरिनिव्वाण सुत्त, २-३, पूर्वोक्त पृ० १३६-१४०।

३. प्रो० तिवारी, महेश—'सुमंगल विलासिनी' द्वि० सं०, पृ० २८२ नव-नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना १९७४।

विद्वान् मलल सेकर[1], श्री नाथूराम प्रेमी एवं नेमिचन्द्र शास्त्री ने भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है। रुग्णता की ऐसी भीषण अवस्था में बुद्ध के लिए बिहार शरीफ के निकट स्थित पावापुरी से देवरिया जनपद में स्थित कुशीनगर तक २३५ मील दूर तक आने की कल्पना न केवल अतर्कसंगत वरन् असंभव है।

सामगामसुत्त में महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में पूछे गये इस प्रश्न में, कि 'यह नातपुत्त तो नालन्दावासी था फिर पावा में कैसे कालगत हुआ ? व्यक्त आश्चर्य से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि नालन्दा से पावा कहीं बहुत दूर है।

योगेन्द्र मिश्र ने पावा की भौगोलिक स्थिति के विषय में गंगा और गण्डक नदी के सन्दर्भ से विचार किया है। भगवान् बुद्ध राजगृह से चलकर गंगा नदी पार करके ही वैशाली आये थे। वैशाली से पावा होकर कुशीनगर जाने में पुनः गंगा नदी नहीं पड़ी थी। वैशाली से पावा जाने के लिए बुद्ध को गण्डक नदी पार करनी पड़ी थी। इससे सिद्ध होता है कि पावा वैशाली एवं गण्डक से पश्चिम में स्थित थी। यदि यह वैशाली एवं गण्डक के दक्षिण में होती तो गण्डक पार करने का उन्हें अवसर नहीं आता बल्कि उन्हें गंगा पार कर जाना पड़ता।

महावीर के निर्वाण के समय काशी-कोशल के ९ मल्लों, ९ लिच्छवियों इन १८ राजाओं के उपस्थित होने का वर्णन आता है, इससे स्पष्ट है कि पावा काशी-कोशल क्षेत्र में ही थी। मैत्री भावना, भौगोलिक सामीप्य, शासन की एकरूपता तथा सबसे बढ़कर महावीर के प्रति इनकी श्रद्धा इन्हें एक साथ पावा ले आयी।

चीनी यात्रियों फाह्यान एवं ह्वेनसांग ( ३९९-४१४ ई० ), ( ६२९-६४५ ई० ) द्वारा अपनी भारत यात्रा के समय बौद्ध स्थलों का भ्रमण कर उनका विस्तृत विवरण दिया गया है। इन यात्रियों के विवरण से राजगृह तथा नालन्दा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है किन्तु अभीष्ट स्थल पावापुरी के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता है। ह्वेनसांग ने १ मार्च ६३७ ई० से १ जनवरी ६३९ ई० तक नालन्दा स्थित विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। निकटवर्ती धार्मिक स्थलों का भ्रमण किया और उनका विवरण भी दिया, परन्तु पावा का कोई उल्लेख नहीं आया। इसके विपरीत कुशीनगर यात्रा के सन्दर्भ में उन्होंने पावा का उल्लेख किया है। इत्-सिंग ( ६७३ ई० ) ने भी नालन्दा विश्वविद्यालय में आकर काफी समय तक

१. मलल सेकर—पालि प्रापरनेम पृ० १९३।

अध्ययन किया परन्तु उन्होंने भी पावा के विषय में कोई जानकारी नहीं दी। बौद्ध धर्मावलम्बी तिब्बती यात्री धर्मस्वामी ( १२३४ ई० ) ने भारत के धार्मिक स्थलों की यात्रा की। उन्होंने भी पावापुरी का उल्लेख नहीं किया है। यदि इन विदेशी यात्रियों को यात्रा-काल में नालन्दा जनपद में स्थित पावा का कोई अस्तित्व रहा होता अथवा इसको धार्मिक महत्ता रही होती तो नालन्दा एवं राजगृह का भ्रमण करते समय इन्होंने पावा का सर्वेक्षण एवं निरीक्षण अवश्य किया होता।

श्री भंवरलाल नाहटा नालन्दा स्थित पावापुरी को ही महावीर को निर्वाण स्थली पावा मानते हैं। फाह्यान ओर ह्वेनसांग प्रदत्त विवरण के आधार पर वे नालन्दा स्थित इस पावा की दूरी कुशीनगर से १२ मील बताते हैं। वे देवरिया जनपद स्थित कुशीनगर को बुद्ध की महापरिनिर्वाण स्थली के रूप में नहीं मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता तथ्य से परे है। बौद्ध साहित्य में कुशीनगर का मल्लों की राजधानी के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। अतः इसे मगध साम्राज्य के अन्तर्गत मानने का कोई औचित्य नहीं है। कनिंघम ने फाह्यान एवं ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर कुशीनगर के भग्नावशेषों का उत्खनन कराकर इसे महात्मा बुद्ध की परिनिर्वाण स्थली घोषित कर दिया। कालान्तर में अन्य पुरातत्त्ववेत्ताओं ने समय-२ पर इस स्थली का उत्खनन करवाकर इस मान्यता की पुष्टि की। बुद्ध के परिनिर्वाण स्थली के रूप में आज यह सर्वमान्य है।

पुरातात्त्विक दृष्टि से भंवरलाल नाहटा ने पावापुरी के जलमन्दिर की ईंटों को २५०० वर्ष पुराना माना है। परन्तु डी० आर० पाटिल ने पावापुरी की जैनधर्म स्थलियों की प्राचीनता के विषय में सन्देह प्रकट किया है। इनका मन्तव्य है कि यहाँ प्राप्त कोई पुरातात्त्विक अवशेष १६ वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा इसे ६ वीं शताब्दी ई० पू० का मानती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पावापुरी में ऐसी कोई पुरातात्त्विक कलाकृतियाँ, भग्नावशेष एवं अन्य सामग्रियाँ प्राप्त नहीं हो पाई हैं, जिनके आधार पर इसे महावीर का निर्वाण-स्थली पावा के रूप में मान्यता दी जा सके।

बौद्ध ग्रन्थों में भी, मगध की राजधानी राजगृह या उसके उपनगर नालंदा के समीपस्थ पावा का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि निकटवर्ती अनेक ग्रामों व नगरों का है। पश्चातवर्ती, बौद्ध लेखकों ने भी उक्त पावा के

अस्तित्व की कहीं चर्चा नहीं की है। वास्तविकता तो यह है कि प्रायः सभी जैन ग्रंथकार (नियुक्ति चूर्णि, भाष्य आदि लेखक) पावा या मज्झिमा पावा में महावीर के निर्वाण प्रसंग को लिखने वाले, पश्चिम भारत में, अधिकतर गुजरात, काठियावाड़ में लगभग ७वीं से १२वीं शताब्दी में पैदा हुए हैं और पूर्व भारत के तत्कालीन अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनका सम्पर्क पूर्वी तथा उत्तरी भारत से बिल्कुल टूट गया था। भारतवर्ष में एक केन्द्रीय शासक न था। सौ, दो सौ वर्ष के लिए किसी एक छोटे राज-वंश का उदय होता था और बाद में निर्बल शक्ति के कारण उसका विलय हो जाता था। भारत टुकड़ों में बंटा हुआ था। उस काल को सम्राटों की शक्ति के लिए संघर्ष का युग कहते हैं। उसी काल में, पूर्व और उत्तर, मध्य भारत के अधिकांश भागों में नये-नये ब्राह्मणमतों के आविर्भाव हुए थे। उन्हें राजकीय संरक्षण मिलने के कारण, जैन धर्मावलम्बियों का अस्तित्व प्रायः समाप्त हो चुका था। बंगाल-बिहार में उसी समय पाल राजवंश के उदय होने से जहाँ बौद्ध धर्म को राज्य संरक्षण प्राप्त था, वहीं जैनधर्म निराश्रय हो रहा था।

१३वीं, १४वीं शताब्दी में मुस्लिम सत्ता के प्रभाव के बढ़ने के कारण, उक्त प्रदेशों की राजनैतिक दशा में सुधार हुआ। इसी कारण उस काल में स्थानीय धार्मिक विद्वेष एवं कट्टरता में कमी प्रतीत होती है। इन शताब्दियों में मुस्लिम राजाश्रय से व्यापार करने वाले या राजकीय पदों पर काम करने वाले पश्चिमी भारत के अनेक जैन प्रवासी पूर्वी भारत में ताँबा, लोहा, अभ्रक आदि अनेक खनिज व्यापार के लिए दक्षिण बिहार और बंगाल प्रदेश में फैलने लगे, इन प्रदेशों में उनका आवागमन बढ़ गया था तथा उन प्रान्तों में वे फैलने लगे थे। इसी क्रम में वे अपने नैमित्तिक पूजा आराधना के लिए मूर्तियों, मन्दिरों और तीर्थ स्थलों का निर्माण करने लगे। इस कार्य में मारवाड़, गुजरात के लोगों का प्रमुख हाथ था। ये सब तीर्थस्थलियां दक्षिण बिहार बंगाल के प्रमुख मार्गों, नदियों से आवागमन के मुख्य केन्द्रों, पहाड़ों आदि पर स्थापित की गयी थी, जैसे—गया, पटना, मुंगेर, हजारीबाग, सिंहभूमि इत्यादि। इसका एकमात्र कारण यही था कि इस व्यापारिक वर्ग का अधिकतर आना-जाना और रहना, उन्हीं स्थानों पर होता था। उत्तर-पूर्व भारत में ऐसी कोई खनिज सम्पत्ति अथवा व्यापार हेतु कोई आकर्षक वस्तु उपलब्ध नहीं थी, जिससे उन जैन प्रवासियों का दल उस काल में उत्तर-पूर्व भारत में गया होता। इसी कारण पूर्व भारत में ही जैन मन्दिरों की विशेषतः स्थापना हुई, एवं बिहार

प्रदेश के नालन्दा जनपद की पावापुरी का निर्माण हुआ एवं दिन-प्रतिदिन उसकी महत्ता और प्रसिद्धि में निरन्तर वृद्धि होती गई।

उपरोक्त अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि जैन मुनियों, मनीषियों, महात्माओं, जैन धर्मावलम्बियों तथा विद्वानों ने बिहार प्रदेश के नालंदा जनपद में बिहार शरीफ के निकट स्थित पावापुरी को महावीर की निर्वाण-स्थली के रूप में मान्यता दी है। उसके समर्थन में वे कोई भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, साहित्यिक, साक्ष्य नहीं प्रस्तुत कर सके, जिससे यह प्रमाणित हो सके कि महावीर की निर्वाण स्थली पावापुरी है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक भग्नावशेष, कलाकृतियाँ, मूर्तियाँ तथा अन्य सामग्रियों के साक्ष्य के आधार पर बुद्धकालीन पावा प्रमाणित नहीं हो पाती है। यहाँ के पुरातात्त्विक साक्ष्य केवल शाहजहाँ के शासनकाल तक पहुँचाने में समर्थ होते हैं। फाहियान एवं ह्वेनसांग के यात्रा-वर्णन में यहाँ का कोई संकेत प्राप्त नहीं होता है। ७वीं तथा १२वीं शताब्दी के बीच के जैन साहित्यकारों ने पावापुरी की विशद व्याख्या की है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पावापुरी से कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है, जिसके आधार पर इसे तीर्थंकर महावीर के निर्वाण स्थली के रूप में स्वीकार किया जा सके। यदि नालंदा जनपद स्थित पावापुरी वास्तविक पावा नहीं है, तो उस आधार का अनुसंधान आवश्यक है जिससे वास्तविक पावा का अभिज्ञान प्राप्त हो सके।



# पावा-पड़रौना अनुशीलन

साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर पावा का विवेचन करने से प्रतीत होता है कि विद्वान् इतिहासकार एवं पुरातत्त्ववेत्ता पावा के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं। अतः पावा की वास्तविक स्थिति के निर्णय के प्रयास हेतु पूर्ववर्ती सभी साहित्यिक, पुरातात्त्विक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों पर सांगोपांग विचार के साथ-साथ विभिन्न विद्वानों द्वारा कृत अध्ययन की समीक्षा प्रस्तुत करना आवश्यक है।

पावा के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सूचना यह मिलती है कि पावा का सम्बन्ध मल्ल राष्ट्र से रहा है। रामायण काल में जहाँ तक मल्लराष्ट्र का प्रश्न है लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु के राज्याभिषेक हेतु जिस राज्य की स्थापना की गई थी और जिसकी राजधानी चन्द्रकान्ता थी अपने राजा के गुणों के आधार पर वह मल्ल राज्य कहा जाने लगा। महाभारत काल आते-आते यह चन्द्रकेतु के राज्य के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। महाभारत[1] में दो मल्लराज्यों का उल्लेख है—मुख्य मल्ल राज्य एवं दक्षिणी मल्ल राज्य। मुख्य मल्ल राज्य से पावा-पड़रौना सम्बन्धित रहा है। मल्लराज्य को ककुत्था नदी दो भागों में विभाजित करती थी। उत्तरी मल्लराज्य (मुख्य मल्लराज्य) की राजधानी चन्द्रकान्ता थी तथा दक्षिणी मल्ल राज्य की राजधानी कुशीनारा थी। कालान्तर में मुख्य मल्लराज्य के नागरिकों को 'पावा के मल्ल' तथा दक्षिणी मल्ल राज्य के नागरिकों को 'कुशीनारा के मल्ल' कहा जाता था। यदि पड़रौना की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि पड़रौना कुशीनगर से उत्तर, उत्तर-पूर्व में स्थित है, पड़रौना तथा इसके निकटवर्ती क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति का सामंजस्य महाभारतकालीन मुख्य मल्ल राज्य की

---

१. ततो गोपालकक्षं च सोत्तारानपि कोसलान्।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥३॥
ततो दक्षिणमल्लान्च भोगवन्तं च पर्वतम्।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥१२॥
महाभारत, सभापर्व, दिग्विजयपर्व श्लोक ३, १२, पृष्ठ ७५२ गीताप्रेस, गोरखपुर।

भौगोलिक स्थिति से बैठता है। अतः प्रमाणित होता है कि पड़रौना का निकटवर्ती क्षेत्र ही महाभारत काल का मुख्य मल्ल राज्य रहा है। बौद्ध साहित्य में प्रदत्त बुद्ध की महापरिनिव्वाणस्थली कुशीनगर से दिशा व दूरी के आधार पर भी पावा की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करने पर पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद में स्थित पड़रौना ही पावा सिद्ध होता है।

बौद्ध साहित्य में वर्णित यह पावा बुद्धकाल के पश्चात् लुप्त हो गयी और परवर्ती साहित्य में कहीं भी कुशीनगर की निकटवर्ती पावा का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः इसी कारण विद्वानों ने पावा पड़रौना की स्थिति के अन्वेषण का प्रयास न कर, परम्परा से प्रभावित होकर बिहार प्रदेश के नालन्दा जनपद में बिहार शरीफ के निकट स्थित पावापुरी को वास्तविक पावा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी।

परन्तु यह भी नहीं कहा सकता कि आधुनिक विद्वानों ने बौद्ध साहित्य में उल्लिखित पावा का अन्वेषण करने का प्रयास ही नहीं किया। समय-समय पर विद्वानों द्वारा प्रयास हुए हैं। इस क्रम में बुकनन सर्वप्रथम हैं। इन्होंने बौद्ध साहित्य में वर्णित, दिशा एवं दूरी के आधार पर सन् १८१४ में पड़रौना के उपनगर छावनी मे कुबेर स्थान तक जाने वाले मार्ग के दाहिनी ओर छावनी के निकट स्थित प्राचीन टीले का उत्खनन करवाया। यहाँ प्राप्त तीन मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बुकनन की पावा-पड़रौना सम्बन्धी पुरातात्त्विक उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन आगे 'पावा-पड़रौना पुरातात्त्विक सर्वेक्षण' प्रकरण में करेंगे।

बुकनन[1] की रिपोर्ट से प्रेरित होकर एलेक्जेण्डर कनिंघम[2] ने सन् १८६१ में इस क्षेत्र का सर्वेक्षण कर पड़रौना के उक्त टीले का उत्खनन करवाया था। उन्हें यहाँ से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। यहाँ उपलब्ध सभी पुरातात्त्विक सामग्री को वे अपने साथ लेते गये। कनिंघम के इस सर्वेक्षण का उपरोक्त प्रकरण में ही विस्तार से विवेचन किया जायगा।

---

१. मार्टिन माण्टगोमरी, **दी हिस्ट्री एण्टीक्यूटीज, टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आफ इण्डिया**, जिल्द २ पृ० सं० ३५६ दिल्ली १९७६ [इन मूर्तियों का रेखांकन, जो पड़रौना के प्राचीन मंदिर केलिया में दृष्टिगोचर हुई ३८२ एवं ३८३ के मध्य दिया है]

२. कनिंघम, ए०, **दी एंश्येण्ट ज्याग्रफी ऑफ इंडिया**, पृ० ४७६ वाराणसी १९७५।

इस क्षेत्र से प्राप्त शुंग युग की विशाल यक्ष प्रतिमा का निचला भाग तथा अन्य खण्डित मूर्तियाँ लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। उक्त टीले के पास में प्राप्त कई जैन मूर्तियाँ, गोस्वामी तुलसीदास विद्यालय, पड़रौना में रखी हुई हैं। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा किये गये उत्खनन में प्राप्त मूर्तियाँ पुरातत्त्व संग्रहालय, पटना में हैं। टीले के उत्तरी ओर सड़क के उस पार महावीर की काले पत्थर की विशाल जैनमूर्ति, अब भी पाकड़ के एक वृक्ष के नीचे पड़ी हुई है, जिसे देखकर बुकनन[1] ने रेखांकन किया था जो रेखाचित्र ईस्टर्न इण्डिया नामक ग्रन्थ में प्रकाशित है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग भी पावा (पड़रौना) आया था यह सुनिश्चित है। कनिंघम ने जुलियन के सन्दर्भ से ह्वेनसांग द्वारा की गई भारत यात्रा का सिलसिलेवार वर्णन करते हुए यह बताया है कि ह्वेनसांग १ जनवरी ६३७ से ३ जनवरी सन् ६३७ तक कुशीनगर में रहा।"[2]

कनिंघम ने ह्वेनसांग की कुशीनगर से पड़रौना (पावा) की यात्रा का मानचित्र प्रस्तुत किया है, जो संलग्न है। कनिंघम प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने पड़रौना को पावा घोषित किया है। परवर्ती अनेक विद्वानों द्वारा समय-समय पर इस तथ्य का अनुमोदन किया गया है। वस्तुतः पड़रौना के नाम से भी पावा की एकात्मता का बोध होता है। उपर्युक्त सन्दर्भों के आलोक में पड़रौना को पावा के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु सविस्तार विचार आवश्यक होगा। पावा के अनुसन्धानकर्ताओं की सूची में पावा के रूप में पड़रौना का नाम प्रमुख रहा है। साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर अद्यावधि विद्वानों द्वारा लिखित महावीर निर्वाण स्थली पावा के सन्दर्भ में पड़रौना के समर्थन में साक्ष्य प्रस्तुत करने वाली सामग्री का विवरण इस प्रकार है—

१. टर्नर, जी— बुद्धिस्ट एनल्स (नोट प्रथम बुद्धघोष), जरनल आव एशियाटिक सोसाइटी नं० १९ वाल्यूम भाग २, कलकत्ता १८३८।

---

१. मान्टगोमरी मार्टिन, दी हिस्ट्री एन्टीक्यूटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिक्स ऑफ ईस्टर्न इंडिया, जिल्द–द्वितीय–भागलपुर–गोरखपुर, पृ० ३५४ से ३५७।

२. कनिंघम, अलेक्जेन्डर, रिपोर्ट ऑफ दी आर्केलॉजिकल-सर्वे-ऑफ इंडिया, जिल्द–१, पृ० ६९ शिमला १८७१।

२. सेमाकारोसी, सी०—नोट्स आन द लाइफ एण्ड द डेथ आव शाक्य (एक्स्ट्रेक्ट्स फ्राम प्रथम द तिब्बतन एथारिटी) वाल्यूम पार्ट १, एशियाटिक रिसर्चेज, कलकत्ता, पृष्ठ ५५०-६५३ ।

३. मार्टिन मान्टगोमरी—द हिस्ट्री एन्टीक्यूटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटि-स्टिक्स आव ईर्स्टन इण्डिया, वाल्यूम, (भागलपुर-गोरखपुर) दिल्ली, १९७६, पृष्ठ ३५४,३५७, एवं ३८२ एवं ३८५ के मध्य रेखाचित्र ।

४. एलेक्जेण्डर, इ० वी०-स्टेटिस्टिकल, डिस्क्रिप्टिव एण्ड हिस्टारिकल एकाउन्ट आव नार्थ-वेस्ट प्राविन्सेज, वाल्यूम, गोरखपुर, १८८१, पृष्ठ ५२२-५२३ ।

५. फ्यूरर, ए— द मानुमेन्टल एण्टीक्यूटीज एण्ड इन्स्क्रिप्शन्स इन द नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, वाराणसी १९६९, पृष्ठ २४३ ।

६. नेविल, एच० आर०-गोरखपुर गजेटियर, वाल्यूम इलाहाबाद, १९०९, पृ० २७९-२८९ ।

७. पाण्डेय, हरिनन्दन--द मल्लाज आव पावा, जर्नल आव बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, वाल्यूम पटना, १९१९, पार्ट पृ० २६२-२६५ ।

८. मिश्र आर० जी०—कसिया रेलिक्स, द जरनल आव द यूनाइटेड (एस० डी० एम०, गाजीपुर) प्राविन्सेज हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यूम, जून, लखनऊ, १९१९, पृ० ७१-७२ ।

९. डे, एन० एल०,—द ज्याग्रफिकल डिक्शनरी आव एन्शियेन्ट एण्ड मेडिविल इण्डिया, लन्दन, डब्ल्यू, सी० आई०, १९२९ ।

१०. लाहा, विमल चरण-ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म, वाराणसी, १९७३, पृ० १४ ।

११. पाटिल, डी० आर०-कुशीनगर—नई दिल्ली, १९५७, पृ० ३-४ ।
(हिन्दी) केदारनाथ शास्त्री ,, ,, १९५७, पृ० ३ ।

१२. सांकृत्यायन, राहुल-बुद्धचर्या, वाराणसी, १९५२, पृ० ३५२ ।

१३. ,, ,, साहित्य निबन्धावली, इलाहाबाद, १९४९, पृ० ११ ।

१४. रायचौधुरी, हेमचंद्र-पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया, कलकत्ता, १९५३, पृ० १२६ ।
हिन्दी अनुवाद प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, इलाहाबाद, १९७६, पृ० ९८-९९ ।

१५. जायसवाल, काशी प्रसाद—हिन्दू पालिटी, भाग-१, बंगलोर सिटी, १९७८, पृ० ५० ।

१६. मजूमदार, आ० सी०,—हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑव इण्डियन पीपुल (द एज आव इम्पीरियल यूनिटी), बम्बई, १९५१, पृ० ७ ।

१७. मजूमदार, आर० सी०, राय चौधरी, हेमचन्द्र, दत्ता कालीकिकर—एन एडवांस हिस्टी आफ इण्डिया, नई दिल्ली, १९८३, पृ० ५७ ।

१८. लाल अगने,— संस्कृत साहित्य में भारतीय जीवन (प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक), लखनऊ, १९६८, पृ० ३८ ।

१९. कौसाम्बी, धर्मानंद-भगवान बुद्ध-जीवन और दर्शन, अनुवाद, श्रीपद जोशी, इलाहाबाद-१, १९८२, पृ० ४८, ४९ ।

२०. दत्त, नलिनाक्ष एवं बाजपेयी, कृष्णदत्त-डेवलपमेन्ट ऑव बुद्धिज्म इन उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९५६, पृ० १४ ।
हिन्दी अनुवाद उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, लखनऊ, १९५६, पृ० १० ।

२१. उपाध्याय, भरत सिंह—बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग १९६१, पृ० ३१९-३२५ ।

२२. जैन, बलभद्र—भारतवर्षीय दिगम्बर जैनतीर्थ, प्रथम खण्ड (उत्तर प्रदेश-दिल्ली (राजस्थान), बम्बई, १९७४, पृ० १७६ ।

२३. मेहता, मोहनलाल-प्राकृत प्रापर नेम्स, भाग २, अहमदाबाद, ९, १९७०, पृ० ४५१ ।

२४. बाजपेयी, कृष्णदत्त-लोकेशन ऑव पावा, युगयुगीन सरयूपार, वाराणसी, १९८७, पृ० ४७-५७ ।

२५. पाल विटले तथा सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यगण—द हिस्टारिकल एटलस आव साउथ एशिया, शिकागो एण्ड लंदन, १९७८, पृ० १६ ।

२६. पाण्डेय, रामप्रसाद–गोरखपुर जिले का इतिहास, प्रयाग, १९४२, पृ० १२, ३६, ८६।

२७. त्रिपाठी, रमाशंकर-हिस्ट्री आव ऐन्शियेन्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, दिल्ली, १९४२, पृ० ८६।

२८. सलाम, सन्दीलवी–तारीख-ए-अदीबात गोरखपुर, गोरखपुर, पृ० ३।

२९. सिंह, सतीश चन्द्र–चेन्जेज इन दी कोर्स आव रीवर्स एण्ड इट्स एफेक्ट्स आन दी अरबन सेटलमेन्टस इन दी मिडिल गंगेज प्लेन, वाराणसी १९७३ पृ० ७६-७७ (मानचित्र पृ० १२९)

३०. सिंह, कृपाशंकर—लैण्ड यूज एण्ड न्यूट्रिशन इन पडरौना तहसील (देवरिया), अप्रकाशित, पृ० १२७।

३१. श्रीवास्तव, एम०—प्राचीन भारतीय संस्कृत-कला और दर्शन, पी० एवं राजेन्द्र इलाहाबाद-२, पृ० ९७।
कुमार वर्मा

३२. सिंह, रामवृक्ष—गोरखपुर मण्डल के प्राचीन गणराज्य, गोरखपुर पृ० ९, १३।

३३. पाठक, विशुद्धानन्द–देवरिया का प्राचीन ऐतिहासिक भूगोल, युग वातायन, देवरिया, पृ० ८।

३४. चौबे, हनुमान प्रसाद-भगवान महावीर के उपदेश, डा० आर० सी० गुप्ता स्वतन्त्रचेतना ७-४९० पृ० ४, गोरखपुर।

३५. सरावगी, के०टी०एस०-अर्बन सेन्टर्स एण्ड अर्बनाइजेशन, पृ० १५५।

## भौगोलिक विवेचन :

पडरौना तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्र का महत्त्व अति प्राचीन काल से है। गण्डक के सन्निकट स्थित तथा अरण्य के घिरे होने के कारण यह क्षेत्र अत्यन्त रमणीय था। यहाँ के जंगलों में ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा, तपस्यारत रहा करते थे। इनके चरण-रज से पवित्र हुई स्थली आज भी जनमानस का ध्यान आकर्षित करती है। रामप्रसाद पाण्डेय[1] के अनुसार यह क्षेत्र (उत्तरी देवरिया जनपद) वैदिक काल में आर्यों की

१. पाण्डेय, रामप्रसाद, गोरखपुर जनपद का इतिहास, पृ० ८, प्रयाग १९४२।

बस्ती थी। मौलवी अब्दुल गफूर फारूकी[1] के अनुसार यह एक बहुत कदीम (पुराना) मुकाम है, कहा जाता है कि यह त्रेता जमाने में भी मौजूद था। गौतम मुनि जो जमाना-ए रामचन्द्रजी के एक सिरताज ऋषि थे, उन्होंने यहाँ तपस्या की है और अक्सर यहाँ पर ऋषियों एवं साधुओं का मजमा रहता था।

पडरौना से लगभग ५४ मील (८५.५६ कि० मी०) उत्तर दिशा में गण्डक के उस पार त्रिवेणी पर्वत के निकट नेपाल की पहाड़ियों में, बिहार-प्रदेश के पश्चिमी चम्पारन जनपद की सीमा पर बाल्मीकि आश्रम स्थित था। प्राचीन काल के अवशेषों, कलाकृतियों एवं मूर्तियों के आधार पर जनमानस में अटूट विश्वास है कि सुन्दर रमणीक जंगलों के मध्य तमसा तट पर बालमीकि आश्रम में निर्वासित सीता रहती थी और वहीं राजकुमार लव और कुश का जन्म हुआ। बिहार प्रदेश शासन ने बालमीकि आश्रम की मान्यता की पुष्टि के प्रमाणस्वरूप इसके निकट ही पश्चिमी चम्पारण में बालमीकि नगर की स्थापना की है।

श्रुति, स्मृति एवं किंवदन्तियों के आधार पर जनमानस में मान्यता है कि रामायण काल में महाराजा दशरथ ने जनकपुर जाते-आते समय यहीं गंडक तट (राम-घाट) पर विश्राम किया था। इतिहास साक्षी है कि इस क्षेत्र से दशरथ, राम-कृष्ण, भीम, अर्जुन, कर्ण, महावीर, बुद्ध आदि का सम्बन्ध रहा है।

बुद्धकाल के प्रादुर्भाव के पूर्व गण्डक तट पर स्थित पावा नगर का चातुर्दिक विकास हो रहा था।

कुशीनगर की ऐतिहासिकता पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर प्रमाणित हो चुकी है। आज यह अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन चुका है। परन्तु अभी तक पावा का इतिहास पुरातत्त्व के गर्भ में छिपा हुआ है। पावा के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं। पावा की वास्तविक पहचान के लिये कुशीनगर एवं इसके समीपस्थ स्थानों का अध्ययन विवेचन आवश्यक है। बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य में अध्ययन हेतु उपयोगी सूचनायें उपलब्ध हैं।

---

१. फारूकी, मौलवी अब्दुलगफूर, सजरे शादाब, पृ० ९१, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९००।

सुत्तनिपात[1] (जो भाषा और विषय की दृष्टि से पालि भाषा का प्राचीनतम ग्रन्थ है) के परायणवग्ग के अनुसार पावा उत्तर भारत में श्रावस्ती से कुशीनगर और कुशीनगर से वैशाली जाने वाले मुख्य व्यापार मार्ग पर था। 'सुमंगल विलासिनी'[2] से ज्ञात होता है कि पावा कुशीनगर से ३ गव्यूति (१२ मील) की दूरी पर स्थित था। अमरकोश[3] के अनुसार गव्यूति ४ मील के बराबर है। सिंहली बौद्धग्रन्थ दीपवंस एवं महावंस[4] के अनुसार 'कुशीनगर से १२ मील दूर गण्डकी नदी की दिशा में पावा स्थित थी। टर्नर[5] ने भी स्वीकार किया है—कुशीनगर से पावा की दूरी १२ मील है। मललसेकर[6] भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं एवं बौद्ध साहित्य में अनेक बार कुशीनगर-पावा मार्ग का वर्णन प्राप्त होने का उल्लेख करते हैं।

पड़रौना के पी० डब्ल्यू० डी० डाक बंगले से कसया पी० डब्ल्यू० डी० डाक बंगले की दूरी १२ मील है। पड़रौना डाक-बंगला के निकट जहाँ मील का पत्थर है, वहाँ से छावनी के निकट स्थित टीले की दूरी एक मील है। कसया से कुशीनगर के खण्डहरों की दूरी एक मील है। इस प्रकार पड़रौना वाले स्तूप (टीले से) कुशीनगर के स्तूप (टीले) की दूरी १२ मील है जो भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है।

धरातल के परिवर्तन में बाह्य और आन्तरिक शक्तियों : प्रकृति, वर्षा, जलवायु, तापमान, भूकम्प आदि का सदैव निर्णायक योगदान रहा है। पड़रौना ( पावा ) के साथ भी यही स्थिति रही है। पड़रौना ( पावा ) के निकट छावनी के पास स्थित प्राचीन टीले के आस-पास बुद्ध-

---

१. सुत्तनिपात-परायणवग्ग पद, १०११, १०१५, पृ० ४३२।
२. सुमंगल विलासिनी, पृ० २८२।
३. गव्यूतिस्तुक्रोशयुगलम्-अमरकोश, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९८४।
४. डा० पाण्डेय, राजबली-गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७८।
५. टर्नर, जी०-जर्नलआव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, नं० ७९, भाग २, पृ० ७, कलकत्ता-१९८३८।
६. मललसेकर, जी० पी०, डिक्शनरी आव पालिप्रापरनेम्स, पृ० १९३।

काल में सरोवर विद्यमान थे। दिगम्बर ग्रन्थ निर्वाणभक्ति[1] के अनुसार पावा अनेक सरोवरों से एवं ऊँचे स्थलों से घिरा हुआ था। उक्त टीले के पश्चिम में आज भी एक सरोवर विद्यमान है। अन्य सरोवर काल के गर्त में चले गये।

अब हम पड़रौना के पावा होने की सम्भावना प्रकट करने वाले भौगोलिक विवरणों एवं सर्वेक्षण से प्राप्त तथ्यों की समीक्षा करेंगे—

दिगम्बर ग्रन्थ 'निर्वाण भक्ति'[2] में पावा का पद्मवन के रूप में उल्लेख है। महावीर, निर्वाण से पूर्व पावा नगर में पद्मवन से सुशोभित उद्यान में कायोत्सर्ग हेतु ध्यानारूढ़ हुए थे। बाद में पावापुर नगर के बाहर उन्नत भूमि-खण्ड पर कमलों से सुशोभित सरोवर के मध्य निष्पाप वर्धमान द्वारा निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। अतः पद्मवन, पावा और पडरौना एक ही है। कनिंघम का भी यही मत है कि पद्मवन, पदरवन, पदरमन और पड्रवन इत्यादि का क्रमिक विकास ही वर्तमान में पड़रौना है।

कुछ विद्वानों ने सर्वेक्षण के समय प्रचलित पड़रौना के नामों का उल्लेख अपनी रिपोर्ट में दिया है, यह विवरण इस प्रकार है :

बुकनन[3] ( १८१४ ई० ) की रिपोर्ट के अनुसार उस समय इसे परोना या परौना ( Parrona ) या ( Parrauna ) सम्बोधित किया जाता था। कनिंघम[4] के सर्वेक्षण काल ( १८६२ ई० ) में पड़रौना ( Padrona ) कार्लाइल[5] के सर्वेक्षण ( १८७६–७७ ) में इसे पड़रौना या परौना ( Pad-

---

१. पद्मवन दीर्घिकाकुल विविध द्रुम खण्ड मण्डिते रम्ये।
पावा नगरीधाने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ।। १६ ।।
तीर्थवन्दन संग्रह, पृ० ५, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, प्र० सं० १९६५

२. श्लोक सं० १६ एवं
पावापुरस्य वहिरुन्नत भूमिदेशे पद्मोप्तलाकुलवंता सरसां हिममध्ये।
श्री वर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान प्रविधूतपाप्मा ।।२४।।
वही, पृ० ५

३. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर० हिस्ट्री एण्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया, खण्ड १, पृ० ३५४, द्वि० सं०, १९७६

४. कनिंघम ए०, ऐश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३६६

५. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड २२, पृ० २९-३०

raona ) या ( Paraona ) नाम से जाना जाता था। फ्यूरर[1] के समय ( १८८६–१८९१ ) में इसमें किंचित परिवर्तन हुआ। यह पड़रौना ( Padrauna ) या परौना ( Parauna ) पुकारा जाने लगा। वर्तमान काल में इसे पड़रौना ( Padrauna ) नाम से जाना जाता है। इस प्रकार जब लगभग १७५ वर्ष में इतना परिवर्तन हो सकता है तो पिछले २५०० वर्षों में कितना परिवर्तन हुआ होगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

पड़रौना के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी के अक्षरों पर विचार करना अति आवश्यक है। अंग्रेजी में हिन्दी 'द' अक्षर के लिए 'डी' अक्षर का प्रयोग होता है। पड़रौना वास्तव में हिन्दी लिपि में पदरौना है, जैसा कि कनिंघम ने पदरवन, पदरमन, पड्रवन इत्यादि नाम पड़रौना के लिए प्रयुक्त किया है। अंग्रेजों के लिए हिन्दी शब्द का शुद्ध लेखन और उच्चारण कठिन था। इसी कारण बुकनन ने 'द' के स्थान पर अंग्रेजी में R अक्षर का प्रयोग किया है, तथा कनिंघम ने R के साथ-साथ डी का प्रयोग किया है। अंग्रेज अपनी सुविधानुसार हिन्दी शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अंग्रेजी में प्रयोग किया करते थे।

पड़रौना उत्तर प्रदेश में गोरखपुर के निकट देवरिया जनपद के उत्तरी-पूर्वी छोर पर सिधुवाँ जोबना परगना में बिहार की सीमा से सटा हुआ ८३.५९° पूर्वी देशान्तर एवं २६.५४° उत्तरी अक्षांश पर स्थित है। कुशीनगर से १२ मील उत्तर-पूर्व बाड़ी नदी के तट पर वह चन्द्राकार रूप में स्थित है। पड़रौना से उत्तर-पश्चिम लुम्बिनी एवं पिपरहवा ( कपिलवस्तु ) की सीधी रेखा में दूरी क्रमशः ९६ कि० मी० तथा ९१ कि० मी० है। यह गंडक से पश्चिम में ३२.४५ कि० मी० पर स्थित है। पड़रौना, तहसील पड़रौना का मुख्यालय है जिसकी स्थापना १८०५ में हुई थी। यह एक औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र है।

पड़रौना तहसील के उत्तर में देवरिया की हाटा तहसील, उत्तर-पूर्व में बिहार राज्य का पश्चिमी चम्पारण जनपद, पूर्व व दक्षिण-पूर्व में बिहार का ही गोपालगंज जनपद, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम में देवरिया सदर तहसील एवं पश्चिम में देवरिया सदर तथा हाटा तहसील स्थित है। इस प्रकार पड़रौना तहसील का ३/४ भाग बिहार से घिरा हुआ है। शेष १/४ भाग देवरिया तथा हाटा तहसील के क्षेत्र में है। बाँसी तथा गंडक नदियाँ

---

१. फ्यूरर, ए०, मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इन्स्क्रिप्शन्स, नार्दन, वेस्टर्न प्राविन्सेज, पृ० २४९।

बिहार से इस तहसील को अलग करती हैं। दक्षिण-पश्चिम में खनुवा नाला देवरिया सदर एवं पड़रौना तहसील की विभाजक रेखा है।

देवरिया जनपद उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर अंचल में २६°–२८° उत्तरी अक्षांश एवं ३३°–८५° अंश देशान्तर के मध्य स्थित है जो पहले गोरखपुर जनपद का ही अंग रहा है। गोरखपुर जनपद की स्थापना १४ जनवरी १८०२ में हुई थी[1]। उस समय यह उत्तर प्रदेश के सबसे विशाल जनपद के रूप में प्रतिष्ठित था। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से गोरखपुर जनपद के पूर्वी भाग को अलग कर १६ मार्च १९४६ में देवरिया जनपद का निर्माण किया गया, जिसके उत्तर में बिहार प्रदेश का पश्चिमी चम्पारण, पूर्व में गोपालगंज एवं सारण, दक्षिण में बलिया, आजमगढ़, पश्चिम में गोरखपुर जनपद स्थित है।

पड़रौना के निकटवर्ती क्षेत्र के प्राकृतिक भूगोल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ का धरातल प्रायः समतल एवं नीचा है। यहाँ जल-जमाव की समस्या बराबर बनी रहती है, जिसका प्रभाव उपज पर पड़ता है। हिमालय की तराई में स्थित होने के कारण जलवायु आर्द्र और नम है। ग्रीष्म ऋतु ( मई ) का तापमान ४९.९° से ४०° सेंटीग्रेड तथा शरद ऋतु ( जनवरी ) का १०.८° से २०° सेंटीग्रे० के मध्य रहता है। औसत वार्षिक वर्षा १०० सेमी० से १५० सेमी० होती है। यहाँ की आर्द्रता जुलाई में ८४%, अप्रैल में ८३% तथा वायुभार दिसम्बर में १००८ मिलीवार तथा जुलाई में ९९०.७ मिलीवार रहता है। प्राचीन काल से ही यह क्षेत्र वनाच्छादित रहता है। यहाँ के आम, कटहल, लीची प्रसिद्ध हैं। गन्ना यहाँ की प्रमुख पैदावार है, जिसके कारण पड़रौना तहसील में ३ चीनी मिलें २०वीं सदी के आरम्भ से ही स्थापित हैं। यहाँ उपजाऊ भूमि होने के कारण सभी प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। कच्चे माल की उपलब्धि, पक्के माल की खपत के कारण यह व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र रहा है।

पड़रौना से गोरखपुर दक्षिण-पश्चिम दिशा में ७२ किलोमीटर पर स्थित है, जो पूर्वोत्तर रेलवे ( मीटरगेज ) तथा परिवहन मार्ग से जुड़ा हुआ है। गोरखपुर-सीवान ( सारण जनपद, उत्तर-पश्चिम बिहार प्रदेश ) लूप लाइन पड़रौना से होकर जाती है। पड़रौना, गोरखपुर तथा सीवान से क्रमशः ७२ कि०मी० तथा ८६ कि०मी० दूरी पर स्थित है। पड़रौना से

---

१. सं० डगलसदेवर, हैण्डबुक प्रीवयूटीनी रिकार्ड गवर्नमेण्ट यू० पी०, पृ० १११, गवर्नमेण्ट प्रिण्टिग प्रेस, इलाहाबाद।

कुशीनगर होकर गोरखपुर मार्ग है। पड़रौना से दक्षिण में देवरिया नगर स्थित है, जहाँ कुशीनगर से होकर मार्ग जाता है। गोरखपुर से राष्ट्रीय वायुसेवा उपलब्ध है।

पड़रौना तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्र के भौगोलिक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यहाँ के सघन अरण्य इसकी प्राकृतिक सम्पदा, उर्वर भूमि तथा अनुकूल जलवायु, आरम्भ से ही महापुरुषों को आकर्षित एवं मोहित करती रही है, जिसका इतिहास साक्षी है। नगर तथा क्षेत्र की आर्थिक सम्पन्नता, कच्चे माल की उपलब्धि एवं खपत ( बाजार ), आवागमन के पर्याप्त साधन, सघन जनसंख्या एवं पक्के माल के उत्पादन के कारण ही पड़रौना एक प्रमुख औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र के रूप में विकसित हुआ है।

**गण्डक–सम्बन्ध**

बौद्ध सिंहली ग्रन्थों[1] ( दीपवंस और महावंस ) में स्पष्ट उल्लेख है कि पावा कुशीनगर से तीन गव्यूति ( १२ मील ) की दूरी पर गण्डक की दिशा में स्थित था। कुछ विद्वान् जिनमें कनिंघम[2] सर्वप्रथम हैं, पावा को स्पष्टतः गण्डक पर स्थित मानते हैं। नन्दलाल डे[3] भी इस पावा के गण्डक के किनारे स्थित होने की पुष्टि करते हैं। आधुनिक बाड़ी नदी इसी गण्डक की उपधारा है जिसके तट पर पड़रौना स्थित है।

पड़रौना नगर अर्द्धचन्द्राकार बसा हुआ है। पड़रौना के निकट गण्डक के प्रवाहित होने के पुरातात्विक साक्ष्य भी मिलते हैं। गोरखपुर गजेटियर[4] के अनुसार पड़रौना के निकट एक पोखरे की खुदाई के समय सन् १९७८ में एक बड़ी नाव के टुकड़े का मिलना इस बात का प्रमाण है कि गण्डक नदी कभी इस छोर से बहा करती थी। ब्रह्मदेव शर्मा[5] ने भी उल्लेख किया

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७८

२. कनिंघम, ए०, एंशियेण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ४९७

३. डे०, एन० एल०, ज्याग्रफिकल डिक्शनरी, एंशियेण्ट मेडिवल इण्डिया, पृ० २५०, लुजाक एण्ड कंपनी, लंदन, १९२७

४. नेविल, एच० आर०, गोरखपुर गजेटियर, खण्ड ३१, पृ० ४-५, गवर्नमेण्ट प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद।

५. शर्मा, ब्रह्मदेव, हमारे क्षेत्र के दो सिद्धपीठ, पृ० ५, अशोक प्रिंटिंग प्रेस, पड़रौना, १९५४

है कि १९१२ में गोरखपुर-सिवान लूप लाइन के निर्माण के समय पड़रौना के निकट पूर्व दिशा में सिधवा के दक्षिणी कुण्ड से साखू के लम्बे-लम्बे बल्ले, नाव के बड़े-बड़े टुकड़े तथा उसके पतवार मिले थे।

गण्डक और पड़रौना का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए हम गण्डक के उद्‌गम स्थल, प्रवाह क्षेत्र आदि का विवेचन करने के साथ ही इस नदी के विषय में प्राप्त साहित्यिक विवरण पर विचार करेंगे—

प्रागैतिहासिक काल में यह सदानीरा, नारायणी, शालीग्रामी, बाँड़ी, गंडकावती, गण्डक आदि नामों से विख्यात थी। बुद्धकाल में इसे मही नदी कहा जाता था। इसे शालीग्रामी भी कहा जाता था क्योंकि इसके धाराप्रवाह में असंख्य छोटे-छोटे शैल, परस्पर घिस जाने से सुन्दर शालिग्राम के रूप में मिलते हैं।

गण्डक नदी हिमालय से निकलकर, तराई ( नेपाल एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश ) में प्रवाहित होती हुई, उत्तर से सीधे दक्षिण की ओर बिहार प्रदेश के वैशाली जनपद स्थित, हाजीपुर एवं सोनपुर के मध्य गंगा में विलीन हो जाती है। इसे हरिहर क्षेत्र कहते हैं। हरिहर क्षेत्र का महत्त्व चिरकाल से है जहाँ प्रतिवर्ष बहुत विशाल मेला लगता है।

'गंगा फ्लड कंट्रोल कमीशन' की रिपोर्ट से[1] ज्ञात होता है कि गण्डक का उद्‌गम स्थान नेपाल सीमा के निकट तिब्बत में धवलागिरि के उत्तर में, २९° १८' उत्तरी अक्षांश तथा ८३° ५८' पूर्वी देशान्तर पर, ७६२० मी० ऊँचाई पर है। इसका जल प्लावन क्षेत्र ४६३०० वर्ग किमी० है, जिसमें ७६२० वर्ग किमी० क्षेत्र भारतवर्ष में, शेष नेपाल और तिब्बत में है। जो क्षेत्र भारतवर्ष में पड़ता है, उसमें ९६८ वर्ग कि० मी० उ० प्र० में, एवं ६६५२ वर्ग कि० मी० बिहार में है। जो क्षेत्र नेपाल और तिब्बत में है, उसका १/६ भाग हिमाच्छादित रहता है, जिसे पर्वतीय क्षेत्र में काली एवं कृष्णगंडक सम्बोधित किया जाता है। इसकी नेपाल तथा तिब्बत में वास्तविक लम्बाई ३८० किमी० है तथा भारतवर्ष में २६० किमी० है। यह एक विलक्षण नदी है, जो नेपाल के हिमाच्छादित पर्वतों की शृंखलाओं से निकलकर, पहाड़ियों से बहती हुई ढलान पर ऐसे मोड़ से समतल मैदान पर उतरती है, जहाँ वह अधिक गहराई नहीं बना पाती है। यही कारण है कि इसके धारा प्रवाह, कटाव व वेग में अधिक तीव्रता है। वर्षाकाल में गण्डक नदी, जल की अधिकता से मैदानी क्षेत्र में आने

१. मानीटरिंग रिपोर्ट, पृ० २-३, वाटर रिसोर्सेज किनिस्ट्री, इण्डिया गवर्नमेण्ट, दिल्ली।

पर ( काँप मिट्टी ) मुलायम मिट्टी के बने धरातल के कारण गहरा कटाव करती है तथा कटी हुई मुलायम मिट्टी को अपने साथ बहाकर बिछा देती है। इस अवरोध के कारण भयंकर बाढ़ आती है। गोरखपुर गजेटियर[1] से स्पष्ट है कि गर्मियों में भी इसकी धारा का वेग, हरिद्वार में गंगा के वेग से दूना रहता है। पाण्डेय[2] ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।

गंडक इरीगेशन एण्ड पावर प्रोजेक्ट[3] की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि वर्षा के दिनों में गंडक का वेग ५५५,४६० क्यूसेक्स तथा गर्मी के दिनों में घटकर १०,००० क्यूसेक्स हो जाता है, इसके परिणामस्वरूप वर्षा के दिनों में गंडक नदी ४० से ५० फोट गहराई तक भूमि का कटाव करती है। ब्रिटिश सरकार ने गंडक नदी पर रेलवे पुल बनवाया था, किन्तु नदी के तीव्र बहाव के कारण पुल के कई खम्भे बह गये। तत्कालोन बंगाल नार्थ-वेस्टर्न रेलवे (आधुनिक नार्थ इस्टर्न रेलवे) के इतिहास[4] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि छितौनी-बगहा के मध्य १८९० में एक पुल का निर्माण हुआ था, जिसकी लम्बाई ९०० मीटर थी, उक्त पुल १९२४ में भीषण बाढ़ के कारण बह गया, इसके कई स्तम्भ धराशायी हो गये, जिसके खण्डहर आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस क्षेत्र के आवागमन के समस्या-समाधान हेतु तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने छितौनी-बगहा के मध्य विशाल रेलवे पुल के निर्माण हेतु शिलान्यास २२ अक्तूबर १९७३ में खड्डा तथा छितौनी के बीच मलहिया नामक स्थान पर किया था। किन्तु प्रस्तावित योजना कार्यान्वित न हो सकने के कारण तत्कालोन रेलवे मंत्री जार्ज फर्नाण्डीज ने ७ जनवरी १९९० को पुनः शिलान्यास किया है।

हिमालय पर्वत की ऊँचाई में वृद्धि, गंडक की उद्गम स्थलो, गंडक की ढलान एवं कोणिक प्रवाह में परिवर्तन, वर्षा का आनुपातिक सम्बन्ध आदि प्राकृतिक कारणों से गंडक के प्रवाह की दिशा में निरन्तर परिवर्तन

---

१. नेविल, एच० आर०, गोरखपुर गजेटियर, खण्ड ३१, पृ० ४

२. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों कां इतिहास, पृ० ११

३. गण्डक इरीगेशन पावर प्रोजेक्ट, पृ० ३३४-३५, बिहार गवर्नमेण्ट, पटना, १९५१

४. हिस्ट्री इण्डियन रेलवेज, पृ० ११०, रेलवे बोर्ड, गवर्नमेण्ट प्रिंटिंग प्रेस, नई दिल्ली

होता रहा है। अतः निश्चित ही रामायण काल से पूर्व गण्डक नदी हाटा तहसील की पूर्वी सीमा के पास बहा करती थी। यदि बुद्ध काल में गण्डक हाटा तहसील के पूर्वी छोर पर बहती तो कुशीनगर और पड़रौना के भग्नावशेष एवं कलाकृतियाँ उसके प्रवाह में कभी की विलीन हो गयी होतीं। निश्चित ही बुद्ध काल में गंडक पावा ( पड़रौना ) के समीप बहा करती थी। आधुनिक काल में गंडक की चौड़ाई ( पाट ) कहीं-कही लगभग ६ मील है, जिसके उत्तरी छोर पर बिहार का नगर बगहा तथा दक्षिण छोर पर उत्तर प्रदेश का जटहाँ बाजार स्थित है। डॉ कृपासिंह[1] गंडक नदी के प्रवाह और कटाव का गहन अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गंडक नदी का जलग्रहण क्षेत्र ३७००७ किमी० है। गंडक के मार्ग परिवर्तन के विषय में इनकी धारणा है कि पहले गंडक हाटा तहसील की सीमा पर बहा करती थी, आज पड़रौना तहसील को पार करती हुई बिहार के गोपालगंज तहसील के पूर्वी छोर तक पहुँच गयी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण बलुई भूमि के टीले ( धूस ) की श्रृंखला के रूप में दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकार अनेक ताल-तलैया, नदी-नालों का निर्माण हुआ है। वर्षा काल में इन नदी-नालों में छोटी गंडक, बाँसी इत्यादि नदियों का पानी भर जाता है और बाढ़ की स्थिति हो जाती है।

गोरखपुर गजेटियर[2] से इस बात की पुष्टि होती है कि सम्पूर्ण पड़रौना तहसील तथा देवरिया और सलेमपुर के उत्तरी भाग की भूमि की बनावट भाँठ किस्म की है। भाँठ भूमि का निर्माण नारायणी, छोटी गंडक और उनकी सहायक नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से हुआ है। भाँठ की मिट्टी सफेद होती है, जिसका एकमात्र कारण यही है कि इस मिट्टी में मिट्टी के अनुपात में चूना अधिक होता है, तथा जल ग्रहण करने की शक्ति अधिक होतो है। ढूढ़ीवारी से देवरिया जनपद के भाटपार स्टेशन तक एक रेखा खींची जाये तो भाँठ की भूमि पूर्व की ओर अलग हो जायेगी। इस क्षेत्र के सर्वेक्षग से ज्ञात होता है कि बलुई भूमि के टीलों की श्रृंखला ( धूस ), महराजगंज तहसील ( गोरखपुर जनपद ) हरपुर से शुरू होकर देवरिया तक चली गई है, ऊँची भूमि की दूसरी श्रेणी उत्तर-पश्चिम से शुरू होकर पूर्व-दक्षिण की ओर फैली हुई

---

१. सिंह, कृपाशंकर, लैण्ड यूज एण्ड न्यट्रीशन पडरौना ( तहसील ) देवरिया ( अप्रकाशित ), पृ० १२७

२. गोरखपुर गजेटियर, पृ० ४

दृष्टिगोचर होती है, जिसके निकट पपऊर, बड़हरागंज, पड़रौना, कुबेर स्थान इत्यादि उपनगर स्थित हैं। इनके समीपवर्ती भागों में कहीं नीची-ऊँची, कहीं झील और कहीं-कहीं पर कंकड़ीली भूमि के शैल चट्टे पाये जाते हैं। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में गण्डक नदी यहीं से होकर बहा करती थी।

नारायणी ( शालिग्रामी ) की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पद्मपुराण में वर्णन है कि पूर्वकाल में विष्णु ने प्रजा को अत्यन्त पापलिप्त देखकर इनके पाप-प्रक्षालन हेतु अपनी कनपटी के पसीने से पापध्वंसिनी नारायणी की सृष्टि की। अपनी उत्पत्ति पसीने से जानकर गण्डकी ने सहस्रों दिव्य वर्षों तक कठोर तपस्या किया। तपस्या से प्रसन्न विष्णु ने गण्डकी के उदर में शालिग्राम रूप से स्वयं स्थित होने का वर दिया। वरप्राप्ति के पश्चात् गण्डकी शालिग्रामी नाम से विख्यात हुई।

रामायण से ज्ञात होता है कि गण्डक ( सदानीरा ) कोसलराज की सीमा निर्धारित करती थी। लाहा[1] ने भी कोसल के दक्षिण में गंगा नदी, उत्तर में हिमालय पर्वत, पूर्व में गण्डक नदी तथा विदेह, पश्चिम में कुरु पांचाल देश स्थित बताया है। इस प्रकार बड़ी गण्डक ( सदानीरा ) विदेह और कोसल को विभाजित करती थी।

रामायण से सम्बद्ध जनश्रुतियों में भी गण्डक और उसकी उपधारा बासी का उल्लेख आया है। जनश्रुति के अनुसार महाराज दशरथ बारात लेकर जनकपुर जाते समय और वहाँ से वापस लौटते समय गण्डक के तट पर पड़ाव डाले थे। इसी उपलक्ष में गण्डक की उपधारा बाँसी के तट पर रामघाट में, जो पड़रौना से लगभग ५ मील उत्तर दिशा में है, प्रति वर्ष कार्तिक पूर्णिमा को विशाल मेला लगता है। आज भी लोगों में यह दृढ़ मान्यता है कि बाँसी नदी का यह घाट श्रीराम की बारात के मार्ग का एक पड़ाव था। श्रीराम के पद-रमण के कारण यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही पवित्र है, ऐसा विश्वास है।

उल्लेखनीय है कि बुकनन[2] के सर्वेक्षण काल ( १८१४ ) में बाँसी

---

१. लाहा, विमलचरण, ऐंशियेण्ट इण्डियन ट्राइब्स, पृ० ३४, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, लाहौर, १९२६

२. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, दि हिस्ट्री, एण्टीक्विटीज टोपोग्राफी स्टैटिस्टिक्स ईस्टर्न इण्डिया, खण्ड-२, पृ० १२५५, कासमो पब्लिकेशन, दरियागंज, दिल्ली, १९७६

गण्डक की मुख्य धारा थी और राम से सम्बद्ध होने के कारण इसी प्रकार का मेला लगता था। रामप्रसाद पाण्डेय[1] ने भी स्वीकार किया है कि प्रतिवर्ष कार्तिक-पूर्णिमा को यहाँ मेला लगता आ रहा है।

महाभारत में भी गण्डक का कई स्थानों पर उल्लेख आया है। महाभारत के आदिपर्व[2] में गंगा आदि जिन सात नदियों के जल-पान से पाप नष्ट होने का उल्लेख है उनमें गण्डक भी एक है।

महाभारत के भीष्मपर्व[3] में भारत की प्रमुख नदियों की सूचो में सरयू नदी के अतिरिक्त गोरखपुर की प्रधान नदी इरावती, राप्ती, रोहिणी, गण्डकी और बाँडी का भी उल्लेख है। महाभारत में वर्णित अर्जुन एवं भीम के साथ जरासन्ध-वध हेतु कृष्ण द्वारा की गई यात्रा, कर्ण की नेपाल-विजय और भीम की दिग्विजय इत्यादि प्रकरण में गण्डक का उल्लेख मिलता है, जिसका विवरण आगे दिया गया है।[4]

इसप्रकार महाभारत में इस क्षेत्र के गण्डक का बार-बार उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि कुरु पांचाल आदि से मगध की ओर जाने के लिए यह एक सुलभ मार्ग था।

बौद्ध साहित्य में भी अन्य नामों से गण्डक का प्रायः उल्लेख मिलता है। बुद्धकाल में बड़ी गण्डक मध्यदेश की प्रमुख नदी थी और इसे महा-

---

१. पाण्डेय, रामप्रसाद, गोरखपुर जिले का इतिहास, पृ० ३४, प्रयाग, १९४२

२. गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम् ॥
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा ॥ २० ॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये ।
महाभारत, आदिपर्व, १७१ अध्याय, पृ० ४९७

३. नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम् ।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ॥ १६ ॥
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि ।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि ॥ २० ॥
× × ×
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत ।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम् ॥ २४ ॥
सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि ।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम् ॥ २५ ॥
महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ९, श्लोक १६, २०, २४, २५, पृ० २५६४

४. देखिए प्राग्बुद्ध मार्ग, अध्याय

नदी नाम से सम्बोधित किया जाता था। संयुत्तनिकाय के पढम-सम्वेज्ज सुत्त[१] में इसकी गणना पाँच ( गंगा, यमुना, अचिरावती, राप्ती, सरभू ( सरयू ) और महीमहानदियों में थी। सुत्तनिकाय के दुतिय-सम्वेज्ज-सुत्त, समुद्दसुत्त, अंगुत्तरनिकाय[२], विसुद्धिमग्ग[३] तथा मिलिन्द पन्हो[४] में भी इसका उल्लेख है। उदान[५] में इन पाँचों नदियों को समुद्र की ओर बहते हुए दिखाया गया है। 'पपंच सूदनी'[६] में अन्य महानदियों के समान इसे पूर्व को ओर बहते दिखाया गया है।

सुत्तनिपात के धनिक सुत्त में उल्लेख आता है कि एक बार भगवान बुद्ध मही नदी के किनारे एक खुली कुटी में रात्रि में ठहरे हुए थे। कुटी ऊपर से खुली हुई थी। आकाश में घनघोर वर्षाकालीन बादल छाये हुए थे। भगवान् ने आकाश की ओर देखकर कहा—देव, इच्छा हो तो खूब बरसो "वर्ष देव यथासुखं।"

महापरिनिव्वाण सुत्त[७] से ज्ञात होता है कि महापरिनिव्वाण के पूर्व बुद्ध भोग नगर से चलकर पावा आये थे। बुद्धकालीन भूगोल से स्पष्ट है कि भोगनगर वज्जिसंघ में स्थित था तथा वज्जिसंघ एवं मल्लराष्ट्र के मध्य मही ( गण्डक ) नदी सीमा का कार्य करती थी। यदि पावा गण्डक के तट पर स्थित था, तो निश्चित ही बुद्ध ने भोगनगर से पावा आगमन के समय गण्डक पार किया होगा। वस्तुतः मल्लराष्ट्र श्रावस्ती एवं वैशाली के मध्य स्थित था। अतः बुद्ध को इन महानगरों के मध्य आवागमन हेतु मही ( गण्डक ) नदी को अवश्य पार करना पड़ा होगा।

बुद्ध ने महापरिनिर्वाण पूर्व पावा से कुशीनगर जाते समय जिन तीन

---

१. संयुक्त निकाय ( हि० ) भिक्षु काश्यप, जगदीश, द्वितीय भाग, पृ० ८२३

२. अंगुत्तर निकाय ( हिन्दी ) कौसल्यायन, भदन्त आनन्द, चतुर्थ खण्ड, पृ० १०१

३. विसुद्धिमग्ग ( हिन्दी ) सं० कोसाम्बी, धर्मानन्द, १।२४ ( पृ० ६ ), भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४०

४. मिलिन्दपन्हो ( हिन्दी ), पृ० ८७, वाराणसी १९७९

५. उदान ( हिन्दी ) भिक्षु काश्यप, जगदीश, पृ० ७३, महाबोधि सभा, सारनाथ, बुद्धाब्द २४८२

६. पपंच सूदनी, डॉ० टाटिया, नथमल, खण्ड २, पृ० ५८६, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना १९७५

७. दीघनिकाय महापरिनिव्वाण सुत्त ( हिन्दी ), पृ० १३६

नदियों को पार किया था उसमें से दो को उस काल में ककुत्था तथा हिरण्यवती नाम से सम्बोधित किया जाता था। वर्तमान खुनुआ ही तत्कालीन हिरण्यवती है। इनके अतिरिक्त महापरिनिव्वाण सूत्र में वर्णित तीसरी नदी वर्तमान काल में दृष्टिगोचर नहीं होती है। आज भी पड़रौना के उपनगर छावनी के दक्षिण में पश्चिम से पूर्व की नीची जमीन की पेटी ( चँवर ) दिखाई देती है। यहाँ वर्षा का पानी भर जाता है तथा गर्मी के दिनों में भी लगा रहता है। सम्भवतः उस अज्ञात नदो की धारा पड़रौना के निकट होकर जाती थी।

महापरिनिव्वाण से पूर्व पावा से कुशीनगर जाते समय मार्ग में बुद्ध को प्यास लगी और उन्होंने आनन्द को इसी नदी से जल लाने को कहा था। उस समय उस नदी से ५०० गाड़ियों का जत्था निकल चुका था जिससे नदी का जल गन्दा हो गया था। महात्मा बुद्ध के आग्रह के पश्चात् भी आनन्द आरम्भ में, गन्दे जल के कारण जल लाने नहीं गये बाद में जल स्वच्छ होने पर उन्होंने जल लाकर बुद्ध की प्यास बुझाई।

महावीर एवं गण्डक के सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णि से ज्ञात होता है कि निग्गण्ठ ज्ञातपुत्र 'ज्ञात' खण्डवन से प्रस्थान करके गण्डकी नदी को, स्थलमार्ग ( पुल ) से पारकर कर्मारों ( लोहारों ) के ग्राम कर्मारा पहुँचे थे।

जातक कथाओं से नदियों पर पुल का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु छिछले पानी में बन्द ( बाँध ) से पार करने का उल्लेख प्राप्त होता है। नदी में गहरे पानी को पार करने के लिए नाव ( द्रोणि ) का उपयोग हुआ करता था। राजा बहुधा नावों के बेड़े के साथ यात्रा किया करते थे। 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है कि राजगृह से श्रावस्ती के राजमार्ग पर सम्राट् अजातशत्रु ने नाव के पुल ( नौसंक्रमण ) का निर्माण करवाया था। लिच्छवियों के देश में भी गंडक पर एक पुल था।

इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु के शासनकाल में राजगृह से श्रावस्ती राजमार्ग पर लिच्छवि गणतंत्र के निकट गंडक पर नाव का पुल निर्मित था, जिसका उपयोग महावीर तथा बुद्ध एवं उनके शिष्यों द्वारा हुआ करता था। इतना निश्चित है कि पुल निर्माण के पूर्व वर्षाकाल में तीर्थंकर मुनि, भिक्षु, व्यापारीगण कम यात्रा किया करते थे, सम्भवतः जैन और बौद्ध भिक्षुओं के चातुर्मास की परम्परा इसी कारण आरम्भ हुई होगी। उपर्युक्त वर्णन से प्रमाणित होता है कि गंडक का इस क्षेत्र के इतिहास के सृजन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

## पुरातात्त्विक सर्वेक्षण

किसी स्थल के प्रामाणिक अनुसन्धान में पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य एक दूसरे के पूरक हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि पुरातात्त्विक साक्ष्य साहित्यिक साक्ष्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्य साहित्यिक विवरण पर प्रामाणिकता की मुहर लगा देते हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्य के अन्तर्गत अभिलेख एवं भूगर्भ के उत्खनन से प्राप्त भग्नावशेष और अन्य सामग्रियाँ जैसे मूर्तियाँ, कलाकृतियाँ एवं पात्र, मुद्रायें आदि मुख्य हैं। साहित्यिक साक्ष्य पड़रौना को ही पावा प्रमाणित करते हैं। इस अध्याय में हम पड़रौना सम्बद्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे—

पड़रौना से दक्षिण इसके ही उपनगर छावनी के निकट देवरहा ग्राम, छावनी से कुबेर स्थान जाने वाली सड़क के दक्षिण में स्थित है। यहाँ स्थित एक प्राचीन टीला, पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा सुरक्षित है। इस टीले के समीपस्थ मार्ग की उत्तर दिशा में महावीर की काले प्रस्तर की विशाल कलात्मक प्रतिमा आज भी पाकड़ के वृक्ष के नीचे पड़ी हुई है। इस प्राचीन टीले एवं यहाँ से प्राप्त मूर्तियों का सूक्ष्मता से निरीक्षण पड़रौना को प्राचीन नगरी सिद्ध करने में सहायक होते हैं।

टीले सहित इस क्षेत्र का सर्वेक्षण सर्वप्रथम बुकनन[1] ने (सन् १८१४) करवाया था। इस टीले की लम्बाई पूर्व-पश्चिम २२४′ तथा चौड़ाई उत्तर-दक्षिण १२८′ है। उनके अनुसार अनुमानतः २० वर्ष पूर्व यहाँ के तत्कालीन तहसीलदार शेखा ऊतुल्लाह के आदेश से इस टीले से ईंटें निकलवाकर तहसील में मकान आदि बनवाये गये थे। ईंट निकलवाते समय कुछ मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होने से अपशकुन मानकर ईंट निकलवाने का कार्य रोक दिया गया। वहाँ से प्राप्त कुछ मूर्तियों को भूमि के अन्दर दबा दिया गया था तथा शेष बाहर रह गयी थीं। बुकनन के आगमन के समय भी वहाँ तीन मूर्तियाँ विद्यमान थीं। एक मूर्ति टीले के समीप स्थित खाईं के निकट तथा शेष दो मूर्तियाँ निकट के गाँव में थीं। इन मूर्तियों में से एक तीन छत्रधारी पुरुष मूर्ति हिन्दुओं में हट्ठी माँ के रूप में पूजित थी।

बुकनन के सर्वेक्षण के लगभग २० वर्ष पूर्व १७९४ में कितनी ईंटें निकाली गयीं तथा इसके पूर्व उस टीले की क्या ऊँचाई रही होगी, इसका

---

१. माण्टगोमरीमार्टिन, एम० आर०—हिस्ट्री एण्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव इस्टर्न इण्डिया, जिल्द २ पृ० ३५४।

अनुमान लगाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। डॉ० राजबली पाण्डेय[1] के अनुसार लखनऊ के नवाब वजीर और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य समझौता १० नवम्बर १८०१ में हुआ था। ऋण चुकाने में असमर्थ नवाब वजीर ने सम्पूर्ण गोरखपुर, बस्ती, बुटवल तथा आजमगढ़ जनपद का उत्तरी भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दिया। इससे यही ज्ञात होता है कि १७९४ में नवाब वजीर के तत्कालीन तहसीलदार शेखा ऊतुल्लाह पड़रौना में रहा करते थे।

बुकनन[2] के उत्खनन-रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि तत्कालीन थानेदार से कहकर कुछ श्रमिकों को उन्होंने टीले के केन्द्र में उत्खनन के लिए लगाया, लेकिन ५ घन फुट उत्खनन के पश्चात् एक संकीर्ण पथरीले गलियारे में कुछ मानव अस्थियाँ दृष्टिगोचर होने के कारण उत्खनन कार्य स्थगित हो गया। उक्त परिस्थिति में इस टीले का उत्खनन पूर्ण नहीं हो सका। इनकी धारणा थी कि इस टीले के अन्दर कोई मन्दिर या स्तूप होना चाहिये।

सन् १८६१ में कनिंघम[3] को इस टीले का उत्खनन करवाते समय विभिन्न मूर्तियाँ एवं कलाकृतियाँ प्राप्त हुईं। उन्हें ज्ञात हुआ था कि ८ वर्ष पूर्व लगभग १८५३ ई० में एक स्थानीय जमींदार ने दो भवनों के निर्माण करवाने योग्य ईंटें निकलवाई थीं। इस कारण उक्त टीले से निकाली गई ईंटों एवं कनिंघम के आगमन के पूर्व तथा इसकी मूल प्रारम्भिक ऊँचाई ज्ञात करना कठिन है। कनिंघम के सर्वेक्षण के समय इस टीले की लम्बाई (पूर्व से पश्चिम) २२०' तथा चौड़ाई (उत्तर से दक्षिण) १२०' एवं ऊँचाई १४' थी। इस तथ्य की पुष्टि गैरिक तथा गोरखपुर गजेटियर[4] से होती है।

हमने २८ मई १९८३ को उक्त टीले की माप करायी जिसमें निम्नलिखित तथ्य पाये गये—

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० २५८-२५९

२. माण्टगोमरी मार्टिन एम० आर०-हिस्ट्री एण्टीक्विटीज़ टोपोग्राफी, एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया, जिल्द २, पृ० ३५४

३. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट खण्ड १, पृ० ७४-७५

४. नेविल, आर०, गोरखपुर गजेटियर खण्ड ३१, पृ० २७९-२८९

| | | |
|---|---|---|
| उत्तर में — | पूरब से पश्चिम की लम्बाई | २३९ फीट |
| दक्षिण में— | पूरब से पश्चिम की लम्बाई | २५८ फीट |
| पश्चिम में— | उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई | १२८ फीट |
| पूर्व में — | उत्तर से दक्षिण की चौड़ाई | २३३ फीट |
| | परिमाप | ८५८ फीट |

ऊँचाई १२' ८"

ऊपर के बिन्दु से उत्तर की दूरी ११४' थी।

कनिंघम[1] ने सम्भावना व्यक्त की है कि इस टीले पर बौद्ध विहार निर्मित रहा होगा। विहार में १०० वर्ग फीट क्षेत्रफल वाले आँगन के चारों ओर आवासीय कमरे रहे होंगे। कमरों के मध्य आँगन में स्तूप अथवा मन्दिर रहा होगा। इस बौद्ध-विहार का प्रवेश द्वार पूरब दिशा में प्रतीत होता है। गोरखपुर गजेटियर[2] में भी सम्भावना व्यक्त की गई है कि टीले पर एक बौद्ध विहार होना चाहिये और उसके मध्य में एक प्रमुख स्तूप होना चाहिये। पावा के नागरिकों के द्वारा बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो जाने पर उनके धातु अवशेषों के ८वें भाग को भूमि के अन्दर रखकर उस पर यह स्तूप निर्मित करवाया गया था।

कनिंघम[3] की दृष्टि में टीले से उपलब्ध गोल, सूजापट्टी तथा कुछ गोल किनारे वाली ये ईंटें बोध गया के प्रसिद्ध विशाल मन्दिर तथा गिरियक के स्तूपों में प्रयुक्त ईंटों से साम्य रखती हैं। कनिंघम ने ईंटों के आकार के आधार पर यहाँ दो स्तूपों के होने की सम्भावना व्यक्त की है। एक स्तूप ३० फीट परिधि एवं दूसरा ९ फीट परिधि का था। उत्खनन में उन्हें भूरे रंग के बाक्साइट पत्थर का स्तम्भ प्राप्त हुआ जो ५ इंच का वर्गाकार था। इस आधार की ऊँचाई ६ फीट १½ इंच थी। स्तम्भ के ऊपरी किनारे पर सादी कलात्मक धारियाँ निर्मित थीं। उन्हें उस प्राचीन टीले से महात्मा बुद्ध की भी कई प्रतिमायें प्राप्त हुई थीं।[4]

---

१. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ७४-७५

२. गोरखपुर गजेटियर्स, खण्ड ३१, पृ० २७९-२८९

३. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ७४-७५

४. कनिंघम, ए० ऐंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३६६

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग, पटना मण्डल द्वारा डॉ० अरुण कुमार के निर्देशन में उक्त टीले का उत्खनन दिनांक २६-१-१९८५ से १५-३-१९८५ तक किया गया था। उत्खनन की रिपोर्ट अभी तक अप्रकाशित है। इसका पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। उत्खनन की अवधि में मैंने कई बार इस टीले का निरीक्षण किया जो कुछ तथ्य मेरे सामने आये, वे इस प्रकार हैं—

१. वास्तविकता यह है कि पुरातात्त्विक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुख्य टीले के शीर्ष भाग का उत्खनन अब तक हुआ ही नहीं।

२. पूरब दिशा में मुख्य टीले का प्लेटफार्म अलग से दिखाई देता है। यह धारणा पूरी तरह सत्य नहीं है कि उत्तर एवं दक्षिण की दीवारों का एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अभी तक धरातल तक उत्खनन नहीं हुआ है, जिससे अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके।

३. मुख्य टीले के पश्चिमी भाग का उत्खनन नहीं किया गया है।

४. उत्तर की दीवार के अन्दर उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम लेते हुए नीचे के धरातल ( Basement ) तक उत्खनन करवाने के पश्चात् ही निर्मित स्थली के वास्तविक स्वरूप की सूचना प्राप्त होगी।

५. जहाँ तक छोटे टीले के उत्खनन का प्रश्न है उसमें केवल उत्तर की तरफ पश्चिमी किनारे पर उत्खनन हुआ है। किन्तु पूर्वी-दक्षिणी तथा पश्चिमी भाग में उत्खनन सम्बन्धी कार्य नहीं हुआ, जिसका उत्खनन धरातल तक करने की आवश्यकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उक्त टीले की व्यवस्थित खुदाई नहीं हुई है, जो अत्यावश्यक है। खुदाई के विषय में पटना और दिल्ली में चर्चा चल रही है। यहाँ प्राप्त मूर्तियों आदि के विषय में जो सूचनायें हमें प्राप्त हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

१. हल्के बलुआ पत्थर में भगवान् बुद्ध की मुखाकृति, लम्बे कानों में कुण्डल पहने हुए घुँघराले केश ४ × ५ से०मी०।

२. काले पत्थर की निर्मित, स्मित मुद्रा वाली भगवान् बुद्ध की मुखाकृति। कलात्मक दृष्टि से बहुत ही सुन्दर—१३ × १·५ से०मी०।

३. बलुवे पत्थर से बनी हुई प्रभामण्डलयुक्त भगवान् बुद्ध की मुखाकृति १४ × ८ से०मी०।

४. बलुवे पत्थर से ही निर्मित कलात्मक ढंग का खम्भायुक्त आला ( तक्ष ) १५·५० × १० से०मी०।

५. इसी पत्थर से निर्मित सुन्दर केश विन्यासयुक्त एक मानव मुख-मण्डल की खण्डित आकृति ७.५० × ६ सेमी० ।

६. अर्द्ध-खण्डित कमर तक की महावीर की प्रतिमा, जिसके दोनों ओर दो अनुचर खड़े हैं। बायीं तरफ ऊपर की ओर सिर के पास पद्मासन मुद्रा में एक पुरुष मुखाकृति है, जो घिसी हुई है। भगवान महावीर के वक्ष पर कमल अंकित है—२७ × २३ सेमी० ।

७. सिरविहीन मानव आकृति, पैर खण्डित, गले में आभूषण १० × ७ × ३ से०मी० ।

८. विकसित वक्षस्थलयुक्त सुदर नारी की प्रतिमा कञ्चुक ( नारी का वक्ष ढँकने का अधोवस्त्र ), कानों में कुण्डल, सुसज्जित केश-विन्यास, ऊपर की ओर ध्यान मुद्रा में अवस्थित एक पुरुष, उसके बायें बैठी हुई एक नारी तथा बर्तन में कुछ मथती हुई मुख्य नारी की प्रतिमा की गोद में एक बालक है—२२ × २० × १० सेमी० ।

९. एक काले पत्थर पर चमकदार ऊपरी सतह वाला पदार्थ जिसके अन्दर की ओर कुछ प्राकृतिक चित्रण है। १० × ८ × ५ सेमी० । ( दुर्भाग्यवश उत्खनन के समय नष्ट हो गया है। )

१०. मिट्टी के चार दीपक ३.३० मीटर की गहराई से मिले, जिसमें दो टूटे हुए हैं।

११. लगभग २०० से अधिक नक्काशीदार ईंटें प्राप्त हुईं, जिसमें ३ प्रकार की ईटों का ( दे० चित्र सं० ९ ) ब्यौरा निम्नलिखित है।

| | | पहली | दूसरी | तीसरी |
|---|---|---|---|---|
| नक्काशीदार ईंटें | ईंटों की लम्बाई | ७.३ इंच | — | — |
| | ईंटों की चौड़ाई | ५ इंच | ५ इंच | ५ इंच |
| | ईंटों की ऊंचाई | $1\frac{1}{2}$ इंच | २ इंच | २ इंच |

१२. १० से लेकर १२ गोलाकार ईंटें प्रात हुईं।

१३. कई अर्द्ध गोलाकार ईंटें प्राप्त हुईं।

१४. ३.३० मीटर की गहराई में एक दीवाल जिसकी लम्बाई ४.५ मीटर है, उस पर एक मनुष्य की खोपड़ी प्राप्त हुई। यह दीवाल उत्तरी खाई के दक्षिणी तरफ है। ( दुर्भाग्यवश उत्खनन के समय नष्ट हो गई )

फ्यूरर[1] के अनुसार कुशीनगर तथा सहेत-महेत के टीलों की भाँति

---

१. फ्यूरर, ए०, मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, पृ० ३१०, वाराणसी, १९६९

पड़रौना के प्राचीन टीले से भी ग्रामवासियों द्वारा ईंटें तथा कलाकृतियाँ निकालकर प्रयोग में लायी गई हैं जिससे अधिकांशतः पुरातात्त्विक साक्ष्य नष्ट हो गये हैं। प्रो० बाजपेयी[1] ने अक्टूबर १९८५ में कसया और पड़रौना की यात्रा कर टीले का विधिवत् निरीक्षण किया। इसकी दुर्दशा देखकर उनका विचार था कि आरम्भ से ही अत्यन्त निर्दयतापूर्वक इस प्राचीन टीले से अत्यधिक सामग्रियाँ निकाली गई हैं। इससे स्पष्टतया यह प्रमाणित होता है कि इस स्थान की प्राचीनता के अधिकांश साक्ष्य समाप्त हो चुके हैं। निस्सन्देह यह टीला अति प्राचीन है।

जनश्रुति के अनुसार टीले के दक्षिण-पश्चिम के कोने के खेत में एक लम्बी मूर्ति अथवा अशोक स्तम्भ का खण्डित भाग दबा हुआ है, जिसे कृषक ने खोदते समय खेत में देखा था। लेकिन उसने खेत से अधिकार समाप्त होने के भय से भयभीत होकर उसे खेत में ही दबा दिया।

सर्वेक्षण काल में बुकनन ने तीन मूर्तियों का रेखांकन किया था जिनका विवरण निम्नलिखित है। ( देखिये फलक १, चित्र क, ख, ग )। इस रेखा-चित्र के नीचे स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि : "दी इमेजेज फ्राम दी रुइन्स एट केलया ओल्ड टेम्पल नियर पररौना।"[2]

**१—प्रथम प्रतिमा का विवरण**

कन्धे तक की पुरुष की खड़ी विशाल प्रतिमा पीठिका पर स्थित है, यह गर्दन तथा भुजारहित, खण्डित विशाल मूर्ति है, नाभि के नीचे तक पुरुष आकृति है, किन्तु उसके ऊपर वस्त्रावृत वक्षस्थल है। मूर्ति का कटि से निचला भाग घुटने तक वस्त्र-सज्जित है। चामरधारी इन्द्र तथा उपेन्द्र दोनों पार्श्व में खड़े हैं। यदि गर्दन सहित, मूर्ति होती तो कुछ स्पष्ट रूप से कहा जाता। यह अद्भुत मूर्ति विद्वानों के लिए एक समस्या बनी हुई है।

प्रतिमा के ऊपरी ओर ध्यानावस्थित अवस्था में दो-दो बोधिसत्व अथवा महावीर की मूर्तियाँ दोनों तरफ दृष्टिगोचर हो रही हैं। दाहिने तरफ, नीचे की ओर, सिंहासन पर सुन्दर कलात्मक नृत्यमुद्रा में खड़ी हुई एक हाथ से चँवर कन्धे पर रखी हुई नारी की प्रतिमा दिखलाई देती है, जिसका दूसरा हाथ जाँघ पर रखा हुआ है। उसका केश-विन्यास आकर्षक

---

१. प्रो० बाजपेयी, कृष्णदत्त, लोकेशन ऑव पावा, पुरातत्त्व, पृ० ४३

२. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, हिस्ट्री, एण्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिस्टिक्स ऑव ईस्टर्न इण्डिया, वाल्यूम ११, पृ० ३८२ और ३८३ के मध्य।

है, कर्ण में कुण्डल धारण किये हुए है, गले में एक गलबन्द, कन्धे पर दो सुन्दर लड़ियों के हार तथा कमर में कई लड़ियों की करधनी द्वारा वह सुशोभित है। वह नारी पारदर्शी वस्त्र की कंचकु धारण की हुई प्रतीत होती है, लगता है कि कंचुक उसके बाँह के ऊपरी भाग तक है। कटि के नीचे का भाग जाँघपर्यन्त वस्त्रयुक्त है।

उस विशाल प्रतिमा की बायीं तरफ नीचे की ओर पीठिका पर कलात्मक मुद्रा में एक पुरुष की मूर्ति दृष्टिगोचर होती है, इसके केश विन्यास अनुपम हैं। इसके कान में कुण्डल है, यह दाहिने हाथ में करताल सदृश कोई वस्तु धारण किये हुए है जबकि हाथ खण्डित है। कटि के ऊपर का भाग निर्वस्त्र है और अधोभाग में सुन्दर कलात्मक वस्त्र धारण किये हुए है। मूर्ति की कटि कई लड़ियों की करधनी से सुसज्जित है।

इस विशाल प्रतिमा को डॉ० बाजपेयी[1] बुद्ध की ही प्रतिमा मानते हैं जिसके दोनों तरफ कई छोटी-छोटी प्रतिमायें तथा सहायकों की प्रतिमायें दृष्टिगोचर होती हैं। प्रो० मधुसूदन ढाकी[2] के कथनानुसार "यह विशाल खण्डित प्रतिमा अर्द्धवस्त्र धारण किये हुए है, अतः इसके जिन प्रतिमा होने की सम्भावना है। इसका निर्माण राजस्थान एवं गुजरात की मूर्ति शैली पर आधारित है, जिसका निर्माण काल १०वीं अथवा ११वीं सदी होना चाहिये।" कृष्णदेव[3] ने भी इसे शैली के आधार पर दसवीं सदी का स्वीकार किया है।

**२—द्वितीय मूर्ति का विवरण[4]**

पद्मासन में ध्यानावस्थित मुद्रा वाली २२वें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की काले पत्थर की विचित्र एवं विशाल प्रतिमा है। इसके ऊपर तीन छत्र सुशोभित हैं जो क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर छोटे होते चले गये हैं। महावीर के लम्बे कान कुण्डलयुक्त हैं। मूर्ति के बाँयें भाग में कलात्मक मुद्रा में उपेन्द्र की मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में चँवर सुसज्जित है और बायाँ हाथ नीचे की ओर दोनों जंघों के मध्य स्थित है। केश विन्यास

---

१. प्रो० बाजपेयी, लोकेशन ऑव पावा, पुरातत्त्व, पृ० ४३

२. व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर।

३. दिनांक १८-४-१९८९ ( महावीर जयन्ती ) की व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर।

४. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, हि०ए०टो०स्टे०ई०इ०, वाल्यूम ११, पृ० ३८२–३८३ के मध्य।

बहुत ही कलात्मक है। कान कुण्डलयुक्त हैं। कटि के ऊपर का भाग निर्वस्त्र है और अधोभाग घुटने के नीचे तक वस्त्रयुक्त है। वस्त्र धारण की शैली बहुत कलात्मक है। इस मूर्ति के ठीक ऊपर एक पुरुष की कलात्मक चैतन्य स्थिति में बैठ हुई मूर्ति है, जो दोनों हाथों से तलवार धारण किये हुए है। इसका दायाँ पैर नीचे की ओर तथा बायाँ पैर ऊपर की ओर मुड़ा हुआ है और इसके ठीक ऊपर डमरू निर्मित है, जिसको बजाते हुए दो नारी हाथ दृष्टिगोचर होते हैं।

महावीर की मूर्ति के नीचे बायीं ओर सिंह की मुखाकृति निर्मित है, जो शान्त मुद्रा में है। मूर्ति के नीचे मध्य में अत्यन्त सुन्दर पंखुड़ियों वाला कमल निर्मित है, कमल के ऊपर बैठी हुई एक नारी की मूर्ति है जो सिर पर मुकुट तथा कान में कुण्डल धारण किये हुए है। इस मूर्ति के कटि के ऊपर का भाग निर्वस्त्र, नीचे का भाग वस्त्रयुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के बायें हाथ में एक निर्वस्त्र बालक और दाहिने हाथ में कमल की पंखुड़ियाँ हैं। यह मूर्ति किसी आसन के सहारे पर बैठी हुई प्रतीत होती है। इस मूर्ति के दोनों ओर दो मालाधारी विद्याधर अंकित हैं, जिसमें बायें पार्श्ववाले पुरुष के दाहिने हाथ में मूसल तथा बायें हाथ में अत्यन्त मजबूती से पकड़ी गई तलवार है। दाहिनी ओर की मूर्ति के, दाहिने हाथ में मूसल सदृश कोई वस्तु है तथा उसका बायाँ हाथ उसके जाँघ पर है। हर दृष्टि से यह मूर्ति बहुत ही भव्य, अद्‌भुत एवं कला-प्रतिभा का श्रेष्ठ उदाहरण है।

इस भव्य प्रतिमा के विषय में डॉ० बाजपेयी[1] स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि यह जैन तीर्थंकर की ही भव्य मूर्ति है, जो पद्मासन मुद्रा में है। इसका पीठासन कलात्मक ढंग से बना हुआ है। इसके दोनों तरफ़ मालाधर विद्याधर दृष्टिगोचर होते हैं। पीठासन के सम्मुख अम्बिका की सुन्दर प्रतिमा है, जिसकी गोद में बालक है, जिसे वह बायें हाथ से पकड़ी हुई है। दाहिने हाथ में विकसित कमल का डण्ठल ग्रहण को हुई है। इसके विषय में प्रो० मधुसूदन ढाकी[2] का मत है कि ''यह काले पत्थर की कलात्मक प्रतिमा तीर्थंकर नेमिनाथ की होनी चाहिए जिसका निर्माण काल लगभग छठवीं या सातवीं शताब्दी होना चाहिए।'' श्रीकृष्णदेव[3] ने भी इसकी पुष्टि की है।

---

१. लोकेशन ऑव पावा, पुरातत्त्व, पृ० ४३

२. व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर।

३. व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर।

### ३—तीसरी मूर्ति का विवरण[1]

पादपीठ पर स्थित चतुर्भुज भगवान् विष्णु की खड़ी प्रतिमा है जिसके मस्तक पर सुन्दर कलात्मक, छत्रयुक्त मुकुट सुशोभित है। मूर्ति कटि से नीचे जानु पर्यन्त तक धोती धारण की हुई है और ऊपर उत्तरीय धारण की हुई प्रतीत होती है। दोनों लम्बे कान, कुण्डलयुक्त हैं। मूर्ति का गला गलबन्द से सज्जित है और वक्षस्थल पर एक लड़ी का हार चित्रित है। इसके दाहिने हाथ में गदा और बायें हाथ में पाश है। इसके दो हाथों में कंगन सुशोभित हैं, जबकि शेष दोनों तरफ के दोनों हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में ठीक नीचे दाहिने तरफ खड़े हुए पुरुष और बायीं तरफ खड़ी हुई नारी के मस्तक पर स्थित हैं। आशीष प्राप्त करती हुई पुरुष-मूर्ति सुन्दर केश-विन्यास, कान में कुण्डल, कमर के नीचे वस्त्र धारण की हुई बहुत ही कलात्मक मुद्रा में है। इस मूर्ति का बायाँ हाथ गदाधर की मूर्ति की ओर उठा हुआ है तथा दायाँ हाथ नीचे की ओर झुका हुआ है, जो कि ठीक नीचे की ओर बैठी हुई भगवान् गदाधर की ओर ध्यानावस्थित मुद्रा में पुरुष प्रतिमा के मस्तक पर है। जिससे यह प्रतीत होता है कि वह इसको आशीर्वाद दे रहा है। इस विशाल प्रतिमा की बायीं ओर कलात्मक मुद्रा में खड़ी, एक नारी का चित्र अंकित है, जिसका दाहिना हाथ गदाधर की विशाल प्रतिमा की ओर उठा हुआ है तथा बायाँ हाथ नीचे बैठी हुई गदाधर की ओर ध्यानावस्थित नारी प्रतिमा को आशीर्वाद देते हुए उसके मस्तक पर है। नारी का जूड़ा सहित केश-विन्यास अद्भुत है। कान में कुण्डल सुशोभित है। वह कमर के नीचे वस्त्र धारण किये हुए है। दोनों मूर्तियों के दोनों हाथों के ठीक नीचे बैठे पुरुष के नीचे पुरुष, नारी के नीचे नारी की मूर्ति है, जो ऊपर वाली मूर्तियों से आशीर्वाद ग्रहण कर रही है। बैठी हुई ये दोनों प्रतिमायें उत्तरीय धारण किये हुए हैं और भगवान् गदाधर की ओर उन्मुख होकर करबद्ध होकर पूजा की मुद्रा में दृष्टिगोचर हो रही हैं। यह भगवान् गदाधर की मूर्ति अपने आप में वास्तुकला की एक अनुपम उपलब्धि है।

बुकनन[2] दूसरी मूर्ति को बुद्ध की मूर्ति बताते हैं और इसके सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख करते हैं—"इस मूर्ति की दार्शनिक मुस्कान ने

---

१. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर०, हि० ए०, टो० स्टे० इ० इ०, खण्ड २, पृ० ३८२–३८३ के मध्य।

२. वही।

एक मुसलमान सैनिक को इतना उत्तेजित कर दिया कि उसने अपनी तलवार निकालकर मूर्ति के चेहरे को ही विकृत कर दिया था।

१८६१ में कनिंघम[1] को वहाँ प्रथम एवं तृतीय मूर्तियाँ दृष्टिगोचर नहीं हुईं, केवल द्वितीय बुकनन द्वारा निर्दिष्ट बुद्ध की मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर उन्हें इस मूर्ति में जैन मूर्ति होने के लक्षण दिखाई पड़े। जिस चबूतरे पर यह मूर्ति रखी हुई थी, उस पर अन्य कई प्राचीन मूर्तियों के साथ मिट्टी निर्मित हाथी की मूर्तियाँ रखी हुई थीं।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त बुद्ध की बैठी हुई प्रतिमाएँ भी उन्हें दृष्टिगोचर हुई थीं। उन्हें एक नारी की प्रतिमा मिली थी, जिसका ऊपरी भाग खण्डित था। वहाँ प्राप्त इन खण्डित मूर्तियों को देखने से उन्हें लगा कि ये किसी विशाल मूर्ति का अंग रही हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ उन्हें कोई उल्लेखनीय मूर्ति तो नहीं दिखलाई दी। कुछ महत्त्वपूर्ण मूर्ति-खण्ड अवश्य प्राप्त हुए तथा एक मूर्ति का पादपीठ दृष्टिगोचर हुआ, जिसे बुकनन ने अनदेखा कर दिया था। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों को वे साथ ले गये थे। मेरी तो यह धारणा आरम्भ से ही रही है कि सर एलेक्जेण्डर कनिंघम ने यहाँ से प्राप्त मूर्तियों और कलाकृतियों को ले जाकर भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में अवश्य रखवा दिया होगा, लेकिन हमारे पास निदेशक, भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता का २१ मई १९८६ का निम्नलिखित पत्र प्राप्त हुआ :—

"With reference to the letter addressed to the Governor, West Bengal, dated 6.2.1986 and your letter addressed to the Director, Indian Museum, dated 6.4.86 this is to inform you that a thorough search has been made among the existing registers ( records preserved in the Museum ) and it is found that in the collection of Indian Museum, there are some backed clay medals and ornamental bricks of different sizes found from Kasia but none of these is reported to have been deposited by Sir Alexander Cunningham."

इससे यह ज्ञात होता है कि एलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा तत्कालीन गोरखपुर जनपद से प्राप्त की गई मूर्तियाँ एवं कला-कृतियाँ वहाँ पर नहीं रखी हुई हैं।

---

१. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ६१-६२

वी०वी० वेडकर[1] के विचार से कनिंघम द्वारा प्राप्त की गई मूर्तियों के विषय में चौंकाने वाले तथ्य प्रकाश में आते हैं। उन्होंने लिखा है :

"It will be a shocking information to the historians of the world that the first superintendent of Indian Archaeology A. Cunningham, in the course of his official work of survey, made a very large and valuable collection of sculptures, coins and other objects of antiquarian interest, which alongwith his books, notes, papers and photo-negatives shipped to England through P & D Liner "Indus" which was unfortunately wrecked in the sea off the coast of Ceylon and thus this valuable collection is lost for ever in the sea."

यह जानकारी वेडकर[2] को प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० डी० आर० पाटिल के व्यक्तिगत नोट्स में प्राप्त हुई, जिसे डॉ० पाटिल ने उक्त संस्थान को दे दिया था। उनके नोट्स से यह ज्ञात होता है कि एलेक्जेण्डर कनिंघम की मृत्यु के पश्चात् ब्रिटिश पुरातात्त्विक पत्रिका में इस विषय में लेख प्रकाशित हुआ था।

अतः यह निष्कर्ष सुगमता से निकाला जा सकता है कि कनिंघम द्वारा यहाँ से प्राप्त की गई मूर्तियों और कलाकृतियों को जिसे अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्रियों के साथ वे पी० एण्ड डी० लाइनर "इण्डस" नामक जलयान से ब्रिटेन भेजने की व्यवस्था किये थे, वह सिलोन के तट के पास दुर्घटना-ग्रस्त होकर समुद्र में डूब गया।

१९७२ में हमने नेमिनाथ की इस मूर्ति को देखा तो पाया कि अब भी लोग उसकी सिन्दूर आदि लगाकर हट्ठी भवानी के रूप में पूजा करते हैं, नेमिनाथ की यह अद्भुत मूर्ति काले पत्थर की बनी है (फलक २, चित्र १)। कुछ विद्वान् इसे पाल-युगीन तो कुछ विद्वान् एवं इतिहासकार इसे पाँचवीं सदी की बताते हैं। योगमुद्रा में स्थित यह मूर्ति एक मीटर लम्बी साठ सेण्टीमीटर चौड़ी है। इस मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स अंकित है एवं मूर्ति के नीचे पादपीठ पर दोनों पार्श्व में दो सिंह निर्मित हैं और उन दोनों के मध्य में चक्र है। इस मूर्ति के ऊपर तीन छत्र बने हुए हैं, जो

१. सं० वेडकर वि० वि०, एलेक्जेण्डर कनिंघम, ए०, हिस्ट्री एण्ड रिलिजन, खण्ड ५ अंक ३, ठाणे, बम्बई १९८५

२. वेडकर, वी० वी०–एलेक्जेण्डर कनिंघम, हिस्ट्री एण्ड रिलीजन, पृ० १

क्रमशः छोटे होते चले गये हैं, पार्श्व में ( इन्द्र ) और उपेन्द्र अंकित हैं, जो चामर सज्जित हैं।

जब इस मूर्ति का बुकनन के रेखाचित्र से तुलनात्मक अध्ययन किया गया तो ज्ञात हुआ कि बुकनन ने मूर्ति का सूक्ष्मता से चित्रांकन किया है तथा इसकी चित्रकारिता के साथ पूर्णतया न्याय किया है। उनकी चित्रकला में एक कमी अवश्य दृष्टिगोचर हुई कि मूर्ति के वक्ष पर अंकित चिह्न को उन्होंने अनदेखा कर दिया था।

नेमिनाथ की मूर्ति के हट्ठीमाई, नामकरण के सम्बन्ध में गैरिक[1] का अभिमत है कि सम्भवतः मूर्ति के इस नामकरण के समय मन्दिर में नारी की कोई मूर्ति अवश्य स्थापित रही होगी। उक्त नारी की मूर्ति या तो नष्ट हो गई होगी अथवा वहाँ से हटा दी गई होगी। इस मूर्ति के विषय में फ्यूरर[2] का अनुमान है कि वह श्रीगणेश की माता पार्वती की मूर्ति रही होगी। आरम्भ से ही हट्ठीमाई का नाम चला आ रहा है। लोकोक्ति के आधार पर बुकनन तथा कनिंघम की यात्राकाल से इसे हट्ठीमाई सम्बोधित किया जाता है।[3]

इस भव्य मूर्ति के विषय में राय देवेन्द्र प्रसाद का मत है कि यह मूर्ति नेमिनाथ की प्रतीत होती है, महावीर की नहीं। क्योंकि उक्त मूर्ति पर शासन देवी की गोद में बच्चा अंकित है। अतः उक्त देवी नेमिनाथ की शासन देवी हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि खण्डित प्रतिमा को उन्हीं लोगों ने जोड़कर वहाँ रक्खा है। सीमेण्ट से जोड़ने के कारण इसके वास्तविक स्वरूप में विकृति आ गई है।"[4]

---

१. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट्स इन नार्थ एण्ड साउथ बिहार, खण्ड १६, पृ० ११९

२. फ्यूरर, ए०–मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज, पृ० २२४९

३. उल्लेखनीय है कि वाराणसी में भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से रेलवे स्टेशन जाने वाले मार्ग पर मुड़कट्टा बाबा की एक मूर्ति है, यह वास्तव में कोई जैन मूर्ति है जो अब मुड़कट्टा बाबा के नाम से पूजित है। इस प्रकार मूर्तियों के नये नामकरण से पूजने की यह कोई अकेली घटना नहीं है। विचारणीय बात यह है कि पड़रौना की यह मूर्ति और मुड़कट्टा बाबा की मूर्ति दोनों ही जैन प्रतिमाएँ हैं।

४. 'सठियाँव ही भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि है', सं० दिगम्बर जैन महा-

१९७५ में श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने पड़रौना आगमन पर इस कलात्मक प्रतिमा की प्रशंसा सुनकर, इसका निरीक्षण किया और इससे प्रभावित होकर इसका चित्र भी लिया था। इस भव्य मूर्ति के चित्र के आधार पर शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी ने अपना मत प्रकट किया है कि "यह जैन प्रतिमा निश्चित रूप से ही १०वीं शताब्दी के पूर्व की है। २४ तीर्थंकरों में यह किस तीर्थंकर की प्रतिमा है, इसके विषय में ये कोई निश्चित विचार व्यक्त नहीं कर पाते हैं। प्रतिमा में छत्र के निकट बाह्य-यन्त्र का अंकित होना वास्तव में उल्लेखनीय है। प्रतिमा के पृष्ठभाग का अध्ययन आवश्यक है, इस पर कुछ लेखांकन हुआ है।"[१]

नेमिनाथ की उक्त प्रतिमा की भुजा का खण्डित भाग गोस्वामी तुलसीदास विद्यालय, पड़रौना में रखा है, जिसका रजिस्ट्रेशन अभी तक नहीं हो पाया है। नेमिनाथ की विशाल कलात्मक प्रतिमा पड़रौना की अमूल्य निधि है, गौरवशाली अतीत की स्मृति है। इसकी स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय हो रही है। २० वर्ष के अन्तराल में खण्डित होकर विकृत हो गयी है। भारतीय तथा प्रान्तीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग से इस प्राचीन अद्भुत प्रतिमा का जीर्णोद्धार कर वास्तविक स्वरूप प्रदान कर इसे सुरक्षित रखने के लिए विगत कई वर्षों से निरन्तर अनुरोध करता आ रहा हूँ। मुझे भय है कि यदि इसकी उचित व्यवस्था नहीं हुई तो यह कलाकृति नष्ट हो जायेगी तथा पड़रौना की गौरवशाली स्मृति समय के प्रवाह में बह जायेगी।

इस मूर्ति के निकट पाकड़ वृक्ष की जड़ों में अब भी कई मूर्तियाँ फँसी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्ष फैलता गया, मूर्तियाँ वहीं दबी रह गयीं, जिसको निकालना कठिन कार्य है, इसके नीचे अनेक बिखरी हुई खण्डित मूर्तियाँ मिली हैं जिसे गोस्वामी तुलसीदास उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पड़रौना, देवरिया के संरक्षण में रखवा दिया गया है, जिसका विवरण निम्नलिखित है—

---

समिति बुलेटिन, जुलाई १९८४, पृ० ३, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन धर्मशाला, मेरठ, १९८४

१. ५-२-१९८६ के पत्र के आधार पर।

| क्र० सं० | रजिस्ट्रेशन नं० | सामग्री | आकार |
|---|---|---|---|
| १. | यू०पी०डी० ओ०ए०–७७ | **पाषाण प्रतिमा** सम्भवतः किसी पुरुष की खण्डित अस्पष्ट प्रतिमा, जिसका शीर्ष, ग्रीवा व भुजाएँ पूर्णतया खण्डित हैं, उदर के नीचे का भी समस्त भाग खण्डित है, प्रतिमा घिसी होने के कारण स्पष्ट नहीं है। | २३ × ४९ सेमी० |
| २. | यू०पी०डी० ओ०ए०–८० | **पाषाण प्रतिमा** सम्भवतः किसी पुरुष की अस्पष्ट खण्डित प्रतिमा है, जिसका शीर्ष, ग्रीवा, भुजायें व उदर के नीचे का समस्त भाग खण्डित है, प्रतिमा घिसी होने के कारण अस्पष्ट है, पाषाण के दोनों तरफ निर्मित प्रतिमायें अस्पष्ट एवं खण्डित हैं। | ३३ × ३५ सेमी० |
| ३. | यू० पी० डी० ओ० ए०–७८ | **पाषाण प्रतिमा** महावीर स्वामी की आसनस्थ योगमुद्रा में निर्मित प्रतिमा है, जिसमें दोनों हाथ योगमुद्रा में मुड़े हुए पैरों के ऊपर हैं, बायीं भुजा का ऊपरी हिस्सा, गर्दन व शीर्ष पूर्णतया खण्डित है, चरण चौकी के नीचे भी, प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं, जो अस्पष्ट हैं। | ३३ × ३५ सेमी० |
| ४. | यू० पी० डी० ओ० ए०–७९ | **पाषाण प्रतिमा** महावीर को आसनस्थ योगमुद्रा में निर्मित प्रतिमा है, जिसमें दोनों हाथ योगमुद्रा में मुड़े हुए पैरों के ऊपर हैं। बायीं भुजा का ऊपरी हिस्सा शीर्ष व गर्दन पूर्णतया खण्डित हैं, पादपीठ के नीचे भी प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं, जो अस्पष्ट हैं। ( चित्र सं० ६ ) | ४२ × ३७ सेमी० |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५. यू० पी० डी० ओ० ए०–८१ | **पाषाण प्रतिमा** सम्भवतः किसी नारी की खण्डित प्रतिमा है, जिसके शीर्ष व ग्रीवा पूर्णतया खण्डित हैं, बायें हाथ का कुछ भाग व जंघे के नीचे का समस्त भाग खण्डित है। प्रतिमा काफी घिसी होने के कारण अस्पष्ट है। ( चित्र सं० ७ ) | ३८×२८ सेमी० |

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी[1] ने पड़रौना के प्राचीन टीले तथा इसके समीपवर्ती क्षेत्रों का सूक्ष्मता से निरोक्षण एवं अध्ययन कर विचार व्यक्त किया है कि यहाँ से प्राप्त पौराणिक मूर्तियाँ ( जैसे—शिव, कुबेर आदि की ) ६५० ई०–११०० ई० के मध्य निर्मित हुई हैं।

पड़रौना-तमकुही मार्ग पर पड़रौना से तीन कि०मी० की दूरी पर एक उपमार्ग दक्षिण दिशा में निकलता है, जो छावनी से छावनी-कुबेर स्थान वाले मार्ग में ३ कि०मी० पर गुलेलहा मल्लिक पट्टी के निकट मिलता है। यह उपमार्ग २ कि०मी० का है। इस मार्ग पर गुलेलहा, मलिकपट्टी से १ कि०मी० उत्तर में सिधुवाँ देवलहो ग्राम स्थित है, जिसके निकट एक तालाब है। इस तालाब के निकट उक्त मार्ग के मध्य १९५४ में पत्थर का नोक निकला हुआ था, जिससे बैलगाड़ी तथा अन्य वाहनों के आवागमन में असुविधा होती थी, इस कारण ग्रामवासियों ने उक्त प्रस्तर नोक को निकालने हेतु खुदाई की तो वहाँ पर खण्डित युगल-चरण सहित पीठासन प्राप्त हुआ एवं अन्य कलाकृतियाँ भी प्राप्त हुईं, जो राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित हैं, जिसका विवरण निम्नलिखित है—

| Padrauna | | Deoria |
|---|---|---|
| 1955 | 285 | A Buffer Sand-stone |
| 1955 | 288 | BI Red-Sand-stone |
| 1955 | 284 | Small fragment of a colossal Yakṣha image, Śunga Period. |
| 1955 | 228 | Pedestal of a Colossal Yakṣha image containing the feet of a Yakṣha and the tenon supporting the whole image. The feet-wear |

१. प्रो० बाजपेयी, कृष्णदत्त, लोकेशन ऑव पावा, पुरातत्त्व, पृ० ५८

as generally found in Gandharva art, speckled Red Stone i.e. 2nd B.C.

विशाल खण्डित युगल-चरण सहित पीठासन का विवरण निम्नलिखित है : ( चित्र सं० ८ )

| | |
|---|---|
| ९५ से०मी० | नींव के पत्थर की लम्बाई |
| ३३ से०मी० | नींव के पत्थर का व्यास |
| ३३ से०मी० | आधार के ऊपर की लम्बाई |
| ५१.५ × १४ से०मी० | आधार की चौड़ाई |
| ६३ × १४ से०मी० | आधार की लम्बाई |
| ४० से०मी० | चरण की लम्बाई |
| १३.१७ से०मी० | चरण की चौड़ाई |
| १९.८ से०मी० | दो चरणों के बीच की दूरी |
| १३ से०मी० | एड़ी की गोलाई |
| १४ से०मी० | पादुका की गोलाई |

उपर्युक्त वर्णन से सहज ही कल्पना की जा सकती है कि जिस मूर्ति के युगल चरण-पीठासन पर निर्मित हैं, उस मूर्ति की ऊँचाई कम से कम १०′ होनी चाहिए। यक्ष के चरण की धारीनुमा पादुका गान्धारकला की प्रतीक है। मूर्ति का अन्य भाग उस तालाब में नीचे या सड़क के दूसरो ओर धरातल में दबा होना चाहिए।

आर० सी० गौड के पत्र से ज्ञात होता है कि वे उत्तर प्रदेशीय पुरातत्त्व संगठन की ओर से सन् १९५५ में यक्ष प्रतिमा के अवशेष के निरीक्षण हेतु पड़रौना आये थे। उनके कथनानुसार यक्ष प्रतिमा का भाग प्राप्त स्थान पर ही नष्ट किया जा चुका था। जब उन्होंने, यक्ष प्रतिमा के पीठासन के शेष भागों को खोजने का प्रयास किया तथा स्थली का उत्खनन करवाया तो उन्हें लाल बलुए प्रस्तर के कत्तल के ढेर मिले थे तथा साथ ही पीठासन सहित चरण के कुछ अंश प्राप्त हुए थे, जो एक विशाल यक्ष प्रतिमा के अंश मात्र थे। सम्भवतः यह प्रतिमा ई० पूर्व० द्वितीय या तृतीय सदी की है। पड़रौना में किसी ने यक्ष प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया होगा।"[१]

इसके विषय में प्रो० मधुसूदन ढाकी[२] का कथन है "यदि यह प्रतिमा

१. आर० सी० गौड के पत्र दिनांक १५ जनवरी १९८८ के आधार पर।

२. व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर।

ई०पू० दूसरी शताब्दी की है, तो इसे गन्धार कला की नहीं होनी चाहिए। यदि यह गन्धार कला की है, तो इसे दूसरी शताब्दी की होनी चाहिए। यक्ष के चरण में धारीनुमा चप्पल न होकर मूँज का खड़ाऊ प्रतीत होता है। प्रतिमा की ऊँचाई लगभग १०' होनी चाहिए।"

अब प्रश्न उठता है कि क्या यह विशाल यक्ष-प्रतिमा अज कपालक यक्ष की थी ? अजकपालिक चैत्य/चेतिय के विषय में बुकनन के १८१४ के सर्वेक्षण से सूचना प्राप्त होती है। बुकनन द्वारा पड़रौना के निकट प्राप्त तीन मूर्तियों के रेखांकन के नीचे स्पष्ट उल्लिखित है कि "पड़रौना के समीप, केलिया के प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष की प्रतिमा है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि "उदान" में वर्णित जिस चेतिय को अजकपालक चेतिय सम्बोधित किया गया है, वह बुकनन द्वारा लिखित 'केलिया चेतिय' का अपभ्रंश है। यह साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य पड़रौना को पावा की मान्यता प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्राचीन टीले के निकटवर्ती ग्राम के नामकरण का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसके निकट ( धूँस के समीप ) पलिया नामक ग्राम है। पलिया ग्राम के नामकरण से अजकलापक के अपभ्रंश का बोध होता है। बौद्ध साहित्य में पावा के साथ-साथ अजकलापक चैत्य का वर्णन बार-बार आता है। भारहुत साची में अजकालक यक्ष का नाम आता है। इसकी अधिक सम्भावना है कि अजकलापक से अजकलपीय तथा अजकपालिय से अजक लुप्त हो गया हो, पालिय शेष बचा हो, जो कालान्तर में "पलिया" में परिवर्तित हो गया हो, एवं यही अजकलापक अथवा अजकपालीय चैत्य रहा हो। जब तक, "अजकपालक", "अजकपालीय", "पालीय" एवं "पलिया" तथा "चैत्य", "चेतिय", "केलिय" एवं "केलिया" के नामकरण का कोई भाषावैज्ञानिक अनुसन्धान कर परिवर्तित शब्दों की विशद व्याख्या नहीं करता है, तब तक यह अपने आप में गूढ़ मनोरंजक रहस्य बना रहेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अजकालक या अजकलाप नामक यक्ष पावा के अजकलापक या अजकपालिय चैत्य में रहा करता था, जिसके प्रति श्रद्धा एवं महत्ता के कारण ही पावा के नागरिकों ने इसकी

---

१. माण्टगोमरी मार्टिन, एम० आर० हि०ए०टो०स्टे०ई०इ०, वाल्यूम ११, पृ० २८२-२८३, ( इमेज ऑफ रूइन्स ऐट केलिया ओल्ड टेम्पुल नियर पड़रौना )।

विशाल कलात्मक प्रस्तर-प्रतिमा का निर्माण किया था। राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित पड़रौना से प्राप्त शुंगयुगीन लाल प्रस्तर की विशाल प्रतिमा का खण्डित युगलचरण सहित पीठासन पावा के नागरिकों की कला-कौशल एवं अभिरुचि का प्रतीक है। अतीत की गौरव गाथा कहता है, अजकलाप यक्ष का परिचय देता है तथा सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करता है कि पड़रौना ही बुद्धकालीन पावा है।

पड़रौना के उपनगर छावनी के निकट दक्षिण में, पड़रौना-कसया मार्ग के पश्चिम में काले प्रस्तर की कलाकृति का खण्डित अंश प्राप्त किया गया है। यह पद्मासन मुद्रा में स्थित महापुरुष की मूर्ति के चरण का अथवा हस्त का खण्डित भाग है। विद्वानों[1] के मतानुसार यह दसवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य की कलाकृति है।

पड़रौना से ३ मील पश्चिम-दक्षिण दिशा में लमुहा ग्राम स्थित है, यहाँ पर एक विशाल टीला रहा है। जनमानस में ऐसा विश्वास है कि कई वर्ष पहले यहाँ से प्राप्त मूर्तियाँ, दान्दोपुर ले जायी गयीं, जो लमुहा से ३ मील उत्तर-पश्चिम में है तथा पड़रौना से ५ मील पश्चिम में है। इन मूर्तियों के विषय में जब दान्दोपुर से सूचना प्राप्त करने की चेष्टा की गई, तो ज्ञात हुआ इस समय वहाँ कोई प्राचीन मूर्ति नहीं है।

१९७२ में उपनगर छावनी के पश्चिम तालाब के पास खेत में काम करते समय गले की ताबीज, सिक्के व आभूषण प्राप्त हुए थे। उपनगर छावनी के पश्चिम स्थित, काँटी ग्राम में वटवृक्ष के नीचे लगभग १½′ लम्बी नारी की प्रस्तर मूर्ति आज भी दृष्टिगोचर होती है। पड़रौना से दक्षिण, दक्षिणपूर्व दिशा में ७ किमी० की दूरी पर देवरिया जनपद में गांगरानी ग्राम स्थित है। वयोवृद्ध पुजारी श्री ज्वाला प्रसाद जी मिश्र का कथन है कि गांगरानी गाँव के पश्चिम दिशा में जमुई पोखरे के उत्तर में टीले के झुरमुट से लगभग १९१९ में जर्मनवासी कई मूर्तियाँ बैलगाड़ी पर लादकर पड़रौना ले आए, जिसकी ऊँचाई लगभग ४′ या ४½′ रही है। कुछ मूर्तियों पर प्रभामण्डल निर्मित था। निश्चय ही पड़रौना के समीपवर्ती क्षेत्रों में प्राचीन मूर्तियाँ व कलाकृतियाँ बिखरी हुई हैं। हमें जानकारी प्राप्त हुई है कि लगभग १८ वर्ष पहले महावीर की भव्य-प्रतिमा के निकट से गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के किसी विद्यार्थी ने कुछ मूर्तियाँ ले जाकर गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर में रखवा दी थीं, जिसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं हो पा रहा है।

---

१. प्रो० कृष्णदेव एवं मधुसूदन ढाकी से वार्ता के आधार पर।

उपर्युक्त मूर्तियाँ एवं कलाकृतियाँ अपनी आत्मकथा स्वयं कहती हैं एवं प्रमाणित करती हैं कि यह क्षेत्र शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्धधर्म की संस्कृति एवं कला का मिश्रित केन्द्र रहा है। कला ही किसी क्षेत्र की सभ्यता, संस्कृति तथा वहाँ के नागरिकों की अभिरुचि का प्रतीक है। देश-विदेश के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर प्राप्त पौराणिक एवं ऐतिहासिक मूर्तियों तथा प्रतिमाओं के विषय में विभिन्न प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित रही हैं। यह क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है। इस क्षेत्र में बिखरी हुई मूर्तियों के विषय में भी अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चली आ रही हैं। यहाँ विभिन्न स्थानों पर कई ऐतिहासिक पाषाणकलाकृतियाँ एवं मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र का सदा से अपना अलग धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास रहा है।

डॉ० शैलनाथ चतुर्वेदी,[1] (विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर), महावीर सम्बन्धी जैन तीर्थस्थलियों तथा बौद्धधर्म सम्बन्धी तीर्थस्थलियों का तुलनात्मक अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि किस समय तीर्थंकर महावीर सम्बन्धी तीर्थस्थलियों की भौगोलिक स्थिति जैन मतावलम्बियों को विस्मृत हो गई जबकि बौद्ध धार्मिक महत्त्व के स्थानों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती है। बौद्धों ने गौतम बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट पवित्र स्थलों को उनके निर्वाण के कम से कम एक सहस्र वर्ष से अधिक तक न केवल स्मृति में रखा, अपितु तीर्थों के रूप में उनका पर्याप्त विकास भी किया। इस लम्बी अवधि में इन स्थानों पर स्तूप विहारादि का निर्माण होता रहा। बौद्ध तीर्थ स्थानों के विपरीत महावीर से सम्बद्ध स्थलों को यह सोभाग्य प्राप्त न हो सका। बुद्ध नये मत के प्रवर्त्तक थे। उन्होंने अपने भौतिक अवशेषों पर स्तूप निर्माण एवं सम्बन्धित स्थलों की तीर्थ-यात्रा का निर्देश अपने मत के प्रचार एवं प्रसार के लिए आवश्यक समझा। इसके विपरीत महावीर प्राचीन मत को आगे बढ़ा रहे थे। अतः किसी नई परम्परा की स्थापना की बात सम्भवतः उनके मन में नहीं उठी। यद्यपि यह कहना सम्भव नहीं है कि जैन धर्म में तीर्थ-यात्रा का महत्त्व कब से स्वीकृत हुआ, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि यह परम्परा महावीर के कालोपरान्त

---

१. महावीर का निर्वाण स्थल पावा कहाँ है? प्राचीन पावा, पृ० १-२, गोरखपुर, १९७३

आरम्भ हुई वो भी इतने समय बाद कि महावीर के वास्तविक जन्म एवं निर्वाण स्थलों की स्मृति पूर्णतः लुप्त हो चुकी थी'।[1]

यह तथ्य सर्वविदित है कि मल्लराष्ट्र बुद्धकाल के पश्चात् अल्पकाल तक ही उन्नति के शिखर पर था। तत्पश्चात् शनैः शनैः वह मगध राज्य में विलीन हो गया। कनिंघम[2] का मत है कि बुद्धकाल में मिट्टी के स्तूप निर्मित हुआ करते थे। डी० आर० पाटिल[3] ने इसकी पुष्टि की है। बुद्ध ने महापरिनिर्वाण से पूर्व बौद्ध धर्मावलम्बियों को निर्देश दिया था कि लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ एवं कुशीनगर तीर्थ स्थलियाँ दर्शनीय तथा संवेजनीय ( वैराग्यपद ) हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट यात्रास्थलों में पावा नहीं था, इस कारण बौद्ध धर्म में पावा की महत्ता नगण्य रही। इतिहास साक्षी है कि किसी भी धर्म का संवर्धन राज्य-सत्ता के प्रश्रय से ही होता है, राज्य संरक्षण से ही धर्म-विशेष का प्रचार-प्रसार होता है। जैन धर्म सत्ता हीन होने के कारण दिन-प्रतिदिन लुप्त होता चला गया। यही कारण है कि पावा में तत्कालीन स्तूप आदि किसी प्राचीन सामग्री के मिलने की सम्भावना कम है।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा इस टीले के अधूरे उत्खनन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रो० बाजपेयी ने लिखा है "१९८५ में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा उत्खनन करवाया गया था, वह अधूरा ही रहा। इस प्राचीन विस्तृत टीले का विधिवत् उत्खनन अवश्य करवाया जाना चाहिए तथा पड़रौना के आस-पास के क्षेत्रों के पूर्णरूपेण सर्वेक्षण की नितान्त आवश्यकता है। स्वयं उन्होंने महानिर्देशक पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, भारत सरकार से अनुरोध किया है कि इस विषय में शीघ्र ही उचित कदम उठावें। आशा है कि वे लोग इस पर शीघ्र ही कार्यवाही करेंगे।"[4] मेरी आरम्भ से मांग रही है कि उक्त टीले के उत्खनन के साथ पूर्ण न्याय होना चाहिए तथा आस-पास के क्षेत्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन, सर्वेक्षण और विश्लेषण हेतु उत्खनन शीघ्र ही होना चाहिए, जिससे कि सही पावा की पहचान हो सके।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि पड़रौना प्राचीन नगर है। पड़रौना

---

१. महावीर का निर्वाण स्थल पावा कहाँ है ? प्राचीन पावा, पृ० १-२।

२. कनिंघम एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८-७९

३. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० ३३७

४. लोकेशन ऑव पावा, युगयुगीन सरयूपारीण पावा, पृ० ५७

तथा इसके निकट से प्राप्त की गयी पुरातात्विक सामग्रियाँ, कलाकृतियाँ एवं मूर्तियाँ अपनी कथा स्वयं कहती हैं तथा प्रमाणित करती हैं कि उनका निर्माण काल ईसा पूर्व, दूसरी शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक का है। पड़रौना का पुरातात्विक साक्ष्य ही यहाँ के इतिहास की पुष्टि करता है।

## पावा पड़रौना शंका समाधान

कनिंघम[1] ने अपने सर्वेक्षण एवं उत्खनन के आधार पर १८६१ में प्रमाणित किया था कि पड़रौना ही पावा है, किन्तु कार्लाईल[2] ने १८७६-७७ एवं १८७७-७८ में इस सम्पूर्ण क्षेत्र का निरीक्षण एवं सर्वेक्षण कर सठियाँव–फाजिलनगर को निश्चित रूप से पावा घोषित किया था। सर्वप्रथम पड़रौना आकर कनिंघम जी की दृष्टि पावा पर थी। इस क्षेत्र का सूक्ष्मता से अध्ययन कर उन्होंने विचार व्यक्त किया कि पड़रौना की भौगोलिक स्थिति सामान्य यात्रा मार्ग से उत्तर दिशा में अधिक दूरी पर है, अतः पड़रौना को पावा की मान्यता प्रदान करना सम्भव नहीं हैं।

परन्तु जैसा पूर्व में भी कहा जा चुका है कि सिंहली बौद्ध साहित्य के अनुसार पावा कुशीनगर से १२ मील गण्डक की ओर स्थित था, इससे यह स्पष्ट है कि यह स्थान कुशीनगर से पूर्व में, वैशाली-कुशीनगर मार्ग पर स्थित था। सिंहली एवं बर्मी बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि पावा और कुशीनगर के बीच ककुत्था नामक पतली धारा ( छोटी नदी ) बहा करती थी, जहाँ महात्मा बुद्ध विश्राम कर स्नान और जलपान ग्रहण किये थे, परन्तु बर्मी बौद्ध-साहित्य में इसका कुकुखा के रूप में उल्लेख है। सम्भवतः यही कसया से पूर्व-दक्षिण-पूर्व की दिशा में लगभग ६ मील की दूरी पर बहने वाली वर्तमान घाघी नदी है।

कार्लाइल का तर्क है कि पड़रौना कसया से १२ मील उत्तर, उत्तर-पूर्व, अर्द्ध उत्तर दिशा में स्थित है। कुशीनगर के वास्तविक खण्डहरों से इसकी दूरी १३ मील है लेकिन यह दूरी मानचित्र पर नितान्त सीधी दूरी है।

---

१. कनिंघम, ए०—आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, खण्ड १, पृ० ७४-७५।

२. ( ब ) आ० स० इ० रि० टू गो० सा० गा०, वाल्यूम ११, पृ० ३० एवं पृ० १०।

कुशीनगर से पड़रौना की दूरी यदि मार्ग द्वारा नापी जाय तो यह ७ कोस अथवा १४ मील होती है। यह भी निश्चित है कि प्राचीनकालीन यात्रा मार्गों की दूरी आज के मानचित्र पर नापी गई सीधी दूरी से कम नहीं हो सकती है। प्राचीन काल में पावा से कुशीनगर तक के मार्ग की दूरी १२ मील थी। कारण यही था कि मार्ग में नदी, नाले, दलदल भूमियाँ एवं जंगल थे। यह सर्वदा असम्भव है कि वर्तमान मानचित्र पर नापने से सीधी दूरी १३ मील हो। अतः पड़रौना को पावा के रूप में मान्यता का विरोध करने का यह उनका प्रथम कारण रहा है।

पड़रौना को पावा न मानने की कार्लाइल द्वारा प्रदत्त दूसरी आपत्ति यह रही है कि पड़रौना प्राचीन वैशाली-कुशीनगर मार्ग से एकदम हटकर अधिक उत्तर की ओर स्थित है। परन्तु वैशाली या बसाढ़ से कुशीनगर मार्ग पर पावा के होने से कुशीनगर से दक्षिण-पूर्व में ही इसका होना सम्भव हो सकता है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रमाणित एवं सुनिश्चित हो जाता है कि इसी मार्ग द्वारा बुद्ध एवं उसके पश्चात् उनके प्रधान शिष्य महाकश्यप मगध या वैशाली से पावा होकर कुशीनगर आये थे। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पावा की भौगोलिक स्थिति के लिए कुशीनगर से दक्षिण-पूर्व में कहीं इसका अवलोकन करना आवश्यक है।

कार्लाइल के अनुसार प्राचीन काल में पावा एवं कुशीनगर के मध्य टेढ़े-मेढ़े मार्ग द्वारा यात्रा की दूरी १२ मील थो, तो सम्भव है कि वास्तविक दूरी एक सीधी रेखा में नापने पर केवल १० मील हो हो सकती है। उन्होंने सिंहली साहित्य के आधार पर बताया है कि पावा, कुशीनगर से १२ मील पर गण्डक नदी की ओर स्थित था। किन्तु वे फाजिलनगर-सठियाँव को पावा के रूप में मान्यता देते समय गण्डक नदी को बिलकुल ही अनदेखा कर देते हैं। वे केवल कुशीनगर और पावा के बीच की दूरी तक ही अपने को सीमित रखते हैं, वे गण्डक के विषय में मौन रहना ही उचित समझते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय[1] गण्डक को पावा और कुशीनगर के मध्य मानते हैं। योगेन्द्र मिश्र[2] स्वीकार करते हैं कि वैशाली से पावा जाने के लिए, बुद्ध को गण्डक नदी पार करनी पड़ी थी, किन्तु

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास पृ० ७८।

२. मिश्र, योगेन्द्र, श्रमण भगवान् महावीर की वास्तविक निर्वाण भूमि पावा प्राचीन पावा, पृ० ३७

वे उस स्थल को निर्देशित नहीं कर पाते हैं, जहाँ पर बुद्ध ने गण्डक पार किया था। कन्हैयालाल सरावगी[1] की दृष्टि में बुद्ध को वैशाली के निकट गण्डक पार कराने में सुविधा होती है। वास्तविकता यह है कि फाजिल-नगर-सठियाँव से गण्डक का न ता पहले ही कोई सम्बन्ध था और न अब भी है।

कार्लाइल के मत का समर्थन राजबली पाण्डेय[2] ने किया है। उनका कथन है कि कार्लाइल के पूर्व कनिंघम ने वर्तमान पड़रौना को पावापुरी के रूप में मान्यता प्रदान की था, किन्तु इस मत के विरोध में दो मुख्य आपत्तियाँ हैं। प्रथम आपत्ति है कि यह वैशाली एवं कुशीनगर मार्ग पर स्थित नहीं है। यह असम्भव प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध एव उनके शिष्य कश्यप वैशाली तथा राजगृह से कुशीनगर जाने के लिए १३-१४ मील, उत्तर-पूर्व पड़रौना की यात्रा कर फिर कुशीनगर आये होंगे। द्वितीय आपत्ति यह है कि कुशीनगर से पड़रौना की मार्ग से दूरी ( सीधी दूरी नहीं ) बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित दूरो से अधिक है। इन आपत्तियों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि कुशोनगर से पड़रौना के उपनगर छावनी के प्राचीन टीले की दूरी राजमार्गों द्वारा ठीक १२ मील है। कार्लाइल जहाँ एक तरफ कुशीनगर से सठियाँव-फाजिलनगर की दूरी १० मील स्वीकार करते हैं, उसे वक्राकार पगडण्डी द्वारा १२ मील तक खींचकर ले जाते हैं। वहीं दूसरी तरफ़ आधुनिक मार्ग द्वारा कुशीनगर पड़रौना की दूरी १३ मील स्वीकार करते हैं। यह ज्ञात नहीं होता है कि वे किस आधार पर कुशीनगर-पड़रौना मार्ग की दूरी १४ मील मानते हैं। यह तो निर्विवाद है कि आधुनिक युग में निर्मित कुशीनगर (माइल स्टोन) से कसया की दूरी १ मील तथा कसया-चौराहे ( माइल स्टोन ) से पड़रौना, डाक बंगला ( माइल स्टोन ) की दूरी १२ मील है। पड़रौना डाक बंगले में छावनी स्थित प्राचीन टीले की दूरी १ मील है। इस प्रकार मार्ग द्वारा पड़रौना के प्राचीन टीले से कुशोनगर को दूरी १२ मील निश्चित ही है, जिसे कोई भी नाप सकता है। अतः कार्लाइल द्वारा प्रतिपादित कुशीनगर-पड़रौना मार्ग की दूरी ७ कोस या १४ मील तर्कसंगत प्रतीत नहीं होतो है। वास्तविकता तो यह है कि पड़रौना से कुशीनगर

---

१. सरावगी, कन्हैयालाल पावा समीक्षा पृ० २१, ४३

२. डॉ० पाण्डेय, राजबली गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास पृ० ७७।

की दूरी १३ मील है, किन्तु पड़रौना के निकट स्थित बहुचर्चित टीले से कुशीनगर की दूरी ठीक १२ मील ही है। ऐसी परिस्थिति में अब दूरी को विवादास्पद बनाना तर्कयुक्त नहीं है। जहाँ तक मानचित्र पर कुशीनगर से पड़रौना के दूरी का प्रश्न है, कार्लाइल मानचित्र पर सीधी रेखा खींच-कर कुशीनगर-पड़रौना टीले की १२ मील की दूरी को १३ मील ले जाते हैं। यदि मानचित्र पर कुशीनगर और पड़रौना के मध्य सीधी रेखा खींची जाय तो किसी भी हालत में इसकी दूरी १२ मील से कम होगी, अधिक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वास्तव में यदि मानचित्र पर कुशीनगर से पड़रौना टीले के बीच सीधी रेखा में दूरी नापी जाय तो ११ मील ही होती है।

कार्लाइल[1] इसकी सम्भावना व्यक्त करते हैं कि बौद्धकाल में यहाँ कोई अच्छा मार्ग नहीं था, और मार्ग में नदी, नाले, दलदल तथा जंगल पड़ते थे, इसीलिए वे किसी राजमार्ग की कल्पना नहीं पाते हैं, और वे राही दूरी की बात करते हैं। यह ध्रुव सत्य है कि वैशाली और कुशीनगर के बीच (पड़रौना) पावा होकर राजमार्ग निश्चित हो था, जिसका बौद्ध साहित्य में बार-बार उल्लेख आता है।

कार्लाइल ने फाजिलनगर-सठियाँव को पावा सिद्ध करने के मार्गों के सम्बन्ध में अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार पड़रौना उस प्राचीन मार्ग पर स्थित नहीं है, जो वैशाली से कुशीनगर जाता था, उसकी स्थिति प्रसिद्ध मार्ग से हटकर उत्तर, उत्तर-पूर्व दिशा में है, इस कारण पड़रौना को पावा मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

कनिंघम के अनुसार वैशाली–कुशीनगर का मार्ग पड़रौना (पावा) होकर जाता था। कनिंघम ने कार्लाइल के रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन गोरखपुर सारन एण्ड गाजीपुर इन १८७७-७८ तथा ८०, जिल्द ११ की प्रस्तावना में कार्लाइल की अनेक मुख्य प्राचीन स्थलों की पहचान सम्बन्धी उपलब्धियों की विशेष चर्चा करते हुए उनकी पुष्टि की है। किन्तु इसमें उन्होंने फाजिलनगर-सठियाँव को पावा के रूप में कार्लाइल द्वारा मान्यता देने के सिद्धान्त के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, तथा मौन रहना ही उचित समझा है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने कार्लाइल द्वारा

1. कार्लाइल, ए० सी० आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट आव टूर्स वाल्यूम ११, पृ० २९

फाजिलनगर-सठियाँव को पावा के रूप में प्रतिपादित करने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। तत्पश्चात् उनकी गेरिक के साथ रिपोर्ट ऑफ टूर्स इन नार्थ एण्ड साउथ बिहार इन १८८०-८१, में पड़रौना को पावा के रूप में मान्यता देने के सिद्धान्त की पुष्टि की है। इससे यही प्रतीत होता है कि कनिंघम पड़रौना को वास्तविक पावा मान लेने के कारण कार्लाइल के सठियाँव-फाजिलनगर को पावा मानने के सिद्धान्त से बिल्कुल ही प्रभावित नहीं हुए थे।

कार्लाइल की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि वे इस क्षेत्र में अनेक वर्ष व्यतीत कर यहाँ के विभिन्न प्राचीन टीलों का उत्खनन करवाते रहे, किन्तु उन्होंने सठियाँव-फाजिलनगर के टीलों के उत्खनन करवाये बिना ही सठियाँव-फाजिलनगर को पावा की मान्यता दे दी। इसके विपरीत कनिंघम ने पड़रौना के प्राचीन टीले का उत्खनन करवाकर यहाँ की पुरातात्त्विक कलाकृतियों एवं सामग्रियों के आधार पर यह निश्चित रूप से घोषित कर दिया, कि पड़रौना ही पावा है। इससे यही प्रतीत होता है कि कार्लाइल ने संशय की स्थिति में रहने के कारण ही सठियाँव-फाजिलनगर के प्राचीन टीले का उत्खनन नहीं करवाया था। यदि वे इसका विधिवत् उत्खनन करवाये होते तो सठियाँव-फाजिलनगर को पावा घोषित नहीं कर पाते।

विद्वानों में वैशाली-कुशीनगर मार्ग के विषय में मत-वैभिन्य है। जहाँ कार्लाइल, डॉ० राजबली पाण्डेय, बौद्धभिक्षु धर्मरक्षित आदि विद्वान् सठियाँव-फाजिलनगर को पावा के रूप में इस प्राचीन मार्ग पर प्रतिपादित करते हैं, वहीं बुकनन, कनिंघम, गेरिक, भरतसिंह उपाध्याय तथा बाजपेयी आदि विद्वान् पड़रौना को। उपर्युक्त अध्ययन पावा विषयक भौगोलिक अभिज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि पावा की भौगोलिक स्थिति के विषय में कोई ठोस प्रमाण मिलने में सफलता नहीं मिल पायी है। यह विचारणीय प्रश्न है कि महावीर निर्वाणस्थली पावा कहाँ थी, तथा वहाँ आवागमन हेतु किस मार्ग का उपयोग किया जाता रहा है? अब मूल प्रश्न मार्ग का है। बुद्धकालीन एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर वैशाली, कुशीनगर प्राचीन मार्ग का अध्ययन अतिआवश्यक है।

●

# प्रागबुद्धकालीन मार्ग

प्राचीन मार्गों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि मार्गों की उत्पत्ति एवं विकास के पीछे मानव की सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित योजना रही है। आदिकाल में मानव को जीवनयापन के लिए यात्रा करनी पड़ती थी। आदिम मनुष्यों की यात्राओं का उद्देश्य ऐसे स्थानों की खोज थी, जहाँ खाद्य-वस्तुएँ, कन्दमूल फल, पशुओं के लिए चारागाह, और रहने के लिए गुफायें सुलभ हो सकें। एक स्थान पर रहते-रहते जब वहाँ पर विद्यमान जीवन-निर्वाह की सुविधाओं का अभाव होने लगता था तो नये स्थान की तलाश में वे वनों और पर्वतमालाओं को पार करते हुए आगे बढ़ते जाते थे, इस प्रक्रिया में दूर तक निकल जाते थे। मार्ग में हिंसक जन्तुओं और दस्युओं आदि के भय से अकेले-दुकेले यात्रा करना निरापद नहीं था। अतः वे समूह में यात्रा करते थे, इससे सार्थ की परम्परा का विकास हुआ। वैदिक युग आते-आते सार्थ परम्परा पूर्ण विकसित हो चुकी थी।

पड़रौना क्षेत्र में वैदिक सभ्यता के आगमन पर मोतीचन्द्र[1] ने मत व्यक्त किया है कि वैदिक साहित्य से इस बात का पता चलता है कि आर्यों के आगे बढ़ने में उनकी गतिशीलता और बलिष्ठता अधिक सहायक थी। जंगलों के बीच रास्ते बनाने के बाद भ्रमण करते हुए ऋषियों और व्यापारियों ने वैदिक सभ्यता का प्रचार और प्रसार किया। कुछ दिनों तक आर्य सदानीरा ( आधुनिक गण्डक ) के उस पार जाने का साहस नहीं जुटा पाये थे, तत्पश्चात् शतपथ-ब्राह्मण युग में सदानीरा के पूर्व में जाकर बस गए थे। शतपथ-ब्राह्मण में उल्लेख है—"सहोवाच। विदेधो ( हो ) माथ ( ध ) वः क्वा हं भवा नीत्य त एव हो प्राचीनं भुवना मिहि हो वाच। सैषार्ताहि कोशल विदेहा नां मर्यादा ते ही माथ ( ध ) वाः।"[2] शतपथ-ब्राह्मण में आर्यों के सदानीरा के पूर्व में बसने का विवरण इस प्रकार उपलब्ध है। सरस्वती नदी के किनारे वैदिक धर्म की पताका

---

१. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० ३९, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३

२. शतपथ-ब्राह्मण, राजस्थान वैदिक तत्त्व शोध संस्थान, जयपुर, १९५८, १-४-१-१०-१७

फहराते हुए, अपने पुरोहित गौतम राहुगण तथा वैदिक धर्म के प्रतीक, अग्नि के साथ, विदेह माधव आगे चल पड़े। नदियों को सुखाते एवं वनों को जलाते हुए वे तीनों सदानीरा ( आधुनिक गण्डक ) के किनारे पहुँचे। इस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण काल से पूर्व उस नदी के पार, वैदिक संस्कृति नहीं पहुँची थी तथा सदानीरा नदी के पूर्व का भाग जंगली तथा कृषि-विहीन था।''

विदेह माधव के सदानीरा के पूरब पहुँचने के पश्चात् अन्य ब्राह्मण भी वहाँ पहुँचे, उन्होंने यज्ञों द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर कृषि करना आरम्भ कर दिया। शतपथ-ब्राह्मणकार लिखते हैं कि आज भी यह नदी विदेह तथा कोशल राज्यों के बीच सीमा रेखा का कार्य करती है। महाकाव्य एवं पौराणिक सूचियों में द्वितीय स्थान के राजा मिथि विदेह का नाम माधव विदेह की याद दिलाता है। रामायण के अनुसार मिथिला के राजवंश की स्थापना निमि नामक राजा ने की थी। यद्यपि परवर्ती वैदिक साहित्य में विदेह की राजधानी मिथिला का उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु जातकों में इसका उल्लेख बार-बार किया गया है। निमि के पुत्र का नाम मिथि था तथा मिथि के पुत्र जनक, प्रथम रहे हैं। जनक व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, इससे जनकवंश का बोध होता है।

''धृतेस्तु बहुलापूवो भूद् बहुलाश्व-सुतः कृतिः।
तस्मिन संतिष्ठते वंशो जनकानां महात्मनाम्॥''[1]

उत्तर वैदिक साहित्य में स्पष्ट है कि, मिथिला के राजवंश को जनक-वंश कहा गया है, उनमें अनेकों ने 'जनक' नाम धारण किया था, इस प्रकार जनकवंश आरम्भ होता है।[2]

सम्पूर्णानन्द ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है : 'शुक्लयजुर्वेद'

---

१. वायुपुराण, खेमराजजी, कृष्णदास, बम्बई, १८१० ई०, ८९, २३

२. ''राजाभूत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्ववतां वरः॥ ३॥
तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः॥ ४॥''
वाल्मीकि रामायण, प्र० खं०, सर्ग ७१/३-४, गीता प्रेस, गोरखपुर द्वि० सं०, १९४७

तथा उससे सम्बन्धित 'शतपथ-ब्राह्मण' के काल तक तो आर्य सभ्यता निश्चित ही बिहार तक पहुँच चुकी थी। कोसल, काशी और मिथिला के राज्य स्थापित हो चुके थे। माधव विदेह वैदिक अग्नि को सदानीरा तट से आगे ले जा चुके थे। मिथिला में वैदिक यज्ञ-याग होने लग गये थे।"[१] इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए एल० एस० एम० ओमार्ले ने लिखा है कि अग्नि के साथ विदेह, सरस्वती के किनारे-किनारे चलकर गण्डक की चौड़ी धारा के तट पर पहुँचे, जहाँ अग्नि ने उन्हें सूचित किया कि उनका निवास स्थान गण्डक के पूर्वी तट पर है। वहाँ जाकर उन्होंने जंगलों को साफ किया तथा भूमि का कर्षण कर कृषि उत्पादन में वृद्धि की और वहाँ एक विशाल शक्तिशाली राज्य की स्थापना की, जिसके शासक राजा जनक ही रहे। इनके शासन काल में मिथिला भारतवर्ष का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सुसंस्कृत-सभ्य राज्य रहा।"[२] मथुराप्रसाद दीक्षित ने वैशाली की स्थापना के विषय में लिखा है 'शतपथ-ब्राह्मण' (१/४/१०/१९) के अनुसार सरस्वती के तट पर विदेह (मिथि) नामक राजा था, जिसका पुरोहित गौतम राहुगण था। ये दोनों अग्नि वैश्वानर का अनुसरण करते हुए सदानीरा नदी के तट तक पहुँचे। अग्नि वहाँ रुक गई तथा राजा विदेह (मिथि) सदानीरा के उस पार अर्थात् पूर्वी तट पर रहने लगे। उसी समय से उस देश का नाम विदेह अथवा मिथिला पड़ा। कालान्तर में विदेह दो भागों में विभक्त हो गया एक पूर्व विदेह तथा दूसरा पश्चिम विदेह। पश्चिम विदेह को लोग वैशाली भी कहते हैं।"[३]

मोतीचन्द्र के अनुसार 'सरस्वती और सदानीरा' के मध्य भूभाग में शतपथ-ब्राह्मण काल तक आर्यों की बस्तियाँ एवं नगर की स्थापना नहीं हुई थी, मार्ग भी नहीं बने हुए थे। ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है कि विदेह माधव ने जंगलों के मध्य वृक्षों को काटकर और जलाकर जो मार्ग बनाया था, वही मार्ग सरस्वती से सदानीरा होकर, श्रावस्ती होते हुए वैशाली तक जाता था।"[४] उपर्युक्त वर्णन से सरस्वती के तट से

---

१. भारत का सांस्कृतिक तीर्थ (लेख), वै० अ० ग्र०, पृ० ३९३

२. हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलाजी ऑफ वैशाली (लेख), वै० अ० ग्र०, पृ० ४३४-४३५

३. वैदिक काल में वैशाली, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २७०

४. मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० १०, २५

मिथिला तक मार्ग के निर्माण का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार इस मार्ग का इतिहास विचित्र है।

किसी भी नगर की स्थापना और उसके विकास में वहाँ के नागरिकों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग, सुरक्षा का दृष्टिकोण, कृषि, व्यवसाय एवं उद्योग की प्रगति तथा उसकी नदी के निकट को स्थिति, समुद्री-बन्दरगाह इत्यादि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन काल में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए आवागमन के सीमित साधन होने के कारण, दिन भर में आसानी से जितनी दूरी तय की जा सकती थी, उसी स्थान पर अपनी सुविधा के अनुरूप पड़ाव डाला जाता था। नगरों के विकास में इन पड़ावों की मुख्य भूमिका होती थी। प्राचीन राजधानियों को जोड़ना, प्राचीन राजपथों की प्रमुख विशेषता रही है। राजधानी बदल जाने पर मार्ग भी बदल जाते थे। राजधानियों के बदलने का मुख्य कारण जलवायु, व्यापार, राजनीति, धर्म, नदियों के धारा-परिवर्तन अथवा राजाओं की स्वेच्छा होती थी।

किंवदन्ती है कि रामायण काल में महाराज दशरथ जनकपुर जाते समय, गण्डक के किनारे रामघाट पर बारात के साथ विश्राम किये थे। यह स्थल अयोध्या और जनकपुर के मध्य राजमार्ग पर स्थित था। जनकपुर से अयोध्या की दूरी, राज्यमार्ग की चौड़ाई आदि को सूचना "वाल्मीकि रामायण"[1] से प्राप्त होती है। धनुषभंग होने पर जनक का सन्देश लेकर दशरथ के पास अयोध्या पहुँचने में रथारूढ़ उनके मन्त्री ( दूत ) को रास्ते में तीन रात्रि विश्राम करना पड़ा था।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हैं कि रामायण काल से अयोध्या एवं जनकपुर के बीच मार्ग विद्यमान था और मार्ग में सदानीरा ( गण्डक ) नदी को पार करना पड़ता था।

रामप्रसाद पाण्डेय[2] के अनुसार, किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्राचीन काल में अयोध्या और जनकपुर के बीच का मार्ग, पड़रौना

---

१. जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवा हनाः।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्या प्राविशन् पुरीम ॥१॥
अष्टषष्टितमः सर्गः, वाल्मीकि रामायण, पृ० १६१

२. पाण्डेय, रामप्रसाद, गोरखपुर जिले का इतिहास, पृ० ३४, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग, १९४२

से होकर जाता था। साकेत और बाल्मीकि आश्रम के बीच के मार्ग को यहीं से होकर जाने की अधिक सम्भावना है। अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि निर्वासित सीता, लक्ष्मण के साथ रथ पर इसी मार्ग से गयी थी।

महाभारत[1] में इस मार्ग एवं सदानीरा (गण्डक) का प्रायः उल्लेख आता है। कृष्ण, जरासन्ध वध के निमित्त, भीम और अर्जुन को लेकर तपस्वियों के वेष में, हिमालय की तराई से होकर, जनकपुर में कुछ समय विश्राम कर, राजगृह गये। मार्ग में सरयू, राप्ती, सदानीरा (गण्डकी) इत्यादि नदियों को पार किया। वे तीनों कुरुक्षेत्र प्रदेश से प्रस्थान कर, कुरु जंगल के मध्य होते हुए रमणीय पद्म सरोवर पहुँचे। फिर कालकूट पर्वत को पार कर गण्डक, महाशोण, सदानीरा एवं एक पर्वत प्रदेश की सब नदियों को क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये। इससे पूर्व उन्होंने रमणीसरयू नदी पार कर, पूर्वी कोशल प्रदेश में भी पदार्पण किया था। कोशल पारकर, बहुत सी नदियों का अवलोकन करते हुए वे मिथिला गये। गंगा और सोनभद्र को पार करके वे तीनों अच्युत वीर, पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे। कुश और चीर से उन्होंने अपने शरीर को ढक रखा था इस प्रकार चलते-चलते वे मगध क्षेत्र की सीमा के अन्दर पहुँच गये।

मोतीचन्द्र ने महाभारतकालीन मार्गों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है एवं इस तथ्य की पुष्टि की है कि कुरुक्षेत्र से राजगृह मार्ग रामगंगा पार करके साकेत और उत्तर जाते हुए श्रावस्ती से होकर कपिलवस्तु पहुँचा था, वहाँ से दक्षिण-पूर्व की दिशा पकड़कर, कुशीनगर और

---

१. कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम्।
रम्यं पद्मसरोगत्वा कालकूटमतीत्य च ॥२६॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्या व्रजन्तते ॥२७॥
उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान्।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः ॥२८॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥२९॥
महाभारत, सभापर्व, जरासन्धवध, २०/२६-२९, पृ० ७२३-२४, गीता प्रेस गोरखपुर।

पावा होता हुआ यह मार्ग वैशाली पहुँचकर, दक्षिण रास्ते से मिल जाता था। फिर वहाँ से दक्षिण-पूर्व की दिशा में मुड़कर भद्दिया, चम्पा, कजंगल होता हुआ ताम्रलिप्ति नगर पहुँचता था। वैशाली से दक्षिण राजगृह का मार्ग पालिग्राम, उरुवेल, गोरथगिरि ( पहाड़ी ) होता हुआ राजगृह पहुँचता था। कुरुक्षेत्र से राजगृह के इस मार्ग का उल्लेख, महाभारत ( २/१८/२६/३० ) में भी है। अर्जुन और भीम को साथ लेकर कृष्ण इसी मार्ग से जरासन्ध के पास राजगृह पहुँचे थे। महाभारत के अनुसार यह मार्ग कुरुक्षेत्र से आरम्भ होकर, कुरु जंगल के मध्य होकर तथा सरयू पार कर, पूर्व कोसल ( शायद कपिलवस्तु ) होकर मिथिला पहुँचता था। तत्पश्चात् गंगा और सोन के संगम को पार कर वह गोरथगिरि पहुँचता था, जहाँ से राजगृह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था।"[1]

महाभारत[2] में कर्ण की नेपाल-विजय के वर्णन-प्रसंग में कुशीनगर, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कोसल आदि प्रसिद्ध नगरों की विजय के साथ इरावती ( राप्ती ), गण्डक नदी को पार कर नेपाल नरेश को पराजित करने का उल्लेख है। इसके पश्चात् हिमालय से उतर कर उसने पूर्व दिशा की ओर आक्रमण किया। इस प्रकार इसी क्षेत्र से गण्डक पार कर नेपाल जाने का मार्ग निश्चित हो गया था, क्योंकि इस क्षेत्र में गण्डक मैदान में उतरती है। प्रमुख नगरों के लिए अवागमन का राज्य मार्ग यहीं से होकर जाता था।

भीम की दिग्विजय का भी महाभारत[3] में विस्तार से वर्णन मिलता है। विजय अभियान में उन्हें गण्डक पार कर, विदेह जनपद जाना पड़ा

---

१. मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० १९

२. नेपालविषये ये च राजानस्ता नवाजयत्।
अवतीर्य ततः शैलात् पूर्वो दिशमभिद्रुतः ॥७॥
महाभारत, वनपर्व, अ० २५४, श्लोक ७, पृ० १६५५, गीता प्रेस, गोरखपुर,

३. ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः।
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत प्रभुः ॥४॥
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥५॥
महाभारत, सभापर्व, अध्याय २९, श्लोक ४-५, पृ० ७५१, गीता प्रेस गोरखपुर।

था। यह विजय यात्रा "गोमूत्रिका" गति से पूर्व दिशा में बढ़ती हुई कभी उत्तर तो कभी दक्षिण की ओर के जनपदों और राजाओं पर दो तरफा मार करती हुई चलती थी। जिसका विवरण महाभारत के सभापर्व में इस प्रकार मिलता है—"वहाँ से आगे जाकर भरतवंश शिरोमणि शूरवीर भीम ने गण्डक नदी के तटवर्ती और विदेह "मिथिला" देश को अल्प समय में जीतकर, दशार्ण देश को भी अधिकार में ले लिया।" इस प्रकार स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि महाभारत में, इस क्षेत्र में निर्मित मार्ग तथा गण्डक से इसकी भौगोलिक स्थिति एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि के विषय में कई बार उल्लेख हुआ है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आवश्यकतानुसार मार्गों के निर्माण एवं उनके विकास का इतिहास रोचक है। समयचक्र के अनुसार, इसका स्वरूप भले ही बदलता रहे, लेकिन मूलतः वह किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखता है इसके प्रमाण आदिकाल, रामायण काल एवं महाभारत काल के उपर्युक्त विवरण हैं।

●

# बुद्धकालीन मार्ग

बौद्ध साहित्य में बुद्धकालीन राजमार्गों के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध है। राजमार्गों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन वैशाली-कुशीनगर मार्ग की स्थिति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इसके निर्णय हेतु मध्यदेशान्तर्गत आने वाले बुद्धकालीन मुख्य मार्गों का विवेचन एवं विश्लेषण अति आवश्यक है।

मार्ग सम्बन्धी विवरणों पर दृष्टिपात् करने से ज्ञात होता है कि बौद्ध साहित्य में मार्गों का वर्णन मुख्यतया बुद्ध की चर्या और व्यापारिक यात्राओं के क्रम में हुआ है। इस क्रम में हम कुछ व्यापारिक मार्गों का उल्लेख करने के पश्चात् बुद्ध-सम्बद्ध मार्गों का विवेचन करेंगे।

बुद्धकालीन अट्ठकथा धम्मपद[1] में वैशाली और मगध के राजमार्ग का वर्णन प्राप्त होता है। श्रेष्ठ व्यक्तियों एवं महापुरुषों के आवागमन हेतु मार्गों का जीर्णोद्धार हुआ करता था। मगधराज बिम्बसार को जब ज्ञात हुआ कि बुद्ध वैशाली से मगध के लिए प्रस्थान करने वाले हैं तो उन्होंने बुद्ध से निवेदन किया कि मार्गों के जीर्णोद्धार पूर्ण होने तक, यात्रा के कार्यक्रम को स्थगित करने की कृपा करें। राजगृह से ५ योजन लम्बा मार्ग चौरस कर दिया गया। गंगा के उस पार वज्जियों ने भी वैसी ही व्यवस्था की, तत्पश्चात् बुद्ध ने राजगृह यात्रा आरम्भ की।

बुद्धकालीन मार्गों एवं उनसे यात्रा करने वाले व्यापारियों के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं। महापरिनिव्वाणसुत्त[2] से पुक्कस मल्ल द्वारा ५०० गाड़ियों के साथ कुशीनगर से पावा की यात्रा करने का विवरण प्राप्त होता है। बुद्धचर्या[3] के अनुसार सुनापरान्त जनपद ( गुजरात के ठाणा और सूरत के जिलों का अंश ), के दो व्यापारी भाई पाँच-पाँच सौ गाड़ियाँ लेकर व्यापारार्थ श्रावस्ती गये। जातकट्ठकथा की निदान-

---

१. धम्मपद अट्ठकथा, सं० डॉ० टाटिया, नथमल, खण्ड ३, पृ० १७० पटना, १९७६

२. दीघनिकाय ( हि० ) महापरिनिब्बाणसुत्त, २/३, पृ० १३८-१३९

३. बुद्धचर्या ( हि० ) पृ० ३७६

कथा[1] के अनुसार श्रावस्ती का प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक व्यापारिक प्रयोजन से ५०० गाड़ियाँ लेकर राजगृह गया था। इसी यात्रा में उसने प्रथम बार गौतम बुद्ध का दर्शन किया था। धम्मपद अट्ठकथा[2] में उल्लिखित है कि वाराणसी का एक व्यापारी लाल वस्त्रों से लदी हुई गाड़ियों के साथ श्रावस्ती जाने के लिए निकला, किन्तु मार्ग में नदी पार न कर सकने के कारण तट पर ही सामान बेचने के लिए विवश हुआ था।

सुत्तनिपात के परायणवग्ग[3] ( बावरि के शिष्यों के यात्रा-वर्णन का प्रसंग ) में पावा को उत्तर भारत में श्रावस्ती–कुशीनगर, वैशाली के प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित बताया गया है। राजगृह–श्रावस्ती तक का मार्ग प्रमुख राजमार्ग था, जिस पर अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम ( पाटलिपुत्र ), कोटिग्राम नादिक या नादिका, वैशाली, भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर पावा, कुशीनगर, पिप्पलीवन, रामगाम, कपिलवस्तु, सेतव्या इत्यादि नगर स्थित थे। इस मार्ग पर बुद्धकृत चर्या का विस्तृत विवरण बौद्ध साहित्य से प्राप्त होता है। कोसल जनपदान्तर्गत एक सुविख्यात नगर एवं व्यापारिक केन्द्र होने के कारण श्रावस्ती, उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ से जुड़ा हुआ था।

परायणवग्ग[4] में प्राप्त बावरि ब्राह्मण के शिष्यों की यात्रा का वृत्तान्त इस प्रकार है—श्रावस्ती में उत्पन्न बावरि, मन्त्र-पारंगत होकर दक्षिण पथ पर जाकर गोदावरी के तट पर अलक नामक स्थान के निकट निवास करने लगा था। कपिलवस्तु त्यागने के पश्चात्, शाक्यपुत्र के परम ज्ञान प्राप्त करने की सूचना बावरि को मिली। बावरि ने अपने सोलह शिष्यों को श्रावस्ती जाकर उनके ज्ञान की परीक्षा करने का आदेश दिया।

---

१. जातक अट्ठकथा ( हि० ), सं० भिक्षुधर्मरक्षित, प्र० ख०, पृ० ११९

२. धम्मपद अट्ठकथा, सं० डॉ० टाटिया, नथमल, खं० ३, पृ० ४११

३. सुत्तनिपात परायणवग्ग ( हि० ), पद १०११-१०१५, पृ० ४३२

४. बावरिं, अभिवादेत्वा कत्वा चं नं पदक्खिणं।
जटाजिनधरा सब्बे पक्कामुं उत्तरामुखा॥
अलकस्स पतिट्ठानं पुरिमं महिस्सतिं तदा।
उज्जेनिं वापि गोनद्धं वेदिसं वन सव्हयं।
कोसम्बिं चापि साकेतं सावत्थिं च पुरुत्तमं।
सुत्तनिपात, परायणवग्ग ( हि० ), पद १०११, १०१५, पृ० ४३२

श्रावस्ती जाकर बुद्ध का दर्शन न पाकर शिष्यगण राजगृह के पाषाण चैत्य पहुँचे, जहाँ पर वे विहार कर रहे थे। यहाँ बावरि के शिष्यों की अलक से राजगृह-यात्रा का वर्णन प्राप्त होता है जिसके अनुसार बावरि-शिष्य दक्षिण में अलक से चलकर पतिट्ठान, महिस्सति (महेश्वर), महिष्मती, उज्जैनी, गोनद्ध ( विदिसा के निकट ), वेदिसं ( विदिसा ), वनसाध्य या वनसब्ध्य ( गोना जनपद में तुमैन ), कोसम्बी ( कौशाम्बी ), साकेत और सावत्थि ( श्रावस्ती ) मार्ग का अनुगमन किये थे। शिष्यगण श्रावस्ती से राजगृह जाते समय श्रावस्ती सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, भोगनगर, वैशाली और मागधपुर ( राजगृह ) के विश्राम स्थलों ( पड़ावों ) पर ठहरते हुए रमणीय पाषाण चैत्य में पहुँचे[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बुद्धकालीन भारत के दो प्रमुख मार्ग रहे हैं—श्रावस्ती–प्रतिष्ठान एवं श्रावस्ती–राजगृह। इन मार्गों के मध्य पड़ने वाले भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगरों तथा निगमों के सम्बन्ध में भी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

'महापरिनिब्वाणसुत्त'[2] राजगृह-कुशीनगर मार्ग के विषय में विस्तृत सूचनायें देता है साथ ही महापरिनिर्वाण के पूर्व बुद्ध ने वैशाली से कुशीनगर जाते हुए जिन नगरों एवं गाँवों में विहार किया था, उसका क्रमबद्ध अभिज्ञान प्रदान करता है। इसके अनुसार वैशाली से चलकर सर्वप्रथम वे भण्डगाम में विश्राम किये। अंगुत्तर निकाय[3] के अनुसार यह गाँव वज्जि जनपद में था। भण्डगाम की स्थिति वैशाली और हत्थिगाम के मध्य थी। हत्थिगाम भी वज्जि जनपद में था। संयुक्तनिकायवज्जिसुत्त में इसे वज्जियों का ग्राम बताया गया है।[4] महापरिनिर्वाणसुत्त के अनुसार "भण्डगाम और अम्बगाम के बीच हत्थिगाम स्थित था।"[5] हत्थिगाम से चलकर महात्मा

---

१. सेतव्यं कपिलवत्थुं कुसीनारं च मंदिरं।
पावं च भोगनगरं वेसालिं मगधपुरं,
पासाणकं चेतियं च रमणीयं मनोरमं॥
सुत्तनिपात, परायणवग्ग, पद १०११, १०१५, पृ० ४३२

२. दीघ निकाय, महापरिनिब्वाणसुत्त, २/३, पृ० १२२, १४०

३. अंगुत्तरनिकाय ( मूल ), खं० २, पृ० १

४. संयुत्तनिकाय ( हि० ), खं० २, पृ० ४९७

५. दीघनिकाय, महापरिनिब्वाणसुत्त ( हि० ), पृ० १३५

बुद्ध अम्बगाम पहुँचे थे, इसके पश्चात् जम्बुगाम। अतः दोनों ग्रामों को भी वज्जि जनपद में ही मानना तर्कसंगत है।

भिक्षुधर्मरक्षित[1] के अनुसार इन ग्रामों का क्रम इस प्रकार है: भण्डगाम, जम्बुगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम और भोगनगर। इन्होंने अम्बगाम को हत्थिगाम और भोजनगर के मध्य किस आधार पर बताया है, यह ज्ञात नहीं है। महापरिनिव्वाणसुत्त[2] में ग्रामों का क्रम इस प्रकार है—भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बुगाम, जम्बुगाम और भोगनगर। भिक्षुधर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य ने[3] अम्बुगाम और जम्बुगाम को बिहार राज्य के क्रमशः अमया और जमुनहीं नामक ग्राम से समीकृत करने का प्रयास किया है। नामसाम्य के विचार से इसे उचित माना जा सकता है परन्तु भौगोलिक दृष्टि से वस्तु स्थिति अभी तक स्पष्ट नहीं हुई है। भिक्षुधर्मरक्षित[4] का मत है कि हत्थिगाम के अवशेष बिहार राज्य के आधुनिक हाथिशाल नामक ग्राम के रूप में देखे जा सकते हैं। उन्होंने "अम्बगाम को मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत बताया है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि धर्मरक्षित ने जम्बुगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम और भोगनगर को मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत ही माना है, किन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महापरिनिव्वाणसुत्त में ग्रामों का जो क्रम दिया गया है, वह माननीय विद्वान् को फाजिलनगर-साठियाँव को पावा सिद्ध करने में सहायक नहीं था, इसीलिए उन्होंने क्रम में परिवर्तन किया है, परन्तु यह बुद्धिगम्य नहीं लगता है।

उपरोक्त यात्रा वर्णन से यह प्रतीत होता है कि जम्बुगाम और पावा के मध्य भोगनगर स्थित था। वैशाली और पावा के मध्य स्थित उपर्युक्त पाँच गाँवों (भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम और भोगनगर) में से केवल प्रथम दोनों (भण्डगाम और हत्थिगाम) पालि विवरण के अनुसार निश्चित रूप से वज्जि जनपद में थे। शेष तीन किस जनपद में स्थित थे इसकी पालि साहित्य में कोई सूचना नहीं मिलती है।

---

१. भिक्षुधर्मरक्षित, कुशीनगर का इतिहास, पृ० ७
२. दीघनिकाय, महापरिनिव्वाणसुत्त (हि०), २/३, पृ० १३५
३. भिक्षुधर्मरक्षित, कुशीनगर का इतिहास, पृ० १७
४. भिक्षुधर्मरक्षित, कुशीनगर का इतिहास, पृ० ५७

इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि भोगनगर वज्जिसंघ में स्थित था अथवा मल्लराष्ट्र में। बी० सी० लाहा[1] का निश्चित मत है कि भोगनगर मल्लराष्ट्र में स्थित था। भरतसिंहउपाध्याय[2] भी सम्भावना व्यक्त करते हैं कि पावा के अधिक समीप होने के कारण इसे मल्लराष्ट्र में ही मानना उचित होगा। किन्तु राहुल सांकृत्यायन[3], हेमचन्द्ररायचौधुरी[4] और मललसेकर[5] इसे वज्जिसंघ का अंग और नगर मानते हैं। मललसेकर के मत का समर्थन करते हुए योगेन्द्र मिश्र[6] लिखते हैं कि वज्जिदेश स्थित भोगनगर में महापरिनिर्वाण से पूर्व पावा पहुँचने के पहले बुद्ध ने विश्राम किया था। भोगनगर गण्डक के तट पर स्थित था और भोगनगर से पावा जाने में बुद्ध को गण्डक नदी को पार करना पड़ा था।

भोगनगर का वज्जिसंघ के अन्तर्गत होना और गण्डक के तट पर होना ही तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है। वज्जिसंघ और मल्लराष्ट्र के भौगोलिक अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट है कि गण्डक मल्लराष्ट्र और वज्जिसंघ की विभाजक रेखा थी।

अतः इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम और भोगनगर वज्जिसंघ के अन्तर्गत ही स्थित थे। बुद्ध महापरिनिर्वाण से पूर्व वैशाली से चलकर इन नगरों एवं ग्रामों से होते हुए गण्डक पार कर मल्लगणराज्य स्थित पावा पहुँचे, फिर पावा से कुशीनगर के लिए प्रस्थान किये।

महापरिनिव्वाणसुत्त[7] में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् एक विशाल भिक्षु संघ के साथ भिक्षु महाकश्यप द्वारा पावा से कुशीनगर तक यात्रा करने का उल्लेख प्राप्त होता है। सुत्तनिपात में बावरि के शिष्यों के यात्रा-वर्णन एवं महापरिनिव्वाणसुत्त से महापरिनिर्वाण पूर्व बुद्ध

---

१. लाहा, विमलचरण, ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म, पृ० २
२. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३२७
३. दीघनिकाय (हि०), पृ० ३२५
४. रायचौधुरी, हेमचन्द्र, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इण्डिया, पृ० ११८-२०
५. मललसेकर, जी० पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, खं० २, पृ० ९३
६ मिश्र, योगेन्द्र, एन अर्ली हिस्ट्री ऑव वैशाली, पृ० १९१-९२, दिल्ली, १९६२
७. दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्त (हि०), खण्ड २, पृ० १२४

की राजगृह-कुशीनगर यात्रा से राजगृह-कुशीनगर मार्ग का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इन यात्रा-विवरणों से यह तथ्य सामने आता है कि बुद्ध-काल में राजगृह और श्रावस्ती के बीच एक सुव्यवस्थित राजमार्ग अवश्य था। अतः पावा-कुशीनगर मार्ग के सन्दर्भ में कार्लाइल[1] का यह तर्क तथ्य से परे प्रतीत होता है कि बुद्धकाल में कोई समुचित मार्ग नहीं था। मार्ग में नदी, नाले, दलदल भूमियाँ इत्यादि थीं। सम्भवतः इनके तर्क से प्रभावित होकर ही डॉ० राजबली पाण्डेय[2] ने कुशीनगर-पडरौना के मार्ग का उल्लेख न कर राही दूरी (सीधी दूरी नहीं) की बात की है। उनका कथन है कि राही दूरी बौद्ध ग्रन्थों द्वारा बतायी गयी दूरी से अधिक है। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस सुव्यवस्थित मार्ग की पुष्टि की है।

टर्नर[3] ने कुशीनगर से पावा की दूरी १२ मील बतायी है। कनिंघम ने भी ह्वेनसांग की यात्रा का क्रमिक विवरण मानचित्र के साथ प्रस्तुत किया है। गंगा क्षेत्र के मानचित्र में स्पष्ट है कि ह्वेनसांग ने कुशीनगर से पावा (पड़रौना) की यात्रा की थी। इस प्रकार ह्वेनसांग के काल (७ वीं शताब्दी) में भी कुशीनगर से पड़रौना का मार्ग विद्यमान रहा है। मललसेकर[5] के अनुसार भी बौद्ध साहित्य में पावा से कुशीनगर के मार्ग का अनेक बार वर्णन आता है। इस प्रकार पावा-कुशीनगर मार्ग के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि बुद्धकाल में कुशीनगर-पावा मार्ग वैशाली से श्रावस्ती तक जाने वाले मुख्य राजमार्ग के अन्तर्गत आता था। तत्का-लीन राजमार्ग योजनाबद्ध ढंग से देश के प्रसिद्ध नगरों को जोड़ते थे। दक्षिण पूर्व से उत्तर-पश्चिम का महापथ राजगृह से श्रावस्ती को जोड़ता

---

"तेन खापेन समयेन आपसमा महाकस्सणो पवाय कुसिनारं अद्धान भग्गप्पटि पन्नोहोति महत्ता भिक्खु सङ्घेन सद्धि पन्चमत्तेहि भिक्खु सतेहि।"

१. कार्लाइल, ए० सी० एल, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिर्पोर्ट ११, गोरखपुर, सारण, गाजीपुर, पृ० ३०, ४०६

२. डॉ० पाण्डेय, राजबली; गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७८

३. टर्नर, जी०, नोट फ्राम बुद्धघोष, जनरल ऑव द एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, खण्ड ८, पृ० १००५, जे० थामस बैपिस्ट मिशन प्रेस कलकत्ता, १८३८

४. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी ऑव इण्डिया, पृ० ४७७

५. मललसेकर, जी० पी०, डिक्शनरी ऑव पालि प्रापर नेम्स, पृ० १७३

था, जिस पर मागधपुर ( राजगृह ), कोटिग्राम, नदिक या नादिका वैशाली, भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर, पावा, कुशीनगर, पिप्पलीवन, रामगाम, कपिलवस्तु, सेतब्या, श्रावस्ती आदि नगर आते थे। महावीर और बुद्ध के श्रमण-जीवन में श्रावस्ती-राजगृह मार्ग का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। इन महापुरुषों की चरिकाओं के कारण ही यह मार्ग गौरवान्वित हुआ है।



# पावा मार्ग अनुसंधान

बौद्ध धर्म के उन्नायकों में मौर्यवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त के पौत्र सम्राट अशोक ( २७३ ई० पूर्व–२३२ ई० पूर्व ) का नाम सदैव आदर के साथ लिया जायेगा। कलिंग युद्ध में हुए भीषण रक्तपात को देखकर हिंसा से विरक्त प्रियदर्शी अशोक ने घोषणा की 'भेरीघोषो अहो धम्मघोषो' अर्थात् रणघोष अब धर्मघोष हो और वे बौद्धधर्म के कट्टर अनुयायी हो गये। इनके द्वारा स्थापित शिलालेख एवं स्तम्भ लेख बुद्धकालीन इतिहास एवं मौर्यकालीन संस्कृति तथा कला के सजीव प्रमाण हैं। इन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में विभिन्न मार्गों पर शिला स्तम्भ स्थापित करवाये थे। ये स्तम्भ बुद्ध के उपदेशों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ राजाज्ञा एवं मार्ग-निर्देशन का कार्य करते थे।

इन्हीं प्राचीन स्तम्भों के आधार पर कनिंघम[1] और कार्लाइल[2] ने प्राचीन राजमार्गों का निर्धारण किया है। कनिंघम ने तो केवल इन मार्गों का संकेत ही किया है परन्तु कार्लाइल[3] ने अशोक-स्तम्भों के आधार पर दो मुख्य राजमार्गों का विस्तार से विवरण दिया है—एक पाटलिपुत्र ( पटना ) से कौशाम्बी ( इलाहाबाद होकर पटना से रमपुरवा राज-मार्ग )। उनके मत में अशोक ने मुख्य राजमार्गों के मुख्य नगरों व धार्मिक स्थलों पर ही इन स्तम्भों का निर्माण करवाया था, जिससे उस मार्ग से जाने वाले तीर्थयात्री व सामान्य यात्री उन स्तम्भों पर लिखे हुए धर्मोपदेशों को पढ़ें तथा उनसे मार्ग-निर्देशन प्राप्त करें। कार्लाइल ने अपनी रिपोर्ट में पाटलिपुत्र से नेपाल के पुराने दूसरे राजमार्ग का विवरण देते हुये लिखा है कि गंगा के उस पार वैशाली से रमपुरवा के बीच चार अशोक स्तम्भ आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। गण्डक से निश्चित दूरी को

---

१. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७६, ३७८

२. कार्लाइल, ए० सी०–आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट ११, गोरखपुर, सारण, गाजीपुर, पृ० ५५

३. ही–पृ० ५४

ध्यान में रखते हुए सम्राट अशोक ने गण्डक की पूर्व दिशा में वैशाली और उत्तर-पश्चिम की दिशा में लौरिया नन्दनगढ़ की ओर स्थापित करवाये थे।

सम्राट अशोक द्वारा स्थापित इन स्तम्भों के स्थानों से ही नहीं अपितु इन स्तम्भों में प्रयुक्त विशिष्ट प्रस्तरों से भी तत्कालीन मार्ग पर प्रकाश पड़ता है।

अशोक के स्तम्भों के प्रस्तर चुनार के प्रसिद्ध खदान से लाये गये थे। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि चुनार से इतने विशाल पत्थरों को किस प्रकार भारत के विभिन्न स्थलों पर ले जाया गया होगा। मोहम्मद हामिद-कुरेशीकृत "सरिते ए फीरोज शाही"[1] में फीरोजशाह तुगलक" के शासन-काल में अम्बाला के निकट टोपरा तथा मेरठ से दो अशोक-स्तम्भ दिल्ली लाने का वर्णन है। ये स्थान क्रमशः सौ तथा पचास मील की दूरी पर स्थित हैं। इन स्तम्भों के दिल्ली लाने की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है[2]—

इन स्तम्भों को स्थानान्तरित करने के लिए इनकी लम्बाई के अनुपात के बल्ले वाले पहियेदार वाहन ( लाढ़ा ) का निर्माण किया गया, जिस पर कुशलता से ये रखे गये। लाढ़ा में दोनों तरफ दस-दस लोहे के बड़े-बड़े छल्ले लगे हुए थे, जिसमें मोटे लम्बे रस्से बंधवाकर हाथियों के समूह से इसे खींचा जा सके। चार बड़े-बड़े छल्ले लाढ़े के पीछे भो लगे हुए थे, जिसमें मोटे रस्से बाँधकर पीछे से आदमियों का समूह ढलान पर लाढ़े को रोक सके तथा सम्भावित खतरे को टाला जा सके। पर्वताकार हाथियों का विशाल समूह जब लाढ़े को नहीं खींच पाया, तो असंख्य मनुष्यों द्वारा इसे खिचवाकर नदी के तट पर लाया गया, जहाँ इन्हें ले जाने लिए विशेष प्रकार की नाव निर्मित थी। उक्त पुस्तक से अशोक स्तम्भ को नाव पर चढ़ाने के समय नाव के तरफ वाले लाढ़े के पहियों को निकालकर रस्से और पुली की सहायता से उस पर रखने का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार अशोक स्तम्भों को नदी द्वारा फिरोजाबाद के किले के निकट वाले घाट पर लाया गया।

---

१. पेग, जे० ए०, मेमायर्स आन कोटला फीरोजशाह दिल्ली, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, सं० ५२, पृ० २३०

२. वही पृ० २३०

इससे सहज ही कल्पना की जा सकती है कि गण्डक के किनारे-किनारे कोल्हुआ, लौरिया अरेराज, लौरिया नन्दनगढ़ इत्यादि के अशोक स्तम्भों को चुनार के खदानों से गंगा नदी के द्वारा पाटलिपुत्र ले जाया गया होगा। पाटलिपुत्र के निकट से बूढ़ी गण्डक द्वारा गन्तव्य स्थानों पर इसी प्रकार ले जाया गया होगा।

वैशाली और लौरिया नन्दनगढ़ के मध्य निम्न स्थलों पर तीन अशोक स्तम्भ आधुनिक काल में भी विद्यमान हैं :—

१–वैशाली के निकट कोल्हुआ ग्राम

२–लौरिया अरेराज

३–लौरिया नन्दनगढ़

इन स्थानों का परिचय इस प्रकार हैं—

**कोल्हुआ :**

भौगोलिक दृष्टि से कोल्हुआ २५° ५८° अक्षांश एवं ८५°७ देशान्तर पर वैशाली जनपद के विशालगढ़ से २ मील उत्तर-पश्चिम बखरा के समीप स्थित है। बुद्धकाल में कोल्हुआ वैशाली का अभिन्न अंग रहा है। इसका प्राचीन नाम कूटागार था। कूटागारशाला महावन के अन्तर्गत स्थित थी, जहाँ बुद्ध अनेक बार विश्राम किये थे। बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है कि कूटागार के दूसरे खण्ड पर महापरिनिर्वाण पूर्व बोधिसत्त्व ने अपने शिष्यों को अन्तिम उपदेश दिया था। कोल्हुआ स्तम्भ कलात्मक दृष्टि से अनुपम चमकीले बलुए पत्थर से निर्मित लगभग ७ मीटर ऊँचा है। इसके शीर्ष पर वर्गाकार प्रस्तर पर स्वाभाविक मुद्रा में उत्तराभिमुख सिंह की एक आकर्षक प्रतिमा स्थापित है। सिंह पिछले पैरों को समेटे हुए आगे के पैरों पर खड़ा है। इसका मुख आधा खुला हुआ तथा जिह्वा बाहर निकली हुई है। वर्गाकार प्रस्तर के ठीक नीचे घण्टी सदृश कमल निर्मित है। इस पर कोई अभिलेख अंकित नहीं है लेकिन इसमें कोई शंका नहीं होनी चाहिये कि सम्राट अशोक की राजाज्ञाओं एवं धर्मोपदेशों को लिखवाने के उद्देश्य से यह स्तम्भ स्थापित किया गया होगा।

कोल्हुआ के अशोक स्तम्भ का अनेक विद्वानों ने समय-समय पर सर्वेक्षण किया है जिसका उल्लेख विभिन्न पत्रिकाओं एवं सूचियों में प्राप्त होता है। कोल्हुआ के अशोक स्तम्भ का उल्लेख जर्नल आफ एशियाटिक

सोसाइटी आफ बंगाल[1], आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया[2] के अतिरिक्त बंगाल लिस्ट[3], बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर[4] तथा, कुरेशी लिस्ट,[5] में भी उपलब्ध है। इसके विषय में चीनी यात्रियों[6] के यात्रा-वर्णन से भा विस्तृत सूचना प्राप्त होती है।

१७८४ में लाहा ने "एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल[7]" में एक निबन्ध "ए शार्ट एकाउन्ट आफ टू पिलर्स टू द नार्थ आव पटना" में कोल्हुआ के अशोक स्तम्भ के विषय में कुछ लिखा है या नहीं यह ज्ञात नहीं, लेकिन स्तम्भ के विषय में इस निबन्ध से कोई विशेष महत्त्वपूर्ण जानकारी नहीं मिल पाती थी, इसी कारण यह निबन्ध अप्रकाशित रहा। पहले इस स्तम्भ को बखरा स्तम्भ के नाम से जाना जाता था, क्योंकि कोल्हुआ ग्राम के निकट बखरा ही महत्त्वपूर्ण ग्राम था।

भारतीय चित्रकार द्वारा इसका एक रेखांकित चित्र बनवाकर, १८३५ में स्टोफेन्सन और प्रिन्सेप[8] ने इस स्तम्भ पर अपना लेख प्रकाशित

---

१. जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, पृ० १२४, बंपिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १८४७

२. (अ) आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट १९६१-६२ वाल्यूम १ पृ० ५८-६४

(ब) आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट आव टूर्स इन नार्थ एण्ड साउथ बिहार, पृ० १२-१६

(स) ब्लुच, टी०, एनुअल रिपोर्ट आ० स० ई० १९०३-४ पृ० ८३-८४

३. बंगाल लिस्ट–पृ० ३९६

४. बंगाल, उड़ीसा, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स पटना पृ० १३८-१४१

५. कुरेशी लिस्ट प्र० २८-३०

६. (अ) बील, सैमुएल, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आव द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग २, पृ० ८६-६७, ६८, ७१-८०, लन्दन, १९०६

(ब) वाटर्स, थामस, आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया वा० १ पृ० ६३-७८, ८१-८३

(स) गन्इलस एच० एच०, ट्रेवेल्स आव फाहयान, पृ० ४१-४४, लन्दन, १९०२

७. जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, पृ० १२४ वैपिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता १८४७

८. वही

करवाया। इसमें उन्होंने १७८४ के लाहा के लेख का भी विवरण दिया है। प्रिन्सेप ने इस निबन्ध में हग्सन के रेखांकित चित्र को भी प्रस्तुत किया है। इसमें उल्लिखित जनश्रुतियों से ज्ञात होता है कि स्टीफेन्सन के वहाँ जाने के कुछ वर्ष पूर्व एक बंगाली सज्जन ने गुप्तधन प्राप्त करने के उद्देश्य से इस स्तम्भ के निकट उत्खनन करवाया, परन्तु वे बर्बाद हो गये इसी प्रकार एक अन्य अंग्रेज सज्जन ने भी स्तम्भ की नींव तक खोदने का प्रयास किया, उन्हें भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। वहाँ की जनता में अन्धविश्वास है कि यह चमत्कारी स्तम्भ है। स्टीफेन्सन ने सर्वेक्षण के समय एक वैरागी को उस स्तम्भ के समीप देखा था जो उसकी उपासना किया करता था।

१८६१ में कनिंघम[1] ने भी ३० वर्षीय एक संन्यासी को इस स्तम्भ के सन्निकट निवास करते हुए देखा था। कनिंघम द्वारा प्रस्तुत माप के अनुसार इस स्तम्भ की लम्बाई आंगन के धरातल से १८′ है। घण्टी सदृश कमलाकार प्रस्तर तथा ठीक उसके ऊपर के वर्गाकार प्रस्तर की ऊँचाई क्रमशः २′ १०″, एवं १″ तथा सिंह की ऊँचाई ३.६″ है। इस प्रकार सम्पूर्ण अशोक स्तम्भ की ऊँचाई २५′ ४″ थी। इन्होंने इस स्तम्भ की नींव तक उत्खनन कराने का प्रयास किया, लेकिन १४′ नीचे तक उत्खनन होते ही जल की सतह प्राप्त हो जाने के कारण उसके नीचे उत्खनन नहीं हो सका। स्तम्भ के ऊपरी भाग की भांति अधोभाग भी उन्हें पालिश किया हुआ दिखाई दिया था। उनका अनुमान था कि १४′ खुदाई के अतिरिक्त ४′१″ और गहरा होना चाहिये। इस प्रकार उनके अनुसार अशोक स्तम्भ की सम्पूर्ण ऊँचाई ४३′ ५″ या इससे अधिक होनी चाहिये। जल तक इस स्तम्भ का व्यास ४९′ ८″ तथा शीर्ष भाग का व्यास ३८′ ७″ था। सम्भवतः यह स्तम्भ नींव के कमजोर एवं अधिक भारी होने के कारण ४″ से ५″ तक पश्चिम की ओर झुका हुआ है। कनिंघम का मत है कि उसने जितने भी सिंहयुक्त स्तम्भों का सर्वेक्षण किया है, उनमें यह सबसे अधिक भारी है, जिसका वजन ५० टन है।

डी० आर० पाटिल[2] के अनुसार अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण किसी

---

१. कनिंघम, ए० आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट खण्ड १ पृ० ५८, ६४ व खण्ड १६, पृ० १२, १६।

२. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० २९०-२९९ के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीच्यूट पटना १९६३।

सामग्री का पता लगाने के लिए समय-समय पर अनेक बार निरीक्षण, सर्वेक्षण एवं उत्खनन किया गया। इन प्रयासों से यही निष्कर्ष निकला कि इस पर मानव तथा पशु आकृतियों, चक्र एवं नान्दो के प्रतीकात्मक अंकन के अतिरिक्त कुछ भी अंकित नहीं है। कनिंघम[1] को १९६१-६२ के उत्खनन के समय स्तम्भ के निचले भाग में घोंघे सदृश कुछ विचित्र उत्कीर्ण की गई आकृतियां दृष्टिगोचर हुईं, परन्तु इनके विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। इस स्तम्भ पर नागरी लिपि में यात्रियों द्वारा कुछ अंकन किए गए हैं। अंग्रेजी में भी जी० एस० बारलो (१७८०) तथा रोविन बुरो (१९७२) के दो अंकन हैं।

कोल्हुआ के अशोक स्तम्भ के निकट १७९६-७८ में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा १०००'×६००'×७' ऊँची भूमि के उत्खनन के फलस्वरूप एक विशाल स्तूप एवं अनेक मनौती स्तूप (वोटिक स्तूप) मिले थे। इस उत्खनन से प्राचीन स्तूप के निर्माण के विभिन्न चरणों का पता चलता है। स्तूप के निर्माग के प्रथम चरण में चूने का पलस्तर किया गया था। द्वितीय चरण में स्तूप के प्रदक्षिणा पथ को छोटा कर दिया गया था। उत्खनन से बुद्ध की मुखाकृति की सुन्दर कलात्मक प्रतिमा भी प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त अशोक स्तम्भ के दक्षिण में रामकुण्ड है जो २००'×१४०' का है। पार्श्ववर्ती भाग में अन्य कई टोले दृष्टिगोचर होते हैं।

**केसरिया वैशाली** (वसाढ़) से ३० मोल उत्तर पश्चिम दिशा में २३.२ अक्षांश एवं ८४.५२ देशान्तर पर केसरिया नामक महत्त्वपूर्ण ग्राम स्थित है। ग्राम से लगभग दो मील दक्षिण मार्ग के पूरब अनेक टीलों के मध्य एक विशाल स्तूप दृष्टिगोचर होता है। वील[2] के अनुसार फाह्यान ने केसरिया से वैशाली की दूरी ५ योजन (३५ मील) एवं केसरिया से कुशीनगर की दूरी १२ योजन (८४ मील) माना है। थामस वार्ट्स ने[3] ह्वेनसांग की यात्रा के आधार पर केसरिया की स्थिति वैशाली से

---

१. कनिंघम ए० आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट खण्ड १, १८६१ पृ० ५८-६४।

२. वील, सैमुएल, फाह्यान ट्रैवल इन द वैशाली रिजन, पृ० ३२८, वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ।

३. वाटर्स, थामस, आन ह्वेनसांग ट्रैवल्स इन इण्डिया पृ० ६३-७९।

२०० ली ( लगभग ३३ मील ) स्वीकार किया है। ह्वेनसांग की यात्रा के समय यहाँ एक प्राचीन नगर का खण्डहर रहा है जो शताब्दियों से उपेक्षित था।

केसरिया के टीले का उल्लेख जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल[1], आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट[2], बंगाल लिस्ट,[3] बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स[4] तथा कुरेशी लिस्ट[5] में उपलब्ध है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ से ही विद्वानों एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान केसरिया टीले को ओर आकर्षित होता रहा है। १८१४ में कर्नल मेकेन्जी के निर्देशन में इसका उत्खनन हुआ। यह उत्खनन पूर्व से केन्द्र तक हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्हें एक गलियारा दृष्टिगोचर हुआ। इस उत्खनन के विषय में विस्तृत विवरण अप्राप्त है। १८३५ में हंग्सन[6] ने इस खण्डहर का रेखाचित्र तैयार कर प्रकाशित करवाया, उससे भी कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती है।

१९६१-१९६५ में कनिंघम[7] ने इस टीले का निरीक्षण एवं सर्वेक्षण कर अपने निर्देशन में उत्खनन करवाया। उस समय इस टीले की ऊँचाई ६२ तथा परिधि १४०० था। इस टीले पर ६८.५'' व्यास तथा लगभग ५१.६'' ऊँचा ईंटनिर्मित स्तूप का भग्नावशेष था। उनकी धारणा थी कि वास्तविक स्तूप की ऊँचाई कभी ८०'-९०' तथा सम्पूर्ण टीले और स्तूप की ऊँचाई धरातल से १५० से कम नहीं रही होगी। टीले की परिधि एवं आधार के सम्बन्ध में उनका अनुमान है कि इस टीले के अन्दर १६०' व्यास तथा १००' ऊँचा एक और विशाल स्तूप होना चाहिए। इस स्तूप

---

१. जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, पृ० १२१, प्लेट VII
२. कनिंघम ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट खंड १, पृ० ६४-६७ व खंड १६, पृ० १६-१९।
३. लिस्ट आव मानुमेण्ट्स आव बंगाल, पृ० ३७६।
४. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पृ० १५९-६०।
५. कुरेशी लिस्ट—लिस्ट आव ऐंश्येण्ट मानुमेण्ट्स, पृ० ४, न्यू इम्पीरियल सिरीज खंड १ एल १ १९३१।
६. जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, पृ० १२१ प्लेट VII।
७. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, खंड १, पृ० ६४-६७ व खंड १६, पृ० १६-१९।

के चारों ओर परिक्रमा मार्ग होना चाहिए। कनिंघम के पश्चात् टी० ब्लूच[1] ने इस स्थली का निरीक्षण एवं सर्वेक्षण कर अनेक सूचनाएं प्राप्त कीं लेकिन वे अपूर्ण रहीं।

केसरिया के स्तूप को राजावेन का देवरा कहा जाता है। कनिंघम[2] ने अपने भ्रमण काल में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर लिखा है कि राजावेन यावेन एक पौराणिक राजा हुए हैं। उन्होंने अपनी रानी (कमलावती) के निकट के तालाब में, डूब मरने पर शोकाकुल होकर परिवार सहित इस टीले पर आत्मदाह कर लिया था। यह उन्हीं का स्मारक है। इसे आज भी राजावेन चक्रवर्ती के नाम से सम्बोधित किया जाता है। पाटिल[3] के अनुसार इस टीले की गौरव गाथा का सम्बन्ध बुद्ध-कालीन स्वर्णयुग से रहा है। उन्होंने इस टीले की विशालता की तुलना कुशीनगर के निकट रामभार स्तूप से की है, जहाँ बुद्ध की महापरिनिर्वाण के पश्चात् अन्त्येष्टि हुई थी।

इस स्तूप से १/२ मील उत्तर-पूर्व के अन्दर ही २०० वर्ग फीट क्षेत्र वाले एक अन्य टीले को रनिवास कहते थे। इसमें कमलावती रानी रहती थी। १८६५ में इसका उत्खनन करवाते समय कनिंघम को एक बौद्ध विहार एवं बौद्ध मन्दिर के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हुए थे। उसमें उन्हें बुद्ध की विशाल मूर्ति भी प्राप्त हुई थी। वे दूसरी बार १८८० में केसरिया गये तो वह मूर्ति उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हो पायी थी।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में केसरिया से सम्बन्धित बुद्ध के पूर्व जन्म का रोचक प्रसंग आता है। जातक कथा ४ के अनुसार बुद्ध, पूर्व जन्म में केसरिया के प्रसिद्ध राजा थे, संसार में इनका एकछत्र राज्य था। बोधिसत्व केसरिया में मानव तथा देवताओं की संगोष्ठियों में निरन्तर उपदेश दिया करते थे। इनके पास ६ कोषागार थे। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर शरीर की नश्वरता का आभास एवं आत्मप्रकाश होने पर राजगद्दी के साथ देश को भी त्याग कर वे संन्यासी हो गये थे। फाहियान के यात्रा-

---

१. ब्लूच, टी०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया एनुअल रिपोर्ट १९०२, पृ० ६ एवं एंश्येण्ट ज्योग्राफी आव इण्डिया, पृ० ३७६।

२. कनिंघम, ए, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट पृ० ६४-६७।

३. पाटिल, डी० आर०, कुशीनगर, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया पृ ३१, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५७।

विवरण के आधार पर केसरिया के सम्बन्ध में वील[1] ने लिखा है कि लिच्छवि बुद्ध के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम से भाव-विभोर होकर उनके साथ निर्वाण-स्थली कुशीनगर जाना चाहते थे, किन्तु बुद्ध ने वैशाली के नागरिकों को स्मृति रूप में अपना भिक्षा पात्र देकर सान्त्वनायुक्त उपदेश से आश्वस्त कर केसरिया से विदा किया। लिच्छवि भिक्षा पात्र पाकर अत्यन्त हर्षित होकर, गौरव अनुभव करने लगे। इसके उपलक्ष में, वैशाली में महोत्सव मनाया गया। बुद्ध को महापरिनिर्वाण के लिए विदा करने तथा उनसे भिक्षा पात्र प्राप्त करने के कारण केसरिया स्थल की इतनी महत्ता बढ़ गयी कि लिच्छवियों ने इसके स्मारक के रूप में यहाँ चतुष्पथ पर स्तूप का निर्माण कराया, जिसकी पुष्टि कनिंघम[2] ने की है।

चतुष्पथ पर निर्मित स्तूप सिंहली साहित्य के उस उल्लेख से साम्य रखता है जिसमें कहा गया है कि बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से चक्रवर्ती राजा के लिए चतुष्पथ पर स्तूप का निर्माण करवाने का उपदेश दिया था। यह तथ्य कनिंघम को[3] टर्नर द्वारा लिखित जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता से प्रकाशित लेख से ज्ञात होता है। उन्होंने लिखा है यहाँ एक प्रसिद्ध चौराहा है, जो पटना बेतिया मार्ग तथा छपरा से गंडक पार कर नेपाल मार्ग को जोड़ता है, इन मार्गों का विवरण ह्वेनसांग की यात्रा के वर्णन से ज्ञात होता है।

**लौरिया अरेराज :—**

केसरिया से २० मील उत्तर-पश्चिम, बेतिया से १९ मील दक्षिण-पूर्व, मोतीहारी से १६ मील पश्चिम, गोविन्दपुर मार्ग २६°३३′ अक्षांश एवं ८४.२४′ देशान्तर रेखा पर अरेराज ग्राम स्थित है। इसी ग्राम के निकट दूसरा अशोक स्तम्भ निर्मित है। यह स्तम्भ लौरिया ग्राम से पूरब में स्थित है इसका शीर्ष भाग लुप्त है। चमकीले पालिशदार बलुए प्रस्तर के इस स्तम्भ पर सुन्दर अक्षरों में अशोक की राजाज्ञायें एवं धर्मोपदेश ४ पूर्व की एवं २ पश्चिम की ओर उत्कीर्ण हैं।

---

१. वील, सैमुएल बुद्धिस्ट रेकार्डस् आव द वेस्टर्न वर्ड, खण्ड १ भाग २ पृ० ७७-८०, लन्दन १९०६. ह्वेनसांग ट्रैवल्स इन वैशाली, अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३३६

२. कनिंघम, ए०, द एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३२६

३. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट १८६१-६२, खण्ड १ पृ० ६४-६७, खण्ड १६, पृ० २७६,

लौरिया शब्द की उत्पत्ति के विषय में विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। डॉ० राजबली पाण्डेय[1] के मत में लौरिया, संस्कृत शब्द 'लिंग' (लगुड) तथा भोजपुरी शब्द, 'लउर' से बना है। भाषा विज्ञान के आधार पर भोजपुरी भाषा में लौरिया शब्द का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि 'लउर' से लबदा, लाठी क्रमशः परिवर्तित हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि लौरिया शब्द का अभिप्राय लाठी से है। जनश्रुति में इसे भीम की लाठी कहा जाता है। कुछ लोग शिव का लिंग अथवा लउर कहते हैं, जिसे पवित्र मानकर पूजा होती है। अरेराज तथा नन्दनगढ़ के विशेषण के रूप में लौरिया का प्रयोग हुआ है। लौरिया अरेराज तथा लौरिया नन्दनगढ़ के नामकरण का श्रेय कनिंघम[2] को है।

लौरिया अरेराज का अशोक स्तम्भ यात्रियों, विद्वानों एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए आरम्भ से ही आकर्षण का केन्द्र रहा है, जिसका विस्तृत विवरण पुरातात्त्विक साहित्य से ज्ञात होता है। इस स्तम्भ का उल्लेख जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल[3], आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की वार्षिक रिपोर्टस[4],स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट,[5] बंगाल लिस्ट[6], बंगाल एण्ड उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर[7] एवं कुरेशी लिस्ट[8] में उपलब्ध है।

१९३४ में हृगसन ने एक टिप्पणी स्तम्भ के रेखाचित्र के साथ प्रिंसेप को भेजा था, जो १८३५ में प्रिंसेप की टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ। उक्त लेख में इस स्तम्भ को "रधिया" या सारूनलाट के नाम से सम्बोधित किया गया, जिसका एकमात्र कारण था कि उस समय लौरिया अरेराज ग्राम नगण्य था, रहरिया अथवा रूहरिया उस समय महत्त्वपूर्ण ग्राम था जो यहाँ से १/२ मील उत्तर पश्चिम में है। लौरिया अरेराज

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, अशोक अभिलेख, पृ० ४१

२. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, वाल्यूम I पृ० ६७-६८

३. जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, पृ०१२४-१२६, १८४७

४. कनिंघम, ए०—आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोटर्स, १८६१-६२, खण्ड १, पृ० ६७-६८

५. हण्टर, स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट आव बंगाल, वाल्यूम XIII, पृ० २५४

६. बंगाल लिस्ट—पृ० ३७८

७. बंगाल, उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पटना, पृ० १३८-१४१

८. कुरेशी लिस्ट पृ० ५-९

का कनिंघम ने[1] १८६१-६२ में निरीक्षण, सर्वेक्षण एवं उत्खनन कर विस्तृत विवरण दिया है। हन्टर[2] के स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट में भी इसका वर्णन मिलता है। कनिंघम[3] की रिपोर्ट के अनुसार चमकीले बलुए प्रस्तर से निर्मित इस स्तम्भ की धरातल से ऊँचाई ३६.६" है, तल पर इसका व्यास ४१.८" तथा शीर्ष भाग पर ३७.६" है। उन्होंने सम्भावना व्यक्त की है कि पृथ्वी के नीचे भी यह स्तम्भ कई फीट होगा। उन्होंने इसका कुल सम्भावित वजन ४० टन बताया है। उन्हें स्तम्भ के शीर्ष भाग पर कोई पशु आकृति दृष्टिगोचर नहीं हुई थी फिर भी उन्होंने सम्भावना व्यक्त की कि इस पर कोई न कोई पशु आकृति अवश्य निर्मित रही होगी। स्मिथ[4] का कथन है कि इसके शीर्ष भाग पर गरुड़ की प्रतिमा स्थापित थी। कनिंघम[5] ने स्थानीय लोगों से इसके विषय में जानने का प्रयास किया, परन्तु जनसामान्य में कोई चर्चा नहीं रही अतः इसके बारे में कोई सूचना उन्हें प्राप्त न हो सकी।

इस स्तम्भ का संक्षिप्त विवरण हन्टर ने "स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट" में दिया है। कुरेशी[6] की सूची से भी इसका विवरण प्राप्त होता है। डी० आर० पाटिल के मत में इस स्तम्भ के पालिशदार भाग पर नीचे से ३' की ऊँचाई तक कई व्यतिक्रमित रेखाएँ तथा कुछ काले रंग की छोटी वक्राकार आकृतियाँ अंकित थीं। इस स्तम्भ की मुख्य विशेषता यह है कि इसके आस-पास कोई प्राचीन अवशेष दृष्टिगोचर नहीं होता है। जबकि भारतवर्ष के अन्य स्तम्भों के निकट प्राचीन टीले एवं भग्नावशेष हैं। कोल्हुआ और लौरिया नन्दनगढ़ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। उनका विचार है कि इस स्तम्भ के निकटवर्ती क्षेत्र का सर्वेक्षण एवं

---

१. कनिंघम, ए०—आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १८६१-६२ वा० I, पृ० ६७-६८

२. हण्टर, स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट आव बंगाल, ना० XIII, पृ० २५४,

३. कनिंघम, ए० आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १८६१,-६२, वा० I, पृ० ६७-६८

४. डॉ० पाण्डेय, राजबली-अशोक अभिलेख, पृ० ११

५. कनिंघम, ए० आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १८६१-६२, वा० I, पृ० ६७-६८; कुरेशीलिस्ट पृ० ५, ९, १९, २९,

६. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार पृ० २३३, के० पी० जायसवाल रिसर्च इस्टीच्यूट पटना १९६३

उत्खनन होना चाहिए। इस पर सुन्दर अक्षरों में उत्कीर्ण ६ अभिलेख आज भी सुरक्षित हैं, जिसका हल्टज ने ( इन्स्क्रिप्शन्स आव अशोक, न्यू एडिसन, कारपस् इन्स्क्रिप्शन्स इंडिकारम, वाल्यूम, १९२५ पृ० १४१ एवं लिस्ट आफ मानुमेंट्स इन बिहार एण्ड उड़ीसा, कुरेशी द्वारा लिखित, पृ० ६-८, १९२९ ) अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है।

राजबली पाण्डेय[1] ने लौरिया अरेराज तथा लौरियानन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भों के अभिलेखों का गहन अध्ययन कर लिखा है कि ब्यूलर ने दोनों स्तम्भों के अभिलेखों को जर्मनी भाषा में ( जेड० डी० एम० जी० भाग ४५ तथा ४६ ) तथा अंग्रेजी में ( एपि० इण्डि०, भा० २, पृ० २४५ तथा आगे ) में सम्पादित किया है। अंग्रेजी के संस्करण में उन्होंने श्री गैरिक महोदय का लिप्यन्तर भी साथ ही साथ दिया है।

डी० आर० पाटिल[2] के अनुसार—कनिंघम ने अशोक स्तम्भ पर आड़ी-तिरछी रेखाओं से निर्मित अनेक आकृतियों को देखा था, जिसे जेम्स प्रिंसेप ने घोघा सदृश्य आकृति की संज्ञा थी। उस पर कुछ पर्यटकों के हस्ताक्षर भी हैं, उदाहरण स्वरूप प्रसिद्ध गणितज्ञ, खगोलवेत्ता एवं एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य राबिन बौरो के हस्ताक्षर १७९२ ई० में अंकित है, उसी वर्ष उनका देहावसान हो गया था।

लौरिया अरेराज में निर्मित अशोक स्तम्भ, अशोक कालीन इतिहास का जीता-जागता दस्तावेज है, निश्चित ही अशोक स्तम्भ उस काल के मार्ग-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण दिशा निर्देशन करता है। किन्तु लौरिया अरेराज स्तम्भ के निकट किसी प्राचीन भवन का भग्नावशेष, प्राचीन टीला अथवा स्तूप दृष्टिगोचर न होना, वास्तव में आश्चर्यजनक तथ्य है।

**लौरियानन्दनगढ़**

लौरिया अरेराज से ३४ मील उत्तर-पश्चिम, बेतिया से १५ मील उत्तर-पश्चिम तथा बगहा से २५ मील दक्षिण-पूर्व दिशा में २६°५९′ अक्षांश एवं ८४°२४′ देशान्तर रेखा पर लौरियानन्दनगढ़ नामक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्राम, बेतिया-बगहा मार्ग पर स्थित है। यहाँ से गंडक १० मील की दूरी पर दक्षिण में बहती है। इस ग्राम से अशोक स्तम्भ लगभग

---

१. इंस्क्रिप्शन्स आव अशोक, पृ० १४१

२. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० २३३, के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९६३

१/२ मील पर निर्मित है। इस पर लौरिया अरेराज स्तम्भ की भाँति चमकीले बलुए प्रस्तर पर सम्राट् अशोक की राजाज्ञाएँ एवं धर्मोपदेश उत्कीर्ण हैं। स्तम्भ पर कोल्हुआ के सदृश सिंह की स्वाभाविक एवम् आकर्षक प्रतिमा, चौकोर प्रस्तर पर निर्मित है, जिसके नीचे घंटीनुमा प्रस्तर पर कमल की पंखुड़ियाँ उत्कीर्ण हैं। जनश्रुति के आधार पर इस स्तम्भ को भीम की लाठी पुकारा जाता है।

आरम्भ से ही लौरिया अरेराज का अशोक स्तम्भ एवं उसके निकटवर्ती प्राचीन टीले यात्रियों, विद्वानों एवं पुरातत्त्ववेत्ताओं के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं, जिसका विवरण समय-समय पर पुरातात्विक रिपोर्ट तथा अन्य पत्रिकाओं में देखने को मिलता है। लौरियानन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ एवं प्राचीन टीलों का उल्लेख जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल[१], अर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया की रिपोर्ट[२], स्टेस्टिकल एकाउन्ट[३], बंगाललिस्ट[४], जरनल आफ रायल सोसायटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड[५], बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर[६], कुरेशो लिस्ट[७] एवं आर्कलाजी इन इण्डिया[८] में उपलब्ध है।

लौरिया ग्राम के निकट नन्दनगढ़ के किले के भग्नावशेष तथा टीलों की श्रृंखलाएँ दिखाई देती हैं। इस ग्राम के प्राचीन भग्नावशेष की ओर १८३५ में हडसन[१] आर्कषित हुए थे। इसे उन्होंने मठिया का अशोक स्तम्भ सम्बोधित किया, क्योंकि उस समय लगभग ५ मील दक्षिण-

१. जरनल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, हडसन १८३५, पृ० १२६

२. (अ) आर्कलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, कनिंघम, वैलूम १, पृ० ६८
   (ब) गैरिक ( कनिंघम ), आर्कलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट XVI पृ० १०४

३. स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट, खण्ड XIII, पृ० २५४-२५५

४. बंगाल लिस्ट, पृ० ३८०

५. जरनल आव रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैंण्ड, १९०२

६. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० १६१-१६२

७. कुरेशी लिस्ट पृ० ९, १६

८. घोष, ए०, आर्कियोलाजी इन इण्डिया, पृ० ६०-६१, नई दिल्ली, पृ० १९५०
   लौरिया ग्राम के निकट नन्दनगढ़ के प्राचीन किले के भग्नावशेष

१. हडसन-जरनल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, पृ० १२६, कलकत्ता १८४७,

पश्चिम में महत्त्वपूर्ण ग्राम मठिया रहा है, यद्यपि लौरियानन्दनगढ़ ग्राम अशोक स्तम्भ से १/२ मील पर ही स्थित है।

१८६२ में ए० कनिंघम[1] ने इसका निरीक्षण/सर्वेक्षण किया था। इसके निकटवर्ती टीलों तथा विशाल किलों के भग्नावशेषों को देखकर उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि यह लौरिया नवन्दगढ़ है। यद्यपि नवन्दगढ़ ग्राम अप्रसिद्ध रहा है, लेकिन प्राचीन टीले के आधार पर इसको महत्ता देने तथा नवन्दगढ़ टीले के अनुसंधान का श्रेय कनिंघम को है। स्मिथ[2] ने सर्वप्रथम नवन्दगढ़ का शुद्ध नामकरण नन्दनगढ़ किया है, जो उचित प्रतीत होता है।

ए० कनिंघम[3] के मत में ये गुम्बदाकार स्तूप एवं राजभवनों के भग्नावशेष बुद्धकाल से पूर्व १५०० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व के मध्य के होंगे। कोलेब्रुक द्वारा अनूदित 'अमर कोश' से उन्हें ज्ञात हुआ कि उस काल में स्तूप मिट्टी द्वारा निर्मित किये जाते थे। इसी आधार पर उन्होंने सम्भावना व्यक्त की है कि मिट्टी निर्मित लौरिया नन्दनगढ़ के स्तूप पूर्व बुद्धकालीन हैं। इन टीलों को वे पौराणिक राजा उत्तानपाद का राजभवन तथा निकटवर्तीय टीलों के समूह को उनके मंत्रियों का निवास स्थान मानते हैं। वज्जि राजाओं के स्तूपों के विषय में महात्मा बुद्ध ने आनन्द को सूचित किया था कि इन स्तूपों की वहाँ के नागरिक श्रद्धा एवं आदरपूर्वक पूजा-आराधना किया करते थे।

ए० कनिंघम[4] के १८६१-६२ के सर्वेक्षण रिपोर्ट तथा उसमें संलग्न रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ नवन्दगढ़ ग्राम से लगभग १/२ मील उत्तर-पूर्व तुरकहा नाला के पश्चिमी तट पर स्थित है। चमकोले प्रस्तर से निर्मित स्तम्भ ३२'-९" ऊँचे शीर्ष भाग पर सिंह प्रतिमा निर्मित है। सिंह की ऊँचाई ६'१०" है। इस प्रकार धरातल से इसकी ऊँचाई ३९'७" है। इस स्तम्भ के नीचे का व्यास ३५'४" तथा शोर्ष भाग का

---

१. कनिंघम, ए०—एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८-३७९
२. जरनल आव रायल एशियाटिक सोसायटी आव ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, पृ० १५३, १९०२,
३. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८-३७९।
४. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, वाल्यूम I, पृ० ७४-७५।

व्यास २६'.२" था एवं अन्य शीर्ष भाग की आकृतियाँ कोल्हुआ स्तम्भ के सदृश थीं।

लौरिया नन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ की विशेषता यह है कि वर्गाकार प्रस्तर के, जिस पर सिंह आकृति निर्मित थी, चारों ओर एक दर्जन भिक्षुणियाँ गर्दन झुकाए हुए पंक्तिबद्ध रूप में सिंह की परिक्रमा करती हुई अंकित हैं। अन्य दूसरे अशोक स्तम्भों की तुलना में यह अशोक स्तम्भ अधिक सुन्दर एवं आकर्षक है तथा कोल्हुआ एवं अरेराज के अशोक स्तम्भों की तुलना में इसका भार कम है। कनिंघम[१] ने पालिशयुक्त अशोक स्तम्भ के भाग का वजन, १८ टन अनुमान किया है। इनके सर्वेक्षण के अनुसार जनश्रुति में इसे भीम मारी कहा जाता है तथा इसकी पूजा की जाती है।

१८८० में कार्लाईल[२] ने अशोक स्तम्भ की नींव तक उत्खनन करवाया था। भूमि के अन्दर १०' से कुछ अधिक गहराई तक उन्होंने उत्खनन करवाया। उस समय उन्हें ७'४" वर्गाकार प्रस्तर दृष्टिगोचर हुआ था, जिस पर अशोक स्तम्भ स्थापित था। यह प्रस्तर खण्ड अशोक स्तम्भ के चारों ओर २'.२" बाहर की ओर निकला था। वर्गाकार समतल प्रस्तर के चारों ओर मजबूती के लिए, लम्बे शाल के बल्ले गड़े हुए थे। धरातल के लगभग २' नीचे अशोक स्तम्भ पर मुद्रिका सदृश २" मोटी परिधि निर्मित थी। इससे थोड़ा और नीचे ४" लम्बा मोर उत्कीर्ण था, जिसे उन्होंने मोरिय या मौर्यों का प्रतीक माना है। मुद्रिकाकार गोलाई के कुछ नीचे तक स्तम्भ चमकीला था, उसके नीचे के स्तम्भ का कुछ भाग खुर-दुरा तथा 'छनी मास' के चिह्न से युक्त था। आधारभूत वर्गाकार प्रस्तर तथा स्तम्भ के मध्य कुछ रिक्त स्थान था, जिसमें वे चाकू के फल को घुसाने में सफल हुए थे। इस विषय में राजबली पाण्डेय[३] का मत है कि लौरिया नन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ के शीर्ष भाग पर सिंह की स्वाभाविक रूप में उत्तराभिमुख खड़ी प्रतिमा निर्मित है तथा अशोक स्तम्भ के कंठ पर राजहंसों की पंक्तियाँ मुक्ताओं को चुभगती हुई दिखलाई गई हे।

---

१. वही, पृ० ७४-७५।

२. आर्कियालोजिकल सर्वे आव इण्डिया, रिपोर्ट आव टूर्स इन गोरखपुर, सारण, गाजीपुर, पृ० ४६-४७।

३. डा० पाण्डेय, राजबली, अशोक अभिलेख, पृ० ११।

डी० आर० पाटिल[1] का कथन है कि लौरिया अरेराज अशोक स्तम्भ के ६ अभिलेखों के समान ही इस पर भी अभिलेख अंकित हैं जो सुरक्षित हैं। लौरिया नन्दनगढ़ के अभिलेख का लौरिया अरेराज की भाँति हल्टज[2] ने अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है!

डा० राजबली पाण्डेय[3] के अनुसार लौरिया अरेराज अभिलेख की भाँति इस अभिलेख का भी ब्यूलर ने जर्मन और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है।

इस स्तम्भ पर अशोक अभिलेख के अतिरिक्त नागरीलिपि में दो अन्य अभिलेख भी अंकित हैं, जिसके विषय में कनिंघम[4] के मत के आधार पर डी० आर० पाटिल[5] का कथन है कि एक अभिलेख विक्रम संवत् १५६६ (ए० डी० १५०९) का अंकित है। दूसरे अभिलेख से उज्जैन के नरेश नारायण के पुत्र राजा अमर सिंह तथा उज्जैन के क्षत्रियपति के पुत्र महासिंह के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। लेकिन यह किस वर्ष में उत्कीर्ण हुआ है, इसका संकेत नहीं मिलता है।

कनिंघम[6] के अनुसार नन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ पर अशोक के अतिरिक्त मुगल सम्राट् औरंगजेब का भी अभिलेख है जिसका डी० आ० र० पाटिल[7] ने विस्तार से वर्णन किया है इसके दक्षिणी भाग पर ए० एच० १०७१ (ए० डी० १६६०-६१ में) फारसी में एक अभिलेख उत्कीर्ण है। यह सम्राट् औरंगजेब के बारे में है। सम्भवतः मीर जुमिला ईर्षालु था कि उसने स्तम्भ के शीर्ष भाग पर तोप से गोला फेंका था, जिसके चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। डी० आर० पाटिल[8] का कथन है कि रोबिन बोरो ने कोल्हुआ एवं लौरिया अरेराज के अशोक स्तम्भों की भाँति

---

१. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० २३३।
२. इंस्क्रिप्शन्स आव अशोक, पृ० १४५-१५०।
३. डा० पाण्डेय, राजबली, अशोक अभिलेख, पृ० ११।
४. कनिंघम, ए०, इंस्क्रिप्शन्स आव अशोक, पृ० १४५-१५० इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६१।
५. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरिय रिमेन्सन इन बिहार, पृ० २३५।
६. कनिंघम, ए० इंस्क्रिप्शन्स आव अशोक, पृ० ४१।
७. पाटिल, डी० आर०, एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० २३५।
८. वही, पृ० २३५।

इस पर भी १७९२ में अपना हस्ताक्षर अंकित किया था, इस वर्ष उनका देहान्त भी हो गया।

अशोक स्तम्भ के दक्षिण-पश्चिम में ५-५ टीलों की ३ पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, इसमें दो कतारें समानान्तर उत्तर-पश्चिम-दक्षिण हैं तथा दूसरी कतार स्तम्भ के दक्षिणी ओर पूर्व से पश्चिम तक है। इसके अतिरिक्त नन्दनगढ़ का विशाल स्तूप ग्राम से १ मील की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह २५० वर्गफुट वर्गाकार टीले के रूप में दृष्टिगोचर होता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा इन टीलों तथा स्तूपों का समय-समय पर निरीक्षण, सर्वेक्षण तथा उत्खनन किया गया है, जिनसे अनेक सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं।

डी० आर० पाटिल[1] के अनुसार टीलों के उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों में शवपेटिका, मानव अस्थिपंजर, हड्डी के टुकड़े, स्वर्ण पत्र पर नारी आकृति, इत्यादि प्रमुख हैं। नन्दनगढ़ के विशाल टीले से विभिन्न प्रकार की प्राप्त वस्तुओं, मिट्टी के बर्तन के रंगीन टुकड़े, चाकू, कटार, तीर तथा अन्य अस्त्र, कलम पर खड़ी हुई लक्ष्मी की प्रतिमा, जिसके दोनों तरफ सेविकाएँ चित्रित हैं, विभिन्न मुद्रायें, ताँबे का बर्तन इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। इस टीले के उत्खनन से प्राप्त बर्तनों के टुकड़ों पर नारी की विभिन्न प्रकार की केश सज्जा की मुद्रायें विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि नन्दनगढ़ ग्राम वैशाली, श्रावस्ती मार्ग पर स्थित प्राचीन ग्राम रहा है। यहाँ का अशोक स्तम्भ कलात्मक दृष्टि से अखण्ड, अनुपम एवं आकर्षक है और प्रत्येक दृष्टि से सुरक्षित है।

**पडरौना—**

कनिंघम[2] ने लौरिया नन्दनगढ़ का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि यहाँ से गंडक की दूरी १० मील है। उन्होंने इस सन्दर्भ को जुलीयन्स ह्वेनसांग, पृ० ४०२, मानचित्र सं० ११ से उद्धृत किया है। आधुनिक काल में भी यहाँ से पश्चिम दिशा में गंडक की दूरी लगभग १० मील है। उन्होंने लिखा है कि पडरौना, लौरिया नन्दनगढ़ (नवन्दगढ़) से सीधी रेखा में दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम के कोने पर २७ मील की दूरी पर स्थित है। रतवल ग्राम लौरिया नन्दनगढ़ से पश्चिमोत्तर दिशा में

---

१. वही, पृ० २३६, २४४।

२. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३७८।

लगभग १० मील की दूरी पर इस समय भी गंडक के किनारे पर स्थित है, यहाँ से पडरौना जाने के लिए गंडक के नदी पार करने की विशेष सुविधा है, यह सबसे निकटवर्ती मार्ग है।

अशोक स्तम्भ बुद्धकाल में राजमार्गों की आधार-शिला रही है। वैशाली-श्रावस्ती मार्ग पर अनेक स्तम्भ दृष्टिगोचर होते हैं। इसी आधार पर पड़रौना को पावा के रूप में नकारा नहीं जा सकता है, क्योंकि जनश्रुति के अनुसार पड़रौना के प्राचीन टीले के निकट दक्षिण-पश्चिम की दिशा में कृषकों के खेत[1] में जुताई करते समय एक लम्बा प्रस्तर खण्ड दिखाई दिया था, जिसे उसने अपने खेत में इसलिए दबा दिया था कि यदि यह तथ्य प्रकाश में आयेगा तो इसका खेत सरकारी कब्जे में चला जायेगा। सम्भवतः यह प्रस्तर खंड कोई विशाल मूर्ति या अशोक स्तम्भ का अंश है जिसका वास्तविक ज्ञान उस खेत के उत्खनन से ही हो पायेगा। अशोक स्तम्भों के आधार पर यही प्रतीत होता है कि पड़रौना ( पावा ) वैशाली और श्रावस्ती राजमार्ग पर स्थित है। यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य एवं अनेक मूर्तियाँ, प्रतिमाएँ, कलाकृतियाँ, शुंग, गुप्त, पाल इत्यादि काल के इतिहास को प्रतिबिम्बित करती है। क्षेत्रीय इतिहास के झरोखे से झाँकने में सहायता करती हैं तथा स्थल की प्राचीनता की पुष्टि करते हुए पावा की ओर संकेत करती हैं।

**कुशीनगर**

कुशीनगर कसया के निकट पड़रौना से १२ मील की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम में स्थित है, जो महात्मा बुद्ध की महापरिनिर्वाण स्थली होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर चुका है। कुशीनगर के निकट होने के कारण पड़रौना और कुशीनगर दोनों का क्षेत्र एक ही है। एक का इतिहास दूसरे से जुड़ा हुआ है, दोनों की आर्थिक सम्पन्नता, शासन व्यवस्था, सामाजिक परम्परायें, सांस्कृतिक एवं कला की अभिरुचियों का परस्पर अन्यान्य सम्बन्ध है। समयानुसार किसी भी राज्य का उत्थान, पतन, विस्तरण एवं संकुचन होता रहता है।

## पावामार्ग–अनुसंधान—११

बौद्ध साहित्य में वर्णित बुद्धकालीन श्रावस्ती—वैशाली मार्ग का अशोक स्तम्भों के आधार पर अध्ययन करने पर उक्त मार्ग स्थित

---

१. ( अ ) खसरा नं० २५१८, २५१९, कृषक का नाम टूकर घोषी।
( ब ) २५०४, २५०५, कृषक का नाम बुधई घोषी।

कपिलवस्तु, रामग्राम, पिप्पलीवन, कुशीनारा, पावा ( पड़रौना ), लौरिया, नन्दनगढ़, लौरिया अरेराज, केसरिया, कोल्हुआ इत्यादि स्थानों की जानकारी मिलती है। इनका उल्लेख बावरि के शिष्यों के यात्रा-प्रसङ्ग में तथा महापरिनिर्वाण सूत्र में उपलब्ध महापरिनिर्वाण से पूर्व बुद्ध की यात्रा के विवरण से मिलता है। बुद्ध का वैशाली से श्रावस्ती आवागमन इसी मार्ग से हुआ करता था। यह मार्ग प्राचीन था एवं राजनैतिक, धार्मिक व्यक्ति एवं व्यापारी इसी मार्ग से यात्रा करते थे। इस मार्ग पर शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु स्थित थी। बुद्ध लुम्बिनी में जन्म लिये थे। लुम्बिनी कपिलवस्तु से १० मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। बुद्धकाल में लुम्बिनी से कपिलवस्तु तक राजमार्ग था।

**लुम्बिनी—**

नेपाल स्थित बुद्ध के जन्म स्थल लुम्बिनी को स्थानीय लोग रोमिनदेई कहते हैं। यह नेपाल के लुम्बिनी अंचल का केन्द्र स्थल है। रुम्मिनदेई, पूर्वोत्तर रेलवे के नौतनवाँ रेलवे स्टेशन से १५ किलोमीटर पश्चिम में है। लुम्बिनी ( रुम्मिनदेई ) से पिपरहवा २५ किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम की दिशा में उत्तर प्रदेश के सिद्धार्थ नगर जनपद में नेपाल देश की सीमा से सटा हुआ है जिसकी पहचान प्राचीन कपिलवस्तु से की गई है। यह बुद्ध के पिता राजा शुद्धोधन की राजधानी थी।

यहाँ स्थित अशोक स्तम्भ का अनुसंधान फ्यूरर ने दिसम्बर १८९६ में किया था। यह नील सागर स्तम्भ से १३ मील दक्षिण-पूर्व नेपाल की तराई में स्थित है। यह स्तम्भ पड़रिया नामक ग्राम से लगभग १ मील उत्तर तथा सिद्धार्थनगर जनपद के दूल्हा नामक ग्राम से लगभग ५ मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है। इसकी ऊँचाई २९′ है। अन्य अशोक स्तम्भों की अपेक्षा यह ऊँचाई कम है। यह ईंटों की वेदिका से घिरा है।

लुम्बिनी का अशोक स्तम्भ आज भी निर्विवाद रूप से घोषणा कर रहा है कि—

१. देवानंपियेन पियदसिन लाजिन वीसति वसाभिसितेन
२. अतन अगाय महीयते हिद बुधे जाते सक्यमुनी ति ( १ )
३. सिला विगडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते
४. हिद भगवं जाते ति ( २ ) लुंमिनीगामे उबलिके कटे
५. अठभागिये च ( ३ )

राजबलि पाण्डेय[1] रुम्मिनदेई स्तम्भ अभिलेख का हिन्दी भाषान्तर इस प्रकार किया है—"बीस वर्षों से अभिषिक्त देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा द्वारा स्वयं आकर ( स्थान का ) गौरव किया गया, क्योंकि यहाँ शाक्य-मुनि बुद्ध जन्म लिये थे। पत्थर की दृढ़ दीवार यहाँ बनाई गई और शिलास्तम्भ खड़ा किया गया, क्योंकि भगवान् यहाँ उत्पन्न हुये थे। लुम्बिनी ग्राम कर से मुक्त किया गया और अष्टभागी बना दिया गया।"

शार्पेण्टियर[2] ने सिलाविगडभी का अर्थ विगड ( अश्व ) धारण करती हुई शिला प्रतिपादित किया है, जिससे यही प्रतीत होता है कि स्तम्भ के मुख्य भाग पर अश्व निर्मित था। उन्होंने शब्द को सिला + विगडभी दो खंडों में विभक्त कर यह अर्थ निकाला है। उन्होंने ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण का उल्लेख किया है जिसमें स्पष्टतः लिखा हुआ है कि अशोक ने इस स्थान पर एक स्तम्भ की स्थापना की थी जिसके शीर्ष भाग पर अश्व निर्मित था। उनके मत का हुल्त्ज ने भी अनुमोदन किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि उक्त अशोक स्तम्भ के शीर्ष भाग पर अश्व निर्मित रहा होगा।

राज्याभिषेक के बीस वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक की तीर्थयात्रा महत्त्वपूर्ण रही है। बौद्धग्रन्थ "दिव्यावदान"[3] से भी इसकी पुष्टि होती है। इसके अनुसार अशोक ने यह तीर्थयात्रा उपगुप्त नामक भिक्षु के पथ प्रदर्शन में की थी। अशोक सबसे पहले बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी वन गया था, वहाँ पहुँचकर उपगुप्त ने अपनी दाहिनी भुजा उठाकर कहा—अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान जातः ( दिव्यावदान, पृ० ३८९ )

आज लुम्बिनी अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र है। यहाँ पर देश-विदेश के बौद्ध धर्मावलम्बी पर्यटकों का निरन्तर आवागमन हुआ करता है।

अशोक स्तम्भ से थोड़ी दूर पर एक प्राचीन मन्दिर है, जिसमें पाषाण खण्ड स्थापित है। इस पर बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है। बुद्ध की माता महामाया प्रसव के बाद तीन अन्य प्राणियों के साथ एक शाल वृक्ष

---

१. डॉ० पाण्डेय, राजबली, अशोक अभिलेख, पृ० १८९।

२. शार्पेण्टियर, जे०, ए० नोट आन द पदरिया आर रुम्मिनदेई इंस्क्रिप्शन, इण्डियन एण्टीक्वेरी, पृ० १७-२०, वा० XLIII, बम्बई।

३. सं० वैद्य, पी० एल० दिव्यावदान, पृ० ३८९, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९।

की शाखा पकड़कर खड़ी हुई दिखाई दे रही हैं। महामाया की उठाई हुई दाहिनी भुजा के नीचे उनकी बहन प्रजापति गोतमी, गोतमी के दाहिनी ओर नवजात बुद्ध की पूजा करने हेतु ओय हुए इन्द्र तथा अन्त में थोड़ा पीछे की ओर सेविका खड़ी है। उनके सामने नवजात बुद्ध खड़े हैं। महामाया की विकृत मूर्ति की पूजा गाँव वाले रूपमदेई देवी के रूप में करते हैं। अतः लुम्बिनी की महत्ता बुद्ध काल से चली आ रही है।

**कपिलवस्तु—**

शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु लुम्बिनी के सन्निकट स्थित थी। १९७२ के पूर्व इसकी भौगोलिक स्थिति के विषय में विवाद रहा है। पहले इसे नेपाल स्थित तिलौराकोट से समीकृत किया जाता रहा है। बौद्ध साहित्य[1] में राजगृह से इसकी दूरी ६० योजन तथा साकेत से ६ योजन बताई गई है। चीनी यात्रियों के विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है। सन् १९७२ में भारतीय सर्वेक्षग विभाग[2] द्वारा बस्ती जनपद के पिपरहवा ग्राम के निकट विस्तृत उत्खनन हुआ। सिद्धार्थनगर जनपद ( उ० प्र० ) की नौगढ़ तहसील में पिपरहवा एक महत्त्वपूर्ण ग्राम है। यह गोरखपुर-गोंडा मीटरगेज ( पू० उ० रे० ) लाइन के नौगढ़ स्टेशन से २५.६ किमी० उत्तर नेपाल सीमा से सटा हुआ है। यह बस्ती से १०० किमी० तथा वर्डपुर से ७.५ किमी० उत्तर में स्थित है।

स्तूप के शीर्ष पर एक विशाल बलुआ प्रस्तर की खण्डित पेटिका ( ४.'४" × २'८.२५" × २'.२.२५" ) है। पेटिका में लकड़ी एवं चाँदी के अनेक खण्डित पात्र थे। इन पात्रों में धातु अवशेषों के अतिरिक्त अनेक स्वर्णाभूषण, दो नारियों की आकृतियों की छाप, स्वर्णपत्र पर हाथी तथा सिंह की आकृतियाँ, स्वर्ण एवं रजत के सितारे, ताबीज के आकार की सोने की डिब्बी, स्वर्ण त्रिरत्न, अर्विर्तयुक्त, स्वर्णचक्र, सोने की छड़ें, स्वर्ण पात्रों के लपेटे हुए टुकड़े, कई आकार के मोती, जिनमें से कुछ दो, तीन एवं चार की संख्या में परस्पर जुड़े हुए हैं इत्यादि बहुमूल्य वस्तुयें प्राप्त हुई हैं। ये सभी वस्तुयें कलकत्ता स्थित भारतीय संग्रहालय में सुरक्षित

---

१. पपंचसूदनी, सं० टाटिया, नथमल खण्ड २, पृ० १५२, नालन्दा, पटना, १९७५।

२. थामस, ई० जे०, लाइफ आव बुद्ध ऐज़लीजेण्ड हिस्ट्री, पृ० १६-१७, लंदन, १९५२।

हैं। इन सामग्रियों में कलश का ढक्कन महत्त्वपूर्ण है जिस पर निम्न-लिखित अभिलेख उत्कीर्ण है :

सुकितिभतिनं सभगिनिकंस पुतदलनं।
इयं सलिलंनिधने वुधस भगवते सकियानं॥

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने के० एम० श्रीवास्तव[1] के निर्देशन में जनवरी १९७२ में पुनः इस स्तूप का उत्खनन कार्य आरम्भ करवाया। स्तूप के पश्चिमी भाग की आंशिक खुदाई करने पर ज्ञात हुआ कि निचला भाग वर्गाकार था और इसमें ८५ सेमी० की दूरी पर आले बने थे, जो सम्भवतः मूर्ति रखने के उपयोग में आते थे। स्तूप के ऊपरी भाग से ६ मीटर नीचे पक्की ईंटों के दो कोष्ठक ८२×८०×३७ सेमी० दृष्टिगोचर हुए, उत्तरी कोष्ठक के ऊपर से ईंटों के तीन रद्दे हटाने के बाद सेलखड़ी का एक धातु कलश और इसके बगल में लाल रंग की खण्डित परई से ढकी, इसी प्रकार की अन्य परई मिली। दक्षिणी कोष्ठक में दो कलश, एक खण्डित तश्तरी एवं अनेक ढकी हुई परइयाँ प्राप्त हुईं। ये सभी अवशेष उत्तर भारतीय कृष्ण परिमार्जित भाण्ड (एन० बी० पी०) के काल के मिले जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये सामग्रियाँ ई० पू० पाँचवीं, चौथी शताब्दी की हैं।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि अपने हिस्से के बुद्ध के धातु अवशेषों के आठवें भाग को शाक्यों ने पुनः प्रभावशाली स्वजनों में वितरित कर लिया। इन लोगों ने अपनी रुचि के अनुसार इन अवशेषों को विभिन्न पात्रों में पूजार्थ रख दिया था। स्तूप के निर्माण के समय कुछ लोगों ने धातु अवशेष अंश को स्तूप में रख दिया होगा।

अभिप्राय यह है बुद्ध के धातु अवशेषों को इस स्तूप में कपिलवस्तु के शाक्यों द्वारा स्थापित करवाया गया था। समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार होता रहा है, इसके जीर्णोद्धार में अशोक का महान् योगदान रहा है।

वाटर्स[2] के अनुसार फाहियान ने अपनी यात्रा के समय अशोक द्वारा निर्मित स्तूप एवं स्तम्भ का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने स्तूप की ऊँचाई ३०′ बताई एवं इसके शीर्ष भाग पर निर्मित सिंह की भी चर्चा की

---

१. श्रीवास्तव, के० एम०, स्टडीज इन इण्डियन एपिग्राफी, भाग २, पृ० १०६, १०८, मैसूर, १८७५।

२. वाटर्स, थामस, ऑन ह्वेनसांग ट्रेवल्स इन इण्डिया, वा० II, पृ० ५-७।

है। ह्वेनसांग की कपिलवस्तु यात्रा के आधार पर इसकी पुष्टि बील[1] ने भी की है। कपिलवस्तु के सर्वेक्षण से उक्त स्तम्भ का अभिज्ञान नहीं होता है।

पिपरहवा के उत्खनन से कपिलवस्तु का विवाद सदा के लिए समाप्त हो गया है तथा बौद्धकालीन शाक्यों की राजधानी वास्तविक कपिलवस्तु की पहचान हो गई है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु ( पिपरहवाँ ) ही रही है।

**श्रावस्ती**

श्रावस्ती से कपिलवस्तु पश्चिम-पश्चिमोत्तर दिशा में लगभग १०० किमी० की दूरी पर स्थित है। श्रावस्ती को आधुनिक काल में सहेत-महेत कहा जाता है।

सहेत-महेत—बुद्धकालीन कोसलदेश की राजमानी श्रावस्ती, बहराइच जनपद, उ० प्र० में बलरामपुर–बहराइच मार्ग पर राप्ती के तट पर बलरामपुर गोडा से २८ कि०मी० पश्चिमोत्तर दिशा में २७° ३९ उत्तरी अक्षांश तथा ८२°१ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। बुद्धकाल में ये भारत के ६ महानगरों और ८ महत्त्वपूर्ण धार्मिक नगरों में गिने जाते थे। ये परस्पर राजमार्ग से जुड़े थे।

श्रावस्ती में जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों की बहुलता होने से यहाँ महावीर तथा बुद्ध का निरन्तर आवागमन होता था। यहाँ के प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् महावीर तथा बुद्ध के समकालीन थे। ये पहले महावीर के समर्थक थे, बाद में बुद्ध के सम्पर्क में आने पर उनके अनुयायी हो गये। जैन एवं बौद्ध साहित्य में प्रसेनजित् विषयक बहुत गाथाएँ प्रचलित हैं। बुद्ध के जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें यहाँ से जुड़ी हुई हैं। यहाँ स्थित अनाथपिण्डिक द्वारा बुद्ध के आवास हेतु निर्मित जेतवन विहार में बुद्ध द्वारा ( २१ वें से ४५वें तक ) २५ वर्षावास तथा निरंतर विश्राम, दस्यु अंगुलीमाल द्वारा बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म का अंगीकार, शास्त्रार्थ में परास्त होने पर पूर्ण काश्यप द्वारा आत्महत्या इत्यादि कथायें श्रावस्ती से सम्बद्ध हैं।

जेतवन के विशाल विहार के निर्माण में बत्तीस करोड़ स्वर्ण मुद्रायें

---

१. बील सैमुएल, बुद्धिस्ट रेकार्ड आव वेस्टर्न वर्ड, वा० II, पृ० १९, ३२, लन्दन, १९०६।

व्यय हुई थीं। उसके पूर्वी द्वार के दोनों तरफ अशोक स्तम्भ स्थापित किये गये थे। इसका विस्तृत विवरण फाह्यान तथा ह्वेनसांग के यात्रा वर्णन से ज्ञात होता है। ह्वेनसांग के अनुसार इन अशोक स्तम्भों की ऊँचाई २१ मीटर थी, एक के शीर्ष पर चक्र तथा दूसरे पर साँड निर्मित था।

कनिंघम[1] ने १८६२–६३ में सहेत-महेत के टीलों का उत्खनन कराकर इसे श्रावस्ती घोषित किया यहाँ उन्हें कौसम्बीकुटी से बोधिसत्त्व की ६' ४" ऊँची मथुरा के लाल पत्थर से निर्मित एक दुर्लभ प्रतिमा प्राप्त हुई थी। पुनः उन्होंने इस क्षेत्र का १८७६ में उत्खनन करवाया था। तत्पश्चात् यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य से प्रभावित होकर भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण विभाग द्वारा योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुसार समय-समय पर उत्खनन[2] कार्य होता जा रहा है। फ्यूरर[3] के अनुसार श्रावस्ती नगर की विशालता एवं इसके सुनियोजित निर्माण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

बुद्धकालीन भारतवर्ष में श्रावस्ती एवं वैशाली की गणना महानगरों में की जाती थी। प्रसिद्ध बौद्ध धर्मस्थली होने के कारण श्रावस्ती-वैशाली मार्ग प्रमुख मार्ग रहा है। इस मार्ग पर श्रावस्ती के पश्चात् शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु प्रमुख नगर था। श्रावस्ती से कपिलवस्तु का राजनैतिक, धार्मिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध, इसी मार्ग से था। "सिन्धु प्रदेश के घोड़े श्रावस्ती होकर कपिलवस्तु जाया करते थे। श्रावस्ती-कपिलवस्तु मार्ग पर चोरों का उपद्रव अधिक हुआ करता था।"[4]

कनिंघम[5] के अनुसार पाँचवीं शताब्दी में फाह्यान श्रावस्ती से पहले भगवान् क्रकुच्छन्द ( महात्मा बुद्ध के चौथे पूर्व भव का नामकरण ) के

---

१. कनिंघम, ए०, आर्कियोलॉजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १८६२-३, वाल्यूम I एवं वा० XI।

२. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १९०७-८, १९०८-९, १९०९-१०, १९१०-११, १९११-१४।

३. फ्यूरर, ए० मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज़ एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ एण्ड अवध, पृ० ३०६, ३१३, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९६९ पृ० ७७।

४. जातक भिक्षु धर्मरक्षित, पृ० ७७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१।

५. कनिंघम, ए० एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३४९।

जन्म स्थान गये थे, फिर वहाँ से उन्होंने कपिलवस्तु की यात्रा की थी। उन्होंने अपने यात्रा-वर्णन में कपिलवस्तु की स्थिति श्रावस्ती से दक्षिण-पूर्व दिशा में १३ योजन ( ९१ मील ) की दूरी पर स्वीकार किया है। गाइल्स[1] के मतानुसार फाह्यान, श्रावस्ती से दक्षिण-पूर्व दिशा में १२ योजन चलकर भगवान् क्रकुच्छन्द के जन्म स्थान नाभिक नगर आये थे। यहाँ से वे उत्तर दिशा में १ योजन से कम दूरो पर स्थित, कनकमुनि के आश्रम पर गये थे। तत्पश्चात् वहाँ से पूर्व दिशा में एक योजन से कम दूरी पर स्थित कपिलवस्तु पहुँचे थे। श्रावस्ती से कपिलवस्तु की दिशा के विषय में कनिंघम तथा गाइल्स एकमत हैं। यद्यपि दूरी के विषय में इनमें अवश्य ही मतवैभिन्न्य है। सम्भवतः गाइल्स द्वारा बताई गई दूरी सही नहीं है।

कनिंघम[2] एवं वाटर्स[3] के अनुसार ह्वेनसांग, श्रावस्ती से कपिलवस्तु की दूरी दक्षिण-पूर्व दिशा में ५०० ली० ( ८३ मील ) बताते हैं।

कनिंघम ने भगवान् क्रकुच्छन्द के जन्म स्थान को वर्तमान ककुआ ग्राम से समीकृत किया है जिसकी स्थिति कपिलवस्तु से ८ मील पश्चिम में है। उन्होंने श्रावस्ती एवं कपिलवस्तु के बीच की दूरी ८१$\frac{1}{2}$ मील मानी है। उनके अनुसार इस मार्ग पर श्रावस्ती से ४२$\frac{1}{2}$ मील की दूरी पर अशोक स्तम्भ स्थित है, जहाँ से कपिलवस्तु की दूरी ३९ मील है, साथ ही कनिंघम[4] की धारणा है कि घुमावदार मार्ग के होने पर यह दूरी ८५ से ९० मील के मध्य हो सकती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि श्रावस्ती से कपिलवस्तु की दूरी के विषय में कनिंघम संशय की स्थिति में रहे हैं। साथ ही गाइल्स एवं वाटर्स भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं। उत्तर प्रदेश शासन, बुद्धकालीन मार्ग ( बौद्ध पथ ), बौद्ध साहित्य के आधार पर सुनिश्चित करने का प्रयास कर रहा है। वर्तमान में श्रावस्ती से पिपरहवा ( कपिलवस्तु ) मार्ग की दूरी उतरौला होकर लगभग ८३ मील है जैसा कि मानचित्र में ( परिशिष्ट संख्या ) प्रदर्शित किया गया है। ह्वेनसांग की यात्रा के विवरण से भी ज्ञात होता है कि कपिल-

१. गाइल्स, एच० एच०, ट्रैवेल्स आव फाह्यान, पृ० ३६, लन्दन, १९५९।
२. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफ़ी आव इण्डिया, पृ० ३४९।
३. गाइल्स, एच एच०, ट्रैवेल्स आव फाह्‌यान, पृ० ३६।
४. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३४९।

वस्तु और श्रावस्ती के बीच की दूरी ५०० ली० अर्थात् ८३ मील है जो वर्तमान सहेत-महेत और पिपरहवा की दूरी से मेल खाती है। अतः इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सहेत-महेत से पिपरहवा का प्राचीन बुद्ध-कालीन मार्ग सम्भवतः बलरामपुर उतरौला-सोहरतगढ़ पल्टादेवी होकर ही जाया करता था।

**बाँसी—**

बुद्धकालीन प्रमुख मार्गों में से एक श्रावस्ती-कुशीनगर मार्ग पर कपिलवस्तु, रामग्राम, पिप्पलीवन आदि नगर स्थित थे। वस्तुरामग्राम के मध्य स्थित नगरों में बस्ती जनपद के बाँसी नगर की स्थिति महत्वपूर्ण है। बाँसी कपिलवस्तु से ४३ किमी० दक्षिण-पश्चिम तथा रामग्राम से ५५ किमी० उत्तर-पश्चिम स्थित है। बाँसी राप्ती नदी के किनारे है। पहले यह नदी नगर के दक्षिण से बहती थी किन्तु अब उत्तर से बहती है। कनिंघम[1] के अनुसार बॉस की बहुलता के कारण इस क्षेत्र से बहने वाली नदी को वेणू अथवा बांसी नदी की संज्ञा दी गई होगी, तथा इस नगर का नाम भी बाँसी पड़ा होगा। सम्भव है महापुरुषों के वास करने के कारण नगर को बाँसी कहा गया हो।

प्राचीन मार्ग निर्धारण में बाँसी के अशोक स्तम्भ की महत्वपूर्ण भूमिका है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस स्तम्भ की स्थिति महादेवा नामक ग्राम में स्वीकार की है। महादेवा ग्राम बाँसी-गोरखपुर मार्ग पर बाँसी से ४.५ किमी० दक्षिण में बसा हुआ है। वास्तव में अशोक स्तम्भ महादेवा में निर्मित रहा है। जहाँ तक इस स्तम्भ की वर्तमान दशा का प्रश्न है, आर० सी० गौड़ के अनुसार "यह खण्डित है। इसका शीर्ष भाग लखनऊ पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके शीर्ष भाग की सिंह-आकृति नष्ट हो चुकी है। इसके निचले भाग पर ( अधोमुखी ) पर कमलपुष्प का एक तरफ का कुछ अंश खण्डित है। स्तम्भ का शेष भाग बाँसी ( महदेवा ) में आज भी है लोग इसे शिवलिंग के रूप में पूजते हैं। इस पर तेल, सिंदूर का अधिक लेप होने से यह ज्ञात होना कठिन है कि उत्कीर्ण शिलालेख वाला भाग यही है या इस क्षेत्र में कहीं अन्यत्र पड़ा होगा या नष्ट हो गया होगा।[2]

---

१. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पूर्वोक्त, पृ० ३५९।

२. १५ जनवरी १९८८ के पत्र के आधार पर।

लखनऊ संग्रहालय की सूचना के अनुसार स्तम्भ के खण्डित शीर्ष भाग का रजिस्ट्रेशन नं० ५५,२८४ है और यह बाँसी से प्राप्त अशोक स्तम्भ के सिंह का मुख्य खंडित अंश ( फ्रेगमेण्ट ऑफ एन अशोक लायन कैपिटल फ्राम बाँसी ) है। खंडित सिंह की पूँछ तथा दोनों पैर के पंजे दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही खण्डित कमल की धारियाँ तथा इसकी पंखुड़ियाँ भी दिखलाई देती हैं।

गाइल्स[1] के अनुसार अशोक स्तम्भ इस वन के उस स्थल को सूचित करता था, जहाँ बुद्ध अपने पिता श्री शुद्धोधन से मिले तथा उन्हें उपदेश दिया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वन में जिस अशोक स्तम्भ को देखा था, वह वन निकुक्तु-या न्यग्रोधाराम ( निग्रोधाराम ) बिहार था, जहाँ महात्मा बुद्ध ने प्रथम बार कपिलवस्तु आने पर और उसके बाद कई अवसरों पर विश्राम और निवास किया था। वह वन कपिलवस्तु से दक्षिण में ३ या ४ ली० की दूरी पर स्थित है। उस समय के घनघोर जंगलों के कारण दूरी का स्पष्ट अनुमान लगाना कठिन था जबकि जंगली सीमा दूर तक फैली हुई थी। विशेष बात यह है कि कपिलवस्तु बुद्धकाल में एक विशाल नगर रहा है। अतः इसकी सीमा भी विस्तृत रही होगी। इसकी सम्भावना अधिक है कि ह्वेनसांग ने जिस दूरी का वर्णन किया है वह मात्र अनुमानित हो।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि बुद्धकाल में बाँसी से कपिलवस्तु, लुम्बिनी एवं रामग्राम को मार्ग जाते रहे हैं। बाँसी रामग्राम ( गोरखपुर ) मार्ग पर नन्दौर, बखिरा, कोपिया, मगहर इत्यादि प्रमुख नगर स्थित हैं। मगहर के समीपवर्ती क्षेत्रों में स्तूपों एवं टीलों की बहुलता है। कारलाइल[2] के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि महाथानडीह मगहर से लगभग २½ मील दक्षिण-पश्चिम, अर्थात् अर्द्ध-पश्चिम दिशा में, लक्ष्मीपुर गाँव से लगभग १ मील उत्तर तथा आमी ( अमोना ) नदी के तट पर स्थित तामेश्वर से ४ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। यहीं पर विशाल खण्डहरों का टीला है। जिस पर तामेश्वरनाथ का मन्दिर है। यहाँ पर राजकुमार सिद्धार्थ के अश्व ने छलाँग लगाकर आमी नदी पार किया था, जिससे इसे कुदवा नदी भी कहते हैं। महाथान, सिरसरा ताल के पूर्वी तट पर तथा

१. गाइल्स, एच० एच०–ट्रैवेल्स आव फाह्यान, पृ० ३७।

२. कार्लाइल, ए० सी०–आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट आन इर्स आव गोरखपुर, सारण, गाजीपुर, वा० XXII, पृ० ३-६।

सिरसराव के निकट उत्तर-पूर्व में है। सिरसरा ग्राम प्राचीन भग्नावशेष के टीले पर स्थित है, जहाँ से लगभग ४००' की दूरी पर, पूर्व में एक स्तूप निर्मित था, जिसके ऊपर शिवलिंग स्थापित है। कार्लाइल का स्पष्ट मत है कि बुद्ध द्वारा यहाँ पर मुण्डन करवाने के कारण इस ग्राम को सिरसरा सम्बोधित किया गया है। सिरसरा स्तूप से लगभग ३००' उत्तर-पूर्व में एक विशाल ठोस ईंटों का टीला है जिसका व्यास लगभग ५०' तथा परिधि लगभग १६०' एवं ऊँचाई ५' से ६' है। यह अशोक निर्मित स्तूप का भग्नावशेष है यहीं बुद्ध ने सेवक छन्दक एवं अश्व को विदा किया था। इस स्तूप से लगभग ३७०' उत्तर में महाथान ( महास्थान ) नाम से प्रख्यात ईंटों का विशाल एक गोलाकार टीला है जिसका शीर्ष भाग अर्द्धवृत्ताकार है। यह टीला बुद्ध द्वारा राजसी वस्त्र त्यागकर संन्यास धारण करने का स्मारक स्थल है। इसके समीप पूर्वी ओर महाथान ग्राम और लगभग ६००' दक्षिण-पूर्व में पैथन नामक ग्राम है। इससे बोध होता है कि पैथन का अभिप्राय, बुद्ध के चरण-स्थान से है, जहाँ से उन्होंने पदयात्रा आरम्भ की थी, अथवा प्रवेश करने से है, जहाँ से उन्होंने संन्यासी जीवन में प्रवेश किया था। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि कनिंघम[1] तथा फ्यूरर[2] ने की है।

मगहर से लगभग ६ मील उत्तर आमी नदी के तट पर कोपियाग्राम है। यहाँ पर प्राचीन खण्डहरों के अवशेष के रूप में ईंटों का विशाल टीला दृष्टिगोचर होता है, इसका व्यास लगभग १/३ मील है, जिसकी बनावट व्यतिक्रमिक है। इससे थोड़ी देर पूर्व में कामेश्वर नामक अर्वाचीन शिव मन्दिर है, जो कोपेश्वर मन्दिर नाम से ख्यात है।

उपरोक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि कपिलवस्तु-रामग्राम मार्ग पर बाँसी-महादेव, कोपिया, तामेश्वर, महाथान ( महास्थान आदि ) बुद्धकालीन प्रमुख नगर रहे हैं। ये नगर संभवतः शाक्यों के ९ प्रमुख नगरों में रहे हैं।

---

१. कनिंघम, ए०, प्रस्तावना, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट टूर्स आन गोरखपुर, सारण, गाजीपुर १८७७-७८, ७९-८०, वा० XXII पृ० ३।

२. फ्यूरर ए०, मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज़ इन नार्दर्न वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध, पृ० २२४-२२६।

**रामग्राम :**

कोलियों ने कोलिय गणतन्त्र की राजधानी रामग्राम में बुद्ध महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके धातु अवशेषों को लाकर उस पर एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया था। कोलिय राज्य एवं इसकी राजधानी रामग्राम की भौगोलिक स्थिति के विषय में विभिन्न विद्वानों में मतभेद रहा है। कनिंघम[1] के अनुसार चीनी यात्रियों ने कपिलवस्तु से रामग्राम तक की यात्रा की थी। फाह्यान का अभिमत है लुम्बिनी से ५ योजन ( ४० मील ) की दूरी पर रामग्राम स्थित था। ह्वेनसांग ने इसकी दूरी २०० ली ( लगभग ३३½ मील ) बताई है। यह ग्राम वैशाली-श्रावस्ती मार्ग पर पिप्पलीवन एवं कपिलवस्तु के बीच स्थित था। चीनी यात्रियों के यात्रा-वर्णन के आधारपर रामग्राम कपिलवस्तु और अनोमा नदी के बीच दो तिहाई दूरी पर स्थित होना चाहिये। यह दूरी ४ योजन ( ३२ मील ) है, इसी आधार पर वे देवकाली को रामग्राम के रूप में समीकृत करने का प्रयास करते हैं, जो तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है।

कार्लाइल[2] ने वर्तमान रामपुरवा, रामपुर देवरिया को रामग्राम माना है। यह स्थान मरवाताल के किनारे तथा भुलिया से ठीक २६ मील सीधी रेखा में दक्षिण-पूर्व पर स्थित है। उन्हें यहाँ एक स्तूप भग्नावशेष के रूप में, रामपुर देवरिया से ५०० फीट उत्तर-पूर्व में दो तालों के बीच, दृष्टिगोचर हुआ था। इसे उन्होंने कोलियों के रामग्राम का स्तूप माना था। लेकिन राजबली पाण्डेय[3] रामपुर देवरिया को रामग्राम नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह मुण्डेरा से १¾ मील दक्षिण-पूर्व मरवाताल के किनारे रामपुर देवरिया से ५००' उत्तर-पूर्व में दो तालों के बीच स्थित है। डॉ० पाण्डेय ने कहा है कि कार्लाइल ने, ह्वेनसांग का यह विवरण कि रामग्राम का स्तूप नगर के दक्षिण-पूर्व में था, सही नहीं माना है। कार्लाइल के मत में वस्तुतः रामग्राम से उत्तर-पूर्व में स्थित स्तम्भ-स्तूप को दिशा-भ्रम के कारण ह्वेनसांग ने दक्षिण-पूर्व में स्थित मान लिया है। परन्तु कार्लाइल का मत पाण्डेय को तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। डॉ० भरत सिंह[4]

---

१. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया—पू०, पृ० ३५४-५५।

२. कार्लाइल, ए० सी०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट टूर्स आन गोरखपुर, सारण, गाजीपुर—पृ० २।

३. डॉ० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और इसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास—पृ० ६९।

४. उपाध्याय, भरतसिंह,-बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३०९।

उपाध्याय ने भी कार्लाइल के मत का खण्डन करते हुए डॉ० पाण्डेय के मत को पुष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्लाइल ने रामपुर देवरिया को रामग्राम सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया था, जो उचित नहीं है।

स्मिथ[१] का यह सुझाव कि रामग्राम का अनुसंधान धर्मोली ( धर्मपुरी ) के आस-पास नेपाल और गोरखपुर की सीमा पर करना चाहिए, आग्रह-पूर्ण प्रतीत होता है। धम्मपद अट्ठकथा[२] के अनुसार निश्चित रूप से राम-ग्राम रोहिणी नदी के पूर्व में रहा होगा ( रोहिणी के पश्चिम शाक्यों का राज्य था ) इसकी स्थिति रोहिणी की बायीं घाटी के दक्षिण भाग में ही होनी चाहिये, क्योंकि उत्तर की ओर मल्ल राष्ट्र फैला हुआ था।

गोरखपुर नगर के समीप स्थित विशाल रामगढ़ ताल को प्राचीन रामग्राम से समीकृत किया जाता है। रामगढ़ शब्द से इसके किसी समय गढ़ अथवा दुर्ग होने का आभास होता है पर वास्तव में यह स्थली बुद्ध-कालीन, कोलियों की राजधानी रामग्राम थी। यहाँ कोलियों ने एक पुष्करिणी के किनारे बुद्ध के धातु-अवशेषों पर स्तूप का निर्माण कर-वाया था। गाइल्स[3] के अनुसार पाँचवीं सदी में फाह्यान ने रामग्राम नगर को भग्नावस्था में देखा था, नगर के किनारे एक पुष्पकरिणो थी। वहाँ एक नाग होने का भी उल्लेख है, जो स्तूप की रक्षा करता था। अशोक की रामग्राम यात्रा के सन्दर्भ में इस नाग का उल्लेख आता है। उनके मतानुसार अशोक ने जब रामग्राम के स्तूप के पुनःनिर्माण के समय इसके तल में रखे गये धातु अवशेषों को निकलवाने का प्रयास किया, तब नाग की प्रार्थना पर उसने अपने विचार त्याग दिये। ह्वेनसांग[४] के यात्रा-विवरण में प्रदत्त दिशा और दूरी के आधार पर भी रामग्राम की स्थिति मेल खाती है। वर्तमान में रामगढ़ ताल के किनारे किसी स्तूप का भग्नावशेष नहीं है, जिसका कारण सम्भवतः राप्ती नदी एवं रामगढ़ ताल है। महावंस[५] से ज्ञात होता है कि रामग्राम का स्तूप गंगा के

---

१. टिप्पणी (स्मिथ), वाटर्स, आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया, वा० II पृ० ३३९,

२. धम्मपद अट्ठकथा—सं० डा० टाटिया, नथमल, १५-७

३. गाइल्स, एच० एच०, ट्रैवेल्स आव फाह्यान, पृ० ३८-३९

४. वाटर्स, आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया, वा० II, पृ० २०,

५. महावंस ( हिन्दी अनु० ) पृ० २५, २६, ३१

किनारे निर्मित था, वह गंगा के प्रवाह से टूट गया तथा स्तूप की प्रकाशवान धातु का करण्ड ( पिटारी ) बहकर समुद्र में प्रविष्ट हो गया।" राजबली पाण्डेय[1] रामग्राम की स्थिति राप्ती नदी के किनारे मानते हैं। हो सकता है कि गंगा की अत्यधिक महत्ता के कारण अधिकांश नदियों को गंगा कहा जाता है। सिंहली साहित्य महावंस में प्रयुक्त गंगा शब्द भी राप्ती ( अचिरावती ) के लिये होगा। उनके अनुसार जिस स्तूप को ह्वेनसांग ने देखा था वह मूल धातु-स्तूप नहीं था, उसे राप्ती नदी पहले बहा ले गयी थी, उसके स्थान पर निर्मित दूसरा स्तूप ही ह्वेनसांग को दिखाई पड़ा होगा। बौद्धधर्म के ह्रास के बाद मरम्मत के अभाव में स्तूप खण्डित एवं धराशायी होने लगे तथा राप्ती नदी एवं रामगढ़ के जल में डूब गये। शताब्दियों से रामगढ़ ताल भरता हुआ नगर की ओर हटता जा रहा है।

गोरखपुर के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों का सर्वेक्षण करने पर पूर्व दिशा में अनेक ताल तलैया एवं निचली भूमियां एकसीध में दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राप्ती नदी कभी गोरखपुर के उत्तर-पूर्व दिशा से होकर बहती थी। ये सभी ताल-तलैया उसी नदी के अवशेष हैं। कालान्तर में इसका मार्ग बदल गया। अब वह गोरखपुर के दक्षिण-पश्चिम की ओर से बह रही है। इस तालाब के आधार पर अनेक भूगोलवेत्ताओं ने उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार किया है, तथा उनका कथन है कि यह तालाब एवं निचली भूमि राप्ती नदी का छाड़न है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोरखपुर तथा रामगढ़ ताल का क्षेत्र ही वास्तविक रामग्राम रहा है।

**पिप्पलिवन**

श्रावस्ती-कुशीनगर मार्ग पर रामग्राम और कुशीनगर के बीच स्थित पिप्पलिवन मोरिय ( मौर्य ) राज्य की राजधानी थी। यहाँ सघन पीपल वृक्षों का जंगल होने के कारण इसे पिप्पल वन की संज्ञा दी गयी थी। बुद्ध के धातु अवशेषों को प्राप्त करने के लिए उत्तर भारत के सभी गणतंत्राध्यक्षों एवं कतिपय राज्याध्यक्षों ने प्रयास किया था। पिप्पलीवन के मौर्य क्षत्रियों ने भी कुशीनगर के मल्लों के पास अपना दूत इस संदेश के

---

१. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ६९-७०

साथ भेजा कि "अथ खो पिप्पलीवनिया मोरिया कोसिनारकानं मल्लानं दूतं पाहेसुं—भगवापि खत्तियों मयंपि खत्तिया । मयंपि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं ।[1] भगवान भी क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं। भगवान के शरीर का भाग पाने के हम अधिकारी हैं। संयोग से यह संदेश कुशीनगर बाद में पहुँचा, इसके पूर्व ही बुद्ध के धातु अवशेषों का आठ भाग हो चुका था, चिता में केवल अंगार ( कोयला ) शेष थे। मौर्य उन अंगारों पर ही संतोष कर उन्हें आदर पूर्वक पिप्पलीवन ले गये और उन पर स्तूप निर्मित करवाये।

गोरखपुर जनपद में सदर तहसील के अन्तर्गत धानी था (रुधौलिया) उपधौलिया स्थित है। धानी राजधानी का विकृत रूप है, जो सम्भवतः मौर्यों की राजधानी पिप्पलिवन के लिये प्रयुक्त है। गोरखपुर से १४ मील दक्षिण, दक्षिण-पूर्व, अर्द्ध दक्षिण की दिशा में गुर्रा नदी के तट पर स्थित उपधौलिया ही राजधानी है। धानी और बरही दो अलग-अलग ग्राम हैं, जिनके बीच की दूरी ४ किमी० है। पश्चिम में राप्ती नदी से लेकर पूर्व में फरेन्द नदी तक चार मील की लम्बाई तथा १३/४ मील की चौड़ाई में, पिप्पलिवन ( राजधानी ) के भग्नावशेष फैले हुए हैं। इसका विस्तार डीह घाट से लेकर गुर्रा नदी के पूर्व में उपधौलिया डीह तक है। वहाँ से २/३ मील पर राधानी ग्राम स्थित है। राजधानी के उत्तर-पूर्व एक विस्तृत आयताकार, पुराने दुर्ग का अवशेष है, जिसे सहन कोट कहते हैं। वर्तमान में भी फरेन्द नदी के किनारे बरगद, शाल, जामुन आदि वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। राप्ती से फरेन्द तक फैला हुआ यह डीह एक प्राचीन नगर का भग्नावशेष है।

बौद्ध साहित्य एवं चीनी यात्रियों के यात्रा-वर्णन के आधार पर सहन कोट का सन् १८१४ में निरीक्षण एवं सर्वेक्षण करने वालों में बुकनन[2] प्रथम थे। उनके अनुसार सहन कोट ( सहन-कट ) का किला जंगलों से इतना घिरा हुआ था कि दीवार तक पहुँचना कठिन था और किला १ कोस पश्चिम से पूर्व तक तथा इससे भी अधिक दूरी में उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ था। किले की दीवार मोटी थी और काफी ऊँची थी। इसके भग्नावशेष एक ऊँचे विस्तृत टीले के रूप में दृष्टिगोचर होते थे।

---

१. दीघ निकाय ( हि० अ० ) महापरिनिब्बाण सुत्त ३/२।

२. माण्टगोमरी, मार्टिन, हिस्ट्री, एण्टीक्विटीज टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया, जिल्द II, भागलपुर गोरखपुर १९७६, पृ० ३७०।

बौद्ध साहित्य, चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण तथा बुकनन द्वारा वर्णित सहन कोट के भग्नावशेषों के आधार पर कनिंघम[1] ने पिप्पलिवन का विस्तृत अनुसंधान किया। उनके अनुसार सहनकोट आमी नदी के चंदौली घाट से, सीधी रेखा में २० मील ( ३२ किमी० ) तथा मार्ग द्वारा २५ मील की दूरी पर स्थित है। वे सहनकट ( सहनकोट ) को पिप्पलिवन अर्थात् मौर्य राजधानी होने की सम्भावना व्यक्त किये हैं। ह्वेनसांग द्वारा निर्दिष्ट दिशा के अनुसार यहाँ से कुशीनगर उत्तर-पूर्व में है। फाह्यान ने पिप्पलिवन के स्तूप को अनोमा नदी से चार योजन ( ३२ ) मील दूर पूर्व में स्थित स्वीकार किया है तथा ह्वेनसांग भी इसे १८० से १९० ली० अर्थात् ३० से ३२ मील पूर्व में स्थित मानते हैं पर पिप्पलिवन ग्राम का नाम निर्देशन नहीं कर पाते हैं। किन्तु सिंहली, बर्मी एवं तिब्बती साहित्य के आधार पर वे पिप्पलिवन के स्तूप ( सहनकोट ) पहुँच जाते हैं। तिब्बती डुलवा में इस स्थान को न्यायग्रोधा ( न्यायग्रोधा ) या पिप्पल वृक्षों का नगर कहा गया है। सिंघली और बर्मी साहित्य में इसे पिप्पलीवन सम्बोधित किया गया हैं। ह्वेनसांग ने अपने विवरण में इस स्थान को पिप्पल वृक्षों से आच्छादित होने का उल्लेख किया है। कनिंघम को उस स्थान के आस पास खण्डहर के रूप में पिप्पलिवन ( राजधानी ) दृष्टिगोचर हुई थी इसी को सहनकोट कहते हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सहनकोट टीले से बुकनन[2] को बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिसके आधार पर वे सहनकोट के टीले को पिप्पलीवन के रूप में मान्यता प्रदान किये हैं।

कार्लाइल[3] के अनुसार उपधौलिया डीह का विस्तार लम्बाई में उत्तर से दक्षिण १ मील और चौड़ाई में पश्चिम से पूर्व लगभग १५०० से १६०० फीट है। इसके पश्चिम भाग में प्राचीन ईटों का एक स्तूप है। मौर्यों ने बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् चिता की राख लाकर अपनी राजधानी पिप्पलीवन में इस स्तूप का निर्माण करवाया था। कार्लाइल ने इन भग्नावशेषों को प्राचीन पिप्पलीवन के रूप में स्वीकार किया है।

---

१. कनिंघम, ए, एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, पृ० ३६१-२।

२. माण्टगोमरी मार्टिन, हिस्ट्री, एण्टीक्विटीज, टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया जिल्द II, पृ० ३७०।

३. कार्लाइल, ए० सी०, रिपोर्ट टूर्स इन गोरखपुर सारण गाजीपुर, पृ० ७-८ १३-१५।

राजधानी अथवा उपधौलिया डीह के विषय में फ्यूरर[1] ने गोरखपुर जनपद की सदर तहसील के हवेली परगना के अन्तर्गत वरही ग्राम को केन्द्र मानकर विस्तृत विवेचन किया है। जिला मुख्यालय से वरही १३ मील उत्तर-पूर्व राप्ती नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है। इन्होंने बुकनन, कनिंघम, कार्लाइल की भाँति उपधौलिया डीह को पिप्पलिवन माना है। इसके निकट दक्षिण-पूर्व के कोने पर एक और खण्डित स्तूप है जो लगभग १७' ऊँचा है।

डा० राजबली पाण्डेय[2] ने पिप्पलिवन, उपधौलिया डीह एवं राजधानी का वर्णन करते हुए कार्लाइल के मत की पुष्टि की है। उन्होंने यह भी बताया है कि राजधानी के उत्तर-पूर्व में सहनकोट नाम से विख्यात फरेन्द्र नदी के तट पर एक आयताकार प्राचीन दुर्ग जंगलों के बीच स्थित है। यह फरेन्द्रा से राप्ती तक फैला हुआ है। यह विस्तृत डीह एक ही प्राचीन नगर का भग्नावशेष है। इसे आज भी राजधानी सम्बोधित किया जाना स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि प्राचीन काल में यह किसी राज्य की राजधानी थी।

उपाध्याय[3] पिप्पलिवन के शब्द-ध्वनि साम्य के आधार पर, एक ओर जहाँ पिपरहवाँ को पिप्पलिवन सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वहीं दूसरी ओर उपधौली के पिप्पलिवन होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि गोरखपुर जनपद के सदर तहसील में स्थित वर्तमान उपधौलिया, धानी या राजधानी ग्राम ही मोरियों की राजधानी पिप्पलिवन है और जिसकी पुष्टि कनिंघम, कार्लाइल, फ्यूरर, और राजबली पाण्डेय ने की है।

**कुशीनारा**

यह देवरिया जनपद में पडरौना तहसील के अन्तर्गत देवरिया से ३५-४१ किमी० उत्तर-पूर्व में, पडरौना से दक्षिण-पश्चिम में १९ किमी० पर एवं गोरखपुर से ५५ किमी० पूरब में **Lat 26° 45° N** और **Long 85° 55 E** पर स्थित है।

---

१. फ्यूरर, द मानुमेण्टल, एण्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, पृ० २३७-३८।

२. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ७३-७४।

३. उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल-पृ० ३१४-३१५।

कुशीनगर आरम्भ से ही विख्यात रहा है। कुशावती ( कुशीनगर ) की महत्ता रामायण काल से ही रही है। रघुवंश से ज्ञात होता है कि "स्थिर बुद्धि वाले राम ने शत्रुरूपी हाथियों के लिए अंकुश के समान भय-दायक कुश को कुशावती का राज्य दे दिया और मधुर वचनों से सज्जनों की आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहाने वाले लव को शरावती का राज्य दिया।"[1] कुशावती के विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। कुछ इसे गुजरात में तथा कुछ ने इसे विंध्य में अंकित करने की चेष्टा की है किन्तु इन दोनों प्रदेशों में उस समय पोरों और यादवों का राज्य था इसलिए कुशस्थली की भौगोलिक स्थिति की संभावना इन राज्यों में प्रतीत नही होती है। गुजरात की कुशस्थली ( द्वारिकापुरी ) कुश से भी प्राचीन नगरी रही है अतः उसको कुश द्वारा स्थापित बताना ऐतिहासिक व्यतिक्रम होगा। जिसप्रकार चन्द्रकेतु के लिए चन्द्रकांता नगरी बसायी गयी थी। उसीप्रकार कुश के राज्याभिषेक के लिए कुशा-वती नगरी का निर्माण हुआ था। कुशावती नगरी के इतिहास के विषय में कुशजातक से संकेत मिलता है—'प्राचीन काल में मल्लराष्ट्र में कुशावती राजधानी में इक्ष्वाकु नामक ( इक्ष्वाकुवंशी ) राजा धर्मपूर्वक राज्य करते थे।"[2] राजबली पाण्डेय[3] ने भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार चन्द्रकेतु के नाम पर चन्द्रकांता नगरी बसायी गयी थी उसी प्रकार कुश के नाम पर कुशावती नगरी बसायी गयी थी। आज यह निर्विवाद सिद्ध है कि इतिहास प्रसिद्ध मल्लराष्ट्र की राजधानी कुशावती, कुशस्थली, कुशीनारा, कुशिग्रामक, कुशनगर वर्तमान कुशीनगर ही रही है।

---

१. स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागांकुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् II सर्ग १५, श्लोक ९७।
सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रन्थावली ( रघुवंश ), अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, द्वि० सं०, वि० सं० २००१।

२. अतीते मल्लरट्ठे कुशावती राजहानिया ओक्काको नाम राजा धम्मेन समेन रज्जं करोसि। जातक संख्या ५३१। ( वास्तव में इक्ष्वाकु नहीं, किन्तु इक्ष्वाकुवंशी )।

३. पाण्डेय राजबली, गोरखपुर-जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० ५४।

कनिंघम[1] के मत में फाह्यान द्वारा 'निर्दिष्ट मोरियों' के अङ्गार स्तूप पिप्पलिवन से कुशीनारा की दूरी व दिशा जो १२ योजन (९६ मील) पूर्व बतायी गयी है, सम्यक् नहीं प्रतात होती है। दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पिप्पलिवन से कुशीनारा की स्थिति उत्तर-पूर्व मानी है किन्तु इन्होंने दूरी का कोई उल्लेख नहीं किया है। ह्वेनसांग को हिंसक जानवरों से युक्त सघन जंगलों के मध्य होते हुये पिप्पलिवन से कुशीनारा पहुँचने में काफी समय लगा था। इन जंगलों में जंगली हाथियों, डाकुओं, शिकारियों की बहुलता थी। अतः उन्हें टेढ़े-मेढ़े मार्गों द्वारा यात्रा करनी पड़ी होगी। इसी कारण फाह्यान एवं ह्वेनसांग को पिप्पलिवन से कुशीनगर की सही दूरी का अनुमान नहीं हुआ होगा। वास्तव में (उपधौली) पिप्पलिवन से कुशीनारा उत्तर-पूर्व में ६५ मील की दूरी पर स्थित है।

बुद्ध की महापरिनिर्वाणस्थली कुशीनगर बौद्धों के चार प्रमुख धार्मिक केन्द्रों में से एक है और प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक स्थल के रूप में विकसित हो रही है। यहाँ पर महात्मा बुद्ध का प्राचीन निर्वाण मन्दिर, निकटवर्ती स्तूप, बर्मी, चीनी, जापानी तथा अन्य दर्शनीय मंदिर, अनेक बौद्ध विहार एवं उनके अवशेष दर्शनीय स्थल हैं। परिनिर्वाण मन्दिर के दक्षिण-पूर्व में १.६१ किमी० दूरी पर अनिरुद्धवा ग्राम में रामभार स्तूप है। बौद्ध साहित्य में इस स्थान को मुकुट बन्धन चैत्य को संज्ञा दी गयी है। रामभार स्तूप के विषय में डी० आर० पाटिल[2] का कथन है कि इस स्तूप के धरातल का व्यास ४७.२४ मीटर तथा स्तूप का व्यास ३४.१४ मीटर है। यहीं पर महात्मा बुद्ध की अन्त्येष्टि क्रिया हुई थी। कुशीनगर के उत्खनन में सैकड़ों मिट्टी की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिससे इन्होंने सम्भावना व्यक्त की है कि समय-समय पर इसका जीर्णोद्धार होता रहा है। फ्यूरर[3] का अभिमत है कि कुशीनगर को अधिकांश ईटें तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य लुप्त हो गये हैं। यहाँ के निकटवर्ती ग्रामवासियों ने यहाँ के ईटों को ले जाकर उपयोग किया है। इन सामग्रियों के नष्ट होने का अन्य मुख्य कारण छोटी गंडक में आयी बाढ़ है जो प्राचीन काल में इस भग्नावशेष के निकट से अवश्य बहती रही होगी जैसा कि दोनों मुख्य भग्नावशेषों के बीच

---

१. कनिंघम, ए०, एंश्येण्ट ज्याग्रफ़ी आव इण्डिया, पृ० ३६३।

२. पाटिल, डी० आर०, कुशीनगर पृ० ३१-३२।

३. आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, मा० ए० इ० ना० वे० प्रा०, नई दिल्ली प्र० सं० १९५७, पृ० २४४।

विद्यमान कई नालों से विदित होता है। इनमें वर्षाकाल में अब भी पानी भर जाता है। इस समय कुशीनगर के पश्चिम में निकट ही एक नाला दृष्टिगोचर होता है।

कुशीनगर का मुख्य आकर्षण महापरिनिर्वाण मंदिर एवं स्तूप है। यह धरातल से २.७५ मी० ऊँचे विशाल चबूतरे पर है,। महापरिनिर्वाण मन्दिर निर्माण कला की दृष्टि से सुन्दर एवं अनुपम है। इसके अन्दर लाल प्रस्तर की पीठिका पर बुद्ध की कलात्मक २० फुट लम्बी प्रतिमा शयन मुद्रा में ( उत्तर मस्तक एवं पैर दक्षिण, दाहिने करवट लेटी हुई ) स्थापित है। इस प्रतिमा से निर्वाण कालीन शान्ति फूट-फूट कर निकलती हुई प्रतीत होती है। प्रतिमा की पीठिका की लम्बाई २३′ ९″, चौड़ाई ५′ ६″, व ऊँचाई १′ १″ है। इसको विशेषता यह है कि पीठिका सहित विशालमूर्ति एकही लाल प्रस्तर से निर्मित है। पीठिका के अग्रभाग की ओर ३ लघु प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं जिनके विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। डा० राजबली पाण्डेय[1] के अनुसार पीठिका में आगे की ओर बुद्ध के पट्ट शिष्य आनन्द, बुद्ध के निर्वाण के ठीक पहले बौद्धधर्म की प्रव्रज्या लेनेवाले यति सुभद्र तथा तत्कालीन मल्लराजा ( सभापति ) वज्रपाणि की मूर्तियाँ अंकित हैं। इन मूर्तियों के अतिरिक्त पाँच मूर्तियाँ और हैं जिनको पहचान करना कठिन है[1]। पीठिका के नीचे डी० आर० पाटिल को मानव की तीन मूर्तियाँ दृष्टिगोचर हुई थीं, इनके अनुसार बायें ओर की बिखरे केश वाली नारी की मूर्ति शोकाकुल मुद्रा में झुकी हुई है जिसके दोनों हाथ भूमि पर टिके हुए हैं, दाहिने ओर की मूर्ति नर की है या नारी की स्पष्ट नहीं है। वह अपनी दाहिनी हथेली पर सिर टेक कर बैठी हुई है। बीच की मूर्ति पुरुष की है, जो ( आसन मुद्रा में ) बुद्ध के विशाल महापरिनिर्वाण मूर्ति के सामने बैठी दुई दृष्टिगोचर होती है। शोकाकुल इन तीनों मूर्तियों की पहचान कठिन है लेकिन मध्य में स्थित नर को मूर्ति हरिबल की मूर्ति प्रतीत होती है।[2] इसे डा० राजबली पाण्डेय ने सुभद्र की मूर्ति मानी है। इसके ठीक नीचे उत्कीर्ण है कि—

देयधमोऽयं महाविहारे स्वामिनः हरिबलस्य।
प्रतिमा चेयं घटिता दिने ( ) मासु माथुरेण ॥

---

१. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० १७२।

२. पाटिल, डी० आर०, कुशीनगर, पृ० २०।

अर्थात् "महाविहार में स्वामी हरिबल का यह धर्म दान है। मथुरा निवासी दिन शिल्पकार द्वारा यह मूर्ति निर्मित थी।"[1] निर्वाण मन्दिर की पूर्वी दीवार से १३' की दूरी पर उसी धरातल पर एक विशाल स्तूप निर्मित है, जिसमें बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके धातु अवशेषों का आठवाँ भाग, जो कुशीनगर के मल्लों को प्राप्त हुआ था, सुरक्षित है। स्तूप का जीर्णोद्धार समय-समय पर बराबर होता रहा है, ह्वेनसांग के विवरण के अनुसार "मूल स्तूप का निर्माण अशोक ने कराया था, जो उसकी यात्रा के समय जीर्ण हो गया था। उस समय इसकी ऊँचाई लगभग ६१ मीटर थी।"[2]

पुरातात्विक सर्वेक्षण[3] की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि १९१०-११ में उक्त विशाल स्तूप के मध्य भाग में उत्खनन किया गया जिसमें नक्काशी-दार ईंटें और राजा जयगुप्त के काल के ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए। लगभग ४.२७ मीटर गहराई तक उत्खनन के पश्चात् ईंटों का गोलाकार लघु कक्ष प्राप्त हुआ जिसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, ६४ घन मीटर थी। इसके अन्दर "निदानसुत्त" उत्कीर्णित ताम्रपत्र के ढक्कन से ढँका हुआ एक ताम्र कलश स्थापित था, जिसके अन्त में "परिनिर्वाण चैत्य" अंकित था। साथ ही यह भी उत्कीर्ण था कि इसके जीर्णोद्धार कर्त्ता हरिबल रहे हैं। ताम्रकलश के अन्दर कुमार गुप्त काल ( पाँचवीं सदी ) की रजत मुद्रायें एवं अन्य सामग्रियाँ रक्खी हुई थीं। १०.३६ मीटर की गहराई तक उत्खनन के पश्चात् २.८२ मीटर ऊँचा लघु वृत्ताकार स्तूप प्राप्त हुआ; जिसके पश्चिम में ओखा (आला) बना हुआ था एवं जिसके अन्दर ध्याना-वस्था-मुद्रा में बैठी हुई बुद्ध की मूर्ति रखी हुई थी। स्तूप के अन्दर ( कोयला-राख युक्त ) धातु अवशेष मिले, जिसके बुद्ध के धातु अवशेष होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। हरिबल द्वारा स्थापित ताम्रकलश एवं ताम्र-ढक्कन से यह प्रमाणित होता है कि यह स्थान वही कुशीनगर है, जहाँ बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था एवं उनके धातु अवशेष के आठवें भाग पर स्तूप का निर्माण हुआ है।

निर्वाण मन्दिर के लगभग ४०० गज दक्षिण-पश्चिम में स्लेटी रंग के गया प्रस्तर से निर्मित बोधि वृक्ष के नीचे बुद्ध की भूमि स्पर्शमुद्रा में एक

---

१. डा० पाण्डेय, राजबली, पूर्वोक्त, पृ० १७२।

२. बील, सैमुएल, बुद्धिस्ट रिकार्ड आव वेस्टर्न वर्ड, लन्दन १९०६, पृ० ३१,।

३. एनुअल रिपोर्ट आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, पृ० ६३।

विशाल कला कृति दृष्टिगोचर होती है। इसे माथा कुँवर की मूर्ति सम्बोधित किया जाता है। यह सम्पूर्ण कलाकृति १०-१/२ फीट ऊँची तथा ३-३/४ फीट चौड़ी है। इसमें बुद्ध की प्रतिमा ५ फीट ४-१/३ इंच ऊँची है। उनके कन्धे की चौड़ाई ३ फीट ८-१/२ इंच तथा घुटने के बीच की दूरी ४ फीट ५ इंच है। इस मूर्ति के नीचे कुछ उत्कीर्ण है, जो अपठनीय है। डी० आर० पाटिल के अनुसार "इसका निर्माण कल्चुरी स्थानीय शासक भीमट द्वितीय द्वारा लगभग १०वीं-११वीं शताब्दी में हुआ था।[1] वास्तव में यह मूर्ति कला का अनुपम उदाहरण है। यदि इसकी तुलना पडरौना से प्राप्त स्लेटी प्रस्तर की कलात्मक जैन प्रतिमा से किया जाय, तो कई नवीन तथ्य उजागर होंगे। विद्वानों के मतानुसार दोनों प्रतिमाओं का निर्माण काल लगभग दसवीं शताब्दी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में भावी अनुसंधान के आधार पर ही कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। निर्वाण मन्दिर के पश्चिम में विशाल बौद्ध विहार के भग्नावशेष तथा उत्तर-पूर्व एवं दक्षिण में अनेक स्तूप तथा खण्डहर दिखलायी देते हैं जिसका समय-समय पर निर्माण एवं जीर्णोद्धार होता रहा है।

कई शताब्दियों के पश्चात् सन् १८१४ में बुकनन[2] ही वे प्रथम विद्वान् हुए जिन्होंने कुशीनगर के विषय में चर्चा की थी। १८५४ में एच० एच० विल्सन[3] ने कुशीनगर को बुद्ध की सम्भावित महापरिनिर्वाणस्थली घोषित किया था। सन् १८६१-६२ में कनिंघम[4] ने बुद्धकालीन साहित्य एवं ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर कुशीनगर के उक्त स्थल के सर्वेक्षण हेतु आंशिक उत्खनन करवा कर इस स्थली को बुद्ध की महापरिनिर्वाणस्थली घोषित किया था। उनके उत्खनन के १५ वर्ष बाद १८७६-७७, १८७७-७८ में कार्लाइल[5] ने इसका उत्खनन करवाया जिससे

---

१. पाटिल, डी० आर०, कुशीनगर, पृ० ३०।

२. बुकनन, हिस्ट्री, एण्टीक्विटीज, टोपोग्राफी, स्टेटिस्टिक्स आव इस्टर्न इण्डिया, पृ० ३५७-३५८।

३. जर्नल आव रायल एसियाटिक सोसायटी आव ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, पृ० २४६।

४. कनिंघम, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, वा० I, पृ० ७६।

५. कार्लाइल, ए० सी०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इडिया रिपोर्ट आव टूर्स आव गोरखपुर, सारण गाजीपुर, पृ० ६२।

मुख्य स्तूप एवं बुद्ध परिनिर्वाण मूर्ति प्रकाश में आयी और कुशीनगर बुद्ध की महापरिनिर्वाण स्थली प्रमाणित हो गयी।

तत्पश्चात् भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने योजनाबद्ध ढंग से उत्खनन करवाने का विचार किया जिसके परिणामस्वरूप १९०४-१९०७ में जे० पी० एच० वोगल[1] तथा १९१०-१९१२ में हीरानन्द शास्त्री[2] के निर्देशन में इस स्थली का उत्खनन हुआ जिसमें अनेक बौद्ध विहार, स्तूप एवं भग्नावशेष, मृण-मुद्रा, ताम्र-पत्र आदि प्राप्त हुए थे। यहाँ प्राप्त अनेक मुद्राओं पर श्री महापरिनिर्वाण विहारे भिक्षुसंघस्य "कुसनगर" तथा ताम्र-पत्र पर "परिनिर्वाण चैत्य ताम्रपट्ट" अंकित था। उपर्युक्त विवेचन से पूर्णतः स्पष्ट एवं निश्चित हो गया कि यही बुद्ध की महापरिनिर्वाण-स्थली कुशीनगर है।

ह्व नसांग के कुशीनगर सम्बद्ध-विवरण[3] से ज्ञात होता है कि उसने महापरिनिर्वाण मन्दिर, स्तूप व बौद्ध विहार के निकट एक आकर्षक ऊँचा प्रस्तर-स्तम्भ देखा था किन्तु उससे महापरिनिर्वाण तथा स्तम्भ-स्थापना-तिथि की सूचना नहीं प्राप्त होती थी। इसीकारण इसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रह गया। उसके विवरण से कुशीनगर से द्वितीय अशोक स्तम्भ की भी सूचना प्राप्त होती थी जिसे ह्व नसांग ने बुद्ध के धातु-अवशेष के वितरण-स्थल पर देखा था जिस पर इस घटना का विवरण अंकित था। राधाकुमुद मुखर्जी[4] ने इसकी पुष्टि की है। कार्लाइल[5] ने उत्खनन के समय ह्व नसांग-विवरण के आधार पर प्रस्तर-स्तम्भ ढूँढ़ने का प्रयास किया परन्तु वे सफल नहीं हो पाये। उनकी धारणा थी कि प्रस्तर-स्तम्भ स्तूप के दक्षिण दिशा में भूमि के अन्दर दबा होना चाहिये। इन अशोक स्तम्भों के विषय में बुकनन, कनिंघम

---

१. वोगल, जे० पी० एच०, नोट आन द ऐक्सवेशन ऐट कसिया-एनुअल रिपोर्ट आ० स० इ० १९०४-५, १९०५-६, १९०६-७, गवर्नमेण्ट प्रिंटिंगप्रेस कलकत्ता १९०८, १९०९, पृ० क्रमशः ४३, ६१ व ४३।

२. शास्त्री हीरानन्द, वही १९१०-११, १९११-१२, पृ० क्रमशः ६२ व १३४।

३. बील, सैमुएल, बुद्धिस्ट रिकार्ड आव वेस्टर्न वर्ड, पृ० ३१।

४. मुखर्जी, राधामुकुद—'अशोक' मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६२, पृ० ८५

५. कार्लाइल, ए० सी० एल०, आ० स० इं० रि० टूर्स आव गोरखपुर, सारण गाजीपुर, पृ० २८-२९

एवं भरत सिंह उपाध्याय से कोई सूचना नहीं मिलती है। कुशीनगर में अशोक स्तम्भ की अनुपलब्धि आश्चर्यजनक और विस्मयकारक है।

कुशीनगर के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यहाँ से प्राप्त एक प्रस्तरालेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पी० वी० काणे[1] के अनुसार कुशीनगर से प्राप्त कलचूरि प्रस्तराभिलेख (एपि० इण्डि० जिल्द–८, पृ०–१२८) में गद्य में पहले रुद्र और उसके उपरान्त बुद्ध का आह्वान हुआ है। प्रथम दो श्लोक शक की स्तुति में हैं, तीसरा तारा (बौद्ध देवी) की स्तुति में तथा चौथा एवं पाचवाँ श्लोक बुद्ध (मुनींद्र) की प्रशंसा में कहा गया है। इसके विषय में डा० अरविन्द कुमार सिंह[2] का मत है कि कुछ पंक्तियाँ वंदना स्वरूप हैं जिसमें शिव को मुख्य स्थान प्राप्त है। उक्त अभिलेख कलचूरि शासकों के शैव-मतावलम्बी होने की पुष्टि करता है। बौद्ध धर्म के प्रति भी उनका दृष्टिकोण उदार था। तारा, बुद्ध आदि अनके बौद्ध देवी-देवताओं का वर्णन अभिलेख में हुआ है। कुशीनगर प्रस्तराभिलेख से ज्ञात होता है कि किस प्रकार बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय पर हिन्दू धर्म की छाप पड़ी हुई है जैसा कि मुख्य प्रतिमा के चारों ओर किनारे के भागों में इतर देवी-देवताओं (शंकर, विष्णु आदि) की प्रतिमाएँ एवं प्रशस्तियाँ अंकित होने से स्पष्ट है। इसी विषय की पुष्टि करते हुए डा० राजबली पाण्डेय[3] का कथन है कि काले प्रस्तर पर "ॐ नमो बुद्धाय। नमो बुद्धाय भिक्षून्" उत्कीर्णित है। यहाँ बुद्ध के साथ 'ॐ' का प्रयोग भी महायान पर हिन्दुत्व प्रभाव को सूचित करता है। महायान ने बौद्ध धर्म में बुद्ध को ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित किया। इसके साथ ही बोधिसत्व, अवलोकितेश्वर तथा अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की गयी है।" कुशीनगर अभिलेख के काल के विषय में लिपि-शास्त्र के आधार पर दयाराम साहनी, एच० सी० रे० इत्यादि विद्वानों के विचारों का विवेचन करते

---

१. काणे, पी० वी०;—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, हिन्दी संस्थान, उ० प्र०, द्वि० सं० १९८४ लखनऊ, पृ० ४९७-९८,

२. सिंह, अ० कु०—सरयूपार, कसिया एवं कहला अभिलेखों के प्रकाश में, युग-युगीन सरयूपार, पृ० ५-१०

३. डा० पाण्डेय, राजबली, गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृ० १६४,

हुए डा० अरविन्द कुमार सिंह[1] ने निष्कर्ष निकाला है कि राजनैतिक दृष्टि से ८वीं शताब्दी में कल्चुरियों ने अपनी अलग पहचान कायम कर ली थी। परन्तु उनके पराभव के उपरान्त यह सत्ता ११वीं शताब्दी के अन्त में पुनः कन्नौज के अधीन हो गयी। इससे यही प्रतीत होता है कि उक्त अभिलेख—१०-११वीं शताब्दी के मध्य का होना चाहिए। माथा कुँवर ( कुशीनगर ) अभिलेख के खण्डित अवस्था में होने के कारण उसके निर्माण के सम्बन्ध में निश्चित सूचना प्राप्त नहीं हो पाती है। फिर भी बुद्ध की एक विशालकाय प्रतिमा के पास इस प्रस्तर अभिलेख के उत्कीर्ण होने के आधार पर यह अनुमानित है कि कल्चुरि शासक द्वारा वहाँ पर कुछ निर्माण कार्य ( सम्भवतः पूजास्थल और संघाराम ) करवाया गया था।

कुशीनगर के उपरोक्त प्रस्तर-स्तम्भ एवं प्रस्तराभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं तथा इतिहास की कड़ियों को संयोजित करने में सहायक हैं। कुशीनगर से प्राप्त पुरातात्त्विक कला कृतियाँ एवं सामग्रियाँ इसे महापरिनिर्वाण स्थली के रूप में मान्यता प्रदान करती हैं। किन्तु इसके विषय में डी० आर० पाटिल[2] का कथन है कि वास्तव में यह आश्चर्यजनक है कि यहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों में कहीं भी कुशीनगर का सीधा उल्लेख नहीं है।

निःसंदेह बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात् कुशीनगर की महत्ता में वृद्धि हुई थी। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि कुशीनगर यात्रा के समय बुद्ध की इस परिनिर्वाण स्थली को देखकर सम्राट अशोक भावावेश के कारण मूर्छित हो गये थे। कुशीनारा के सम्बन्ध में यह कहा गया है—"इध तथागतो अनुपदिसेसापं, निव्वाण धातु या परिनिब्बुतोति।"[3] कुशीनारा को एक दर्शनीय और वैराग्यप्रद ( संबेजनीय ) स्थान बताया गया है।

अशोक स्तम्भों के विवेचन से वैशाली-श्रावस्ती तथा कपिलवस्तु-लुम्बिनी बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण मार्ग के रूप में आते हैं। इस प्रसिद्ध मार्ग पर कोल्हुआ, केसरिया, लौरिया अरेराज, लौरिया नन्दनगढ़, पावा ( पड़रौना ) कुशीनगर, धानी-सहनकोट ( पिप्पलिवन ) गोरखपुर ( राम-

---

१. डा० सिंह, अ० कु०, पूर्वोक्त पृ० ५-१०

२. पाटिल—डी० आर०, कुशीनगर, पृ० १५

३. दिव्यावदान, पृ० ३९४

ग्राम ) बाँसी इत्यादि प्रमुख स्थल स्थित हैं। महावीर, बुद्ध तथा उनके शिष्यों, सम्राटों, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों इत्यादि के आवागमन का यही मार्ग था। यह निर्विवाद सत्य है कि सम्राट अशोक ने राज्याभिषेक के २१ वर्ष पश्चात् धार्मिक स्थलियों के दर्शनार्थ इसी मार्ग से यात्रा की थी। अशोक स्तम्भों से अशोक के राज्य-विस्तार की सूचना प्राप्त होती है। उदाहरण—स्वरूप लुम्बिनी के अशोक स्तम्भ से ज्ञात होता है कि उनकी राज्य सीमा नेपाल के भीतर तक फैली हुई थी।

अशोक स्तम्भों के विषय में जान इरविन[1] का मत महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार समस्त प्रस्तर स्तम्भों की स्थापना सम्राट अशोक द्वारा नहीं करवायी गई थी अपितु कुछ स्तम्भ उनके पूर्व निर्मित थे। उदाहरणार्थ—रमपुरवा के दो स्तम्भों में एक के शीर्ष भाग पर साँड़ निर्मित है, जो अशोक काल के पूर्व का है। दूसरे के शीर्ष भाग पर सिंह निर्मित है जो अशोक द्वारा स्थापित करवाया गया है। इसी प्रकार श्रावस्ती[2] में एक प्रस्तर स्तम्भ पर साँड़ और दूसरे पर सिंह निर्मित है। इससे स्पष्ट होता है कि अशोक के शासन काल के पूर्व भी उक्त प्रस्तर-स्तम्भ मार्ग निर्देशन करते रहे होंगे। अशोक स्तम्भों के शीर्ष भाग पर निर्मित सिंहों की स्थिति से स्पष्ट है कि मार्ग इंगित करने में ये सहायक रहे हैं, उदाहरण स्वरूप कोल्हुआ एवं लौरिया नन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ पर निर्मित सिंह उत्तराभिमुख है। अशोक स्तम्भ मौर्यकालीन वस्तुकला एवं शिल्पकला के ज्वलंत प्रमाण हैं। सम्राट अशोक द्वारा अंकित धर्मोपदेश, राजाज्ञायें एवं ऐतिहासिक तथ्य आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने उस काल में। निश्चित ही अशोक-स्तम्भ मार्ग-निर्देशन का कार्य करते हैं और आधुनिक युग में भी सही अर्थों में मील के पत्थर हैं और भविष्य में भी इनका उतना ही महत्त्व रहेगा तथा ये आने वाली पीढ़ियों को निरंतर प्रेरणा देते रहेंगे।

रमपुरवा परसा ग्राम बिहार राज्य के पश्चिमी चम्पारण जिलान्तर्गत बेतिया से ३२.५ मील उत्तर, लौरियानन्दनगढ़ टीले से २९.५ मील उत्तर-पूर्व, सोमेश्वर पहाड़ी की तराई से चार मील दक्षिण, गंडक से ३६ मील पूर्व, २७° १५′ ४५′ उत्तरी अक्षाँश तथा ८४° ३४′ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। रमपुरवा-परसामें दो अशोक स्तम्भ निर्मित हैं। पुरातात्त्विक

---

१. अशोकन पिलर्स, विलिंग्टन मैगजीन, पृ० ७१०-७१८

२. वही, पृ० ७१५

दृष्टि से रमपुरवा के दोनों अशोक स्तम्भ मार्ग-निर्देशन में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। इन स्तम्भों के अनुसंधान का श्रेय कार्लाइल[1] को है। इसी के आधार पर उन्होंने ( नेपाल ) के प्राचीन मार्ग का प्रतिपादन किया है जिसका अनेक विद्वानों ने अनुमोदन किया है। यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि इस प्राचीन मार्ग से नेपाल की तराई में स्थित रमपुरवा से इसके उत्तर-पश्चिम में स्थित महात्मा बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी का कोई सम्बन्ध रहा है या नहीं। अशोक स्तम्भों के आधार पर रमपुरवा-लुम्बिनी मार्ग का निर्धारण होता है, जिसके अन्तर्गत निगलीवा नामक ग्राम स्थित है, जहाँ पर अशोक स्तम्भ दृष्टिगोचर होता है। यह ग्राम नेपाल में तिलौराकोट से ४ मील उत्तर-पूरब, पिपरहवा से ७८ मील उत्तर-पश्चिम, लुम्बिनी से १३ मील उत्तर-पश्चिम की दिशा में स्थित है। यह सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं है इसका ऊपरी भाग १४′ ९-१/२″ ऊँचा है। ( मध्यकालीन रेखाचित्र अंकित है ) इसका निचला भाग १०′ ऊँचा है। कार्लाइल ने अपनी रिपोर्ट के अन्त में प्लेट नम्बर ६ में उक्त मार्ग का मानचित्र प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट है कि यह प्राचीन मार्ग नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से जुड़ा हुआ था। वैशाली से कपिलवस्तु, लुम्बिनी का बुद्ध कालीन मार्ग पावा, कुशीनगर, पिप्पलिवन, रामग्राम इत्यादि नगरों से होकर जाता था जिसका बौद्ध साहित्य में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

कार्लाइल[2] वैशाली-काठमाण्डू ( नेपाल ) मार्ग का अशोक स्तम्भ एवं स्तूप के आधार पर वर्णन करते हैं किन्तु लौरिया-नन्दनगढ़ से पड़रौना ( पावा ) की दिशा व दूरी को पूरी तरह विस्मृत कर देते हैं। वैशाली-कुशीनगर मार्ग, पड़रौना होकर जाता है और इस पर अशोक स्तम्भों की श्रृंखला दृष्टिगोचर होती है परन्तु वे इस वैशाली-कुशीनगर मार्ग को अनदेखा कर देते हैं। कार्लाइल वैशाली-कुशीनगर के, सठियाँव-फाजिलनगर होकर जाने वाले, जिस मार्ग को प्रतिपादित करते हैं, उस पर एक भी अशोक स्तम्भ निर्मित नहीं है। वास्तव में यह आश्चर्यजनक है कि कार्लाइल वैशाली-कुशीनगर मार्ग-निर्धारण में अशोक स्तम्भ की उपस्थिति की

१. कार्लाइल, ए० सी० एल०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, टूर्स आन गोरखपुर, सारण, गाजीपुर, खण्ड XXII प्लेट नं० ६

२. वही, पृ० ५४-५८

ओर ध्यान नहीं दे पाये हैं जबकि मार्ग-निर्धारण में अशोक स्तम्भों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्राचीन राजकीय काठमाण्डू ( नेपाल )—पाटलिपुत्र मार्ग पर स्थित अशोक स्तम्भों के आधार पर स्मिथ[1] का वैशाली-अनुसंधान, बुद्ध-कालीन इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी धारणा है कि बौद्ध आख्यानों के आधार पर वैशाली की स्थिति गंडक के उत्तर दिशा में, पाटलिपुत्र के उत्तर की ओर, पाटलिपुत्र-कुशीनगर मार्ग पर होनी चाहिये। महानिर्वाण पूर्व गौतम बुद्ध की पाटलिपुत्र से कुशीनगर की यात्रा के सन्दर्भ के आधार पर उन्होंने लिखा है कि उस समय यात्रियों की मनोवृत्ति अधिकतर नदियों के घाटपर अपना पड़ाव डालने की थी। यही प्रयास रहता था कि वे सुविधानुसार इतनी दूर की यात्रा कर सकें जिससे उनका अगला पड़ाव नदी के घाट पर ही हो।

स्मिथ द्वारा पाटलिपुत्र-कुशीनगर मार्ग के सन्दर्भ में यात्रियों की मनो-वृत्ति के वर्णन से स्पष्ट संकेत मिलता है कि उनका आशय बुद्ध के महा-परिनिर्वाण पूर्व को पाटलिपुत्र-कुशीनगर यात्रा वर्णन में गंगा और गंडकी नदी का महत्त्व प्रकट करना था, जिससे बुद्ध पाटलिपुत्र, लौरिया-नन्दनगढ़ मार्ग से आकर मही ( गंडक ) पार करते हुए पावा से कुशीनगर गये थे, जैसा कि महापरिनिर्वाण सूत्र से भी स्पष्ट है। कनिंघम ने इस मार्ग की ऐतिहासिकता एवं वास्तविकता स्वीकार कर पड़रौना को पावा माना है। उनके विचार से भी बुद्ध गंडक ( मही नदी ) पार कर पावा पहुँचे थे।

वैशाली-कुशीनगर मार्ग के विषय में उपाध्याय[2] का अभिमत है कि कार्लाइल, डा० राजबली पाण्डेय तथा त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने सठियाँव फाजिलनगर को पावा की मान्यता देकर दिशा के आधार पर जिस मार्ग का प्रतिपादन किया है, वह उचित है। श्री उपाध्याय ने पड़रौना को पावा स्वीकार किया है। उनका कथन है कि उक्त विद्वानों की मान्यता रही है कि दोनों स्थानों के बीच सीधी रेखा में ही बुद्ध चला करते थे। आगे जाकर पीछे नहीं मुड़ सकते थे, चक्करदार मार्ग नहीं ले सकते थे। परन्तु वे तो एक मुक्त पुरुष की भाँति विचरण करते थे, वे ब्रह्म-

---

१. कुशीनगर आर कुशीनगर एण्ड अदर बुद्धिस्ट होलीप्लेस—जर्नल, रायल एसियाटिक सोसायटी आव ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, पृ० १३९-१६३

२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३२२-२३

विहार करते थे, यात्रा नहीं। इसलिए यदि अन्य प्रमाणों के आधार पर किसी स्थान की स्थिति निश्चित होती दिखाई पड़े तो केवल दिशा का ध्यान रखकर हमें उसे निषिद्ध नहीं कर देना चाहिये। अतः पड़रौना (पावा) से वे कसया (कुशीनगर) आ सकते थे और इस आधार पर हमें इस स्थान की पहचान के सम्बन्ध में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक स्तभों के आधार पर मार्ग के निर्धारण के प्रश्न पर उपाध्याय सम्यक् विचार नहीं कर पाये थे। नहीं तो उन्हें तर्क देने की आवश्यकता नहीं हुई होती। युग-पुरुष बुद्ध भी एक मानव की भाँति मार्गों द्वारा विचरण किया करते थे, इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।

बौद्ध साहित्य एवं अशोक स्तम्भों के अध्ययन से यह प्रमाणित हो जाता है कि बुद्ध काल में वैशाली-श्रावस्ती राजमार्ग, प्रमुख मार्गों में से एक था। यह निर्विवाद सत्य है कि वैशाली से फाजिलनगर सठियाँव होकर कुशीनगर का कोई प्रमुख प्राचीन मार्ग नहीं रहा है।

अशोक स्तम्भों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भगवान् बुद्ध महापरिनिर्वाण पूर्व की यात्रा में वैशाली से कोल्हुआ, केसरिया, लौरिया अरेराज, लौरिया नन्दनगढ़, रतवल घाट से गंडक पार कर पावा (पड़रौना) होते हुए, कुशीनगर पहुँचे थे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन मार्ग पर स्थित पावा एक प्रसिद्ध नगर रहा है।

नगरों एवं मार्गों के इतिहास का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है। बुद्ध काल में ही नहीं अपिपु रामायण एवं महाभारत काल में भी, श्रावस्ती-वैशाली महत्त्वपूर्ण मार्ग रहा है जिसके अन्दर पड़रौना क्षेत्र रहा है। यह बुद्धकाल में स्पष्टतया पावा के रूप में उभर कर सामने आया है, जहाँ तीर्थंकर महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा जहाँ महात्मा बुद्ध ने महानिर्वाण पूर्व अन्तिम भोजन ग्रहण किया था, वही पावा आधुनिक काल में पड़रौना के रूप में विख्यात है।



# उपसंहार

सभी धर्मों में 'तीर्थ' का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जहाँ किन्हीं धर्मों में कुछ स्थलों को स्वतः ही पवित्र मान लिया जाता है और उन तीर्थों की यात्राओं एवं वहाँ स्नानादि को एक धार्मिक कृत्य के रूप में सम्पन्न किया जाता है जैसे गंगा। दूसरे कुछ धर्म ऐसे हैं जो किसी स्थल विशेष को स्वतः पवित्र तो नहीं मानते किन्तु अपने धर्म प्रवर्तकों एवं धर्म आचार्यों के जन्म, साधना, देह-विलय आदि से सम्बन्धित विशिष्ट स्थलों को पूजनीय एवं पवित्र मानते हैं एवं उनकी यात्रा करना एक धार्मिक कृत्य समझा जाता है। जैन और बौद्ध धर्मों में हिन्दू धर्म की भाँति किन्हीं विशेष स्थलों को स्वतः पवित्र मानकर तीर्थ के रूप में स्वीकार तो नहीं किया गया किन्तु इन धर्मों में बुद्ध और महावीर के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थलों को तीर्थ के रूप से अवश्य ही मान्य कर लिया गया। जैन परम्परा में सामान्यतया तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण भूमियों को पवित्र माना गया और इन्हें कल्याणक भूमि के रूप में तीर्थ की संज्ञा प्रदान की गयी। जैन परम्परा में तीर्थंकरों की इन कल्याणक भूमियों के प्रति वही आस्था और श्रद्धा देखी जाती हैं जो अन्य धर्मों में अपने-अपने तीर्थस्थलों के प्रति देखी जाती है।

जैनधर्म के तीर्थंकरों में पार्श्व और महावीर ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप में स्वीकृत किये गये हैं और जैन परम्परा से अन्तिम दो तीर्थंकरों के रूप में निकटस्थ रूप से जुड़े होने के कारण उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित स्थल भी जैन परम्परा में परम पवित्र तीर्थ माने गये। जैनधर्म के अनुयायी प्राचीन काल से ही इन्हें तीर्थभूमि मानकर इनकी यात्रा भी करते रहे।

यद्यपि बुद्ध और महावीर दोनों ही समसामयिक रहे हैं। किन्तु जहाँ बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थल आज भी सुज्ञात और सुनिश्चित है वहाँ महावीर के जीवन से सम्बन्धित उन पवित्र स्थलों की सम्यक् पहचान कर पाना आज कठिन कार्य हो गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित निम्न ४ स्थल बौद्ध धर्म में परम पवित्र माने जाते हैं यथा—

१. लुम्बिनी—बुद्ध की जन्मस्थली।
२. बोधगया—बुद्ध को बुद्धत्व-प्राप्ति का स्थल।

३. सारनाथ—बुद्ध धर्म-चक्र प्रवर्तन।
४. कुशीनगर—बुद्ध का परिनिर्वाण स्थल।

जिस प्रकार बौद्ध परम्परा में बुद्ध से सम्बन्धित उपर्युक्त स्थल तीर्थस्थलों के रूप में मान्य हैं, उसी प्रकार जैन परम्परा में भी क्षत्रियकुण्ड को महावीर के जन्म एवं दीक्षास्थल के रूप में, ऋजु-बालिका नदी के तट को महावीर के कैवल्य प्राप्ति के स्थान के रूप में, राजगृह अथवा पावा, महावीर के धर्मसंघ स्थापना के रूप में एवं पावा को निर्वाण स्थल के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा जहाँ पावा को तीर्थप्रवर्तन स्थल के रूप में मान्य करती है वहाँ दिगम्बर परम्परा राजगृह को तीर्थप्रवर्तन स्थल मानती है। इस एक मत वैभिन्न्य को छोड़कर साहित्यिक दृष्टि से ये सब स्थल सुनिश्चित हैं किन्तु इनकी भौगोलिक अवस्थित के बारे में राजगृह को छोड़कर अन्य किसी के भी विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ बुद्ध से सम्बन्धित पवित्र स्थलों की पहचान सुनिश्चित बनी रही वहाँ महावीर के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थल क्यों विस्मृति के गर्भ में चले गये। हमारी दृष्टि में इसके अनेक कारण थे। सर्वप्रथम तो इसका कारण यह रहा कि बौद्ध धर्म में बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनकी पवित्र अस्थियों पर, उनके जीवन से सम्बन्धित विशिष्ट स्थलों पर उनके स्तूपों का निर्माण किया गया। इस निर्माण के लगभग १५० वर्ष के पश्चात् ही पुनः उनका जीर्णोद्धार करवाकर अशोक के द्वारा वहाँ स्तम्भ स्थापित किये गये। साथ ही बौद्ध भिक्षुओं ने इन स्थलों को केन्द्र बनाकर वहाँ पर भिक्षुओं के आवास, ध्यान, अध्ययन आदि के लिए विहारों का निर्माण करवाया। जब कि महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों आदि पर इस प्रकार का कोई भी निर्माण कार्य नहीं हो पाया। यह प्रश्न हो सकता है कि आखिर महावीर के अस्थिस्थलों पर इस प्रकार के निर्माण कार्य क्यों नहीं हुये?

वस्तुतः इसका कारण जैनमुनि की आचार-संहिता थी जब कि स्वयं बुद्ध और बौद्ध भिक्षु, बुद्ध के जीवनकाल से हो भिक्षु-आवासों आदि के निर्माण में रुचि लेने लगे थे। बुद्ध के जीवन काल में ऐसे अनेक विहारों का निर्माण हो चुका था। अतः बुद्ध के निर्वाण पर इसप्रकार के निर्माणों को करवाना और उनका प्रेरक बनका बौद्ध भिक्षुओं के लिए स्वाभाविक ही था। जैन ग्रन्थ आचारांग और सूत्रकृतांग से ज्ञात होता

है कि महावीर ने अपने श्रमणों को किसी भी निर्माण के लिये चाहे भिक्षु आवास का प्रश्न क्यों न हो, वर्जित कराया था। जैन भिक्षु अपने लिए निर्मित आवास में ठहर भी नहीं सकता था। भिक्षु के द्वारा किसी भी निर्माण कार्य आदि में भाग लेना तो दूर उसकी प्रेरणा तक भी प्रायश्चित्त योग्य अपराध मान लिया गया था।

अतः जैन भिक्षुओं की प्रेरणा के अभाव में महावीर के जीवन से सम्बन्धित स्थलों पर या उनके अस्थि-अवशेषों पर कोई भी निर्माण कार्य नहीं हो सके। ऐसे स्मृति चिह्नों के अभाव के कारण भविष्य में इन स्थलों की पहचान करना कठिन हो गया।

दूसरे इन तीर्थस्थानों की यात्राओं का क्रम मुस्लिम आक्रमण के काल में सतत् रूप से बना नहीं रहा जिससे इन स्थलों की सम्यक् पहचान बनी रहती अतः ये स्थल विस्मृति के गर्भ में चले गये। इन स्थलों की विस्मृति का तीसरा कारण यह भी रहा कि जैनधर्म अपने उत्पत्तिस्थल बिहार में क्रमशः विलुप्त होता गया और भारत के सुदूर पश्चिम और दक्षिण भाग में केन्द्रित होता गया और उन स्थलों पर नवीन तीर्थस्थलों की स्थापना हो गयी और कालान्तर में वहाँ मन्दिर आदि भी निर्मित हुए। अतः महावीर की कल्याणक भूमियों के रूप में इन स्थलों के प्रति जैनधर्मानुयायियों की श्रद्धा बने रहते हुए भी उनका जीवन्त सम्पर्क उनसे नहीं रहा। देश की राजनैतिक अस्थिरता समाप्त होने पर लगभग १५ वीं शताब्दी से जब जैनधर्म के तीर्थयात्रियों का इस ओर पुनः आगमन होने लगा तो वे उन स्थलों को यथार्थ रूप में नहीं पहचान सके। मात्र राजगृह एक ऐसा स्थान था जिसकी उन्होंने यथार्थ रूप में पहचान कर ली। फिर उसके आस-पास ही उन्होंने जन्म, दीक्षा, कैवल्य, संघ-स्थापन और निर्वाण के स्थलों की परिकल्पना कर ली थी। परिणामतः महावीर के जन्म और परिनिर्वाण से सम्बन्धित स्थलों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयीं। जहाँ तक भगवान् महावीर के जन्म-स्थल का प्रश्न है सामान्यतया आज भी उसे दिगम्बर परम्परा में नालन्दा के समीप स्थित कुण्डग्राम में माना जाता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा उसे मुँगेर जिला ( बिहार ) के लछुआड़ को उनका जन्मस्थान मानती है। अभी कुछ वर्षों पूर्व पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक आधारों पर वैशाली के निकट स्थित वासुकुण्ड ग्राम को महावीर का जन्मस्थान सिद्ध किया है। महावीर के साथ जुड़ा हुआ वैशालिक विशेषण भी उन्हें वैशाली सम्बन्धित करता है। अतः विद्वद्वर्ग में वैशाली के निकट

स्थित वासुकुण्ड ग्राम को महावीर के जन्म स्थान के रूप में स्वीकृत करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। यद्यपि परम्परागत रूप से जैनधर्मानुयायो आज भी नालन्दा के समीप स्थित कुण्डग्राम अथवा मुंगेर जिले में स्थित लछुआड़ को ही महावीर का जन्मस्थान मान रहे हैं। लछुआड़ को महावीर का जन्मस्थान सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी जुटाये जा रहे हैं पर वे अभी विवादास्पद ही हैं।

यही समस्या महावीर के निर्वाण-स्थल को लेकर भी है। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परायें राजगृह के निकट उससे लगभग १० मील दूर स्थित पावा को उनका निर्वाणस्थल मान रही हैं किन्तु पुरातत्ववेत्ताओं और विद्वानों को, इस स्थल को महावीर का निर्वाणस्थल मानने में कई कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। वर्तमान पावा राजगृह के इतना निकट है कि वहाँ हस्तिपाल राजा के किसी स्वतन्त्र राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। फिर महावीर का निर्वाणस्थल पावा प्राचीन जैनागमों में मल्लराष्ट्र का अंग माना गया है। उसके समीप मल्लों और लिच्छवियों के १८ गणराज्य स्थित थे जबकि वर्तमान पावा के सन्दर्भ में ऐसे कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं होते। इससे लगता है कि मल्लराष्ट्र में स्थित महावीर की निर्वाणस्थली पावा कालक्रम में लुप्त हो गई और जैनधर्म के अनुयायियों को उस स्थल की स्पष्ट पहचान नहीं रह सकी। कालान्तर में नवीन पावा की कल्पना कर वहाँ निर्माण कार्य कर दिये गये। अतः महावीर के निर्वाणस्थल पावा को लेकर भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने उसी भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर की निर्वाणस्थली का यथार्थ अस्तित्व कहाँ रहा है। इस सम्बन्ध में जो भी ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हो सके हैं उनको संकलित कर यह बताने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक पावा वर्तमान पडरौना ही है।

प्राचीन जैनागम साहित्य में आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में और कल्पसूत्र में ही महावीर के निर्वाण काल और निर्वाणस्थल के सबन्ध में हमें सूचनायें मिलती हैं। कल्पसूत्र के अनुसार जनपदों में विहार करते हुए महावीर ने अपना अन्तिम चातुर्मास मज्झिमा पावा के राजा हस्तिपाल की पुरानी रज्जुकशाला में बिताया था। वहीं चातुर्मास के सातवें पक्ष के अन्त में कार्तिक कृष्णपक्ष की अमावस्या को महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए थे। उस समय काशी, कोशल देश के नौ मल्ल और नौ लिच्छवी

राजाओं को निर्वाण के समय उपस्थिति और अजातशत्रु कुणिक की अनुपस्थिति यह सिद्ध करती है कि महावीर का निर्वाण मगध स्थित पावा में न होकर मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत स्थित पावा में ही हुआ होगा। क्योंकि राजगृह के समीप स्थित पावा में यह घटना हुई होती तो यह सम्भव नहीं था कि महावीर का परमभक्त अजातशत्रु कुणिक वहाँ उपस्थित नहीं होता।

पुनः मगध के विशाल साम्राज्य की राजधानी राजगृह के उपान्त पर स्थित वर्तमान में मान्य पावा पर किसी स्वतन्त्र हस्तिपाल नामक राजा का आधिपत्य होना और उसे अपनी राजधानी बनाना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। वर्तमान राजगृह के अतिनिकट स्थित पावा उस समय मगध के सम्राट के अधिकार के अतिरिक्त किसी अन्य राजा के अधिकार में रही हो ऐसा मानना सम्भव नहीं लगता। पुनः यदि राजगृह की निकटवर्ती, वर्तमान में निर्वाण स्थल के रूप में मान्य पावापुरी ही महावीर की निर्वाणस्थली होती हो चाहे स्वयं अजातशत्रु चम्पा में होने के कारण उपस्थित नहीं हुआ होता तो कम से कम उसका प्रतिनिधि तो राजगृह से अवश्य ही आता। ज्ञातव्य है कि श्रेणिक के के पश्चात् अजातशत्रु कुणिक ने अपनी राजधानी राजगृह से चम्पा स्थानान्तरित कर दिया था। इसका तात्पर्य यह है कि महावीर का निर्वाण स्थल पावा राजगृह के निकट न होकर अन्यत्र स्थित पावा होगी।

महावीर के निर्वाण स्थल के रूप में जिस पावा की प्रसिद्धि है उसे कल्पसूत्र में मज्झिमा पावा कहा गया है इससे एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि उस युग में पावा नाम से प्रसिद्ध कई नगर रहे होंगे और उन्हें अलग-अलग पहचानने के लिए ही मज्झिमा पावा ( मध्यवती पावा ) जैसे विशेषण प्रयोग किये जाते होंगे।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि महावीर का प्रभाव क्षेत्र और विहार क्षेत्र मुख्य रूप से गंगा के एवं गण्डक के पश्चिम-दक्षिण में स्थित क्षेत्र ही था अतः उनका निर्वाण इसी क्षेत्र में हुआ होगा। किन्तु यदि हम उनके चातुर्मासों की सूची पर विचार करें तो जहाँ उनके १४ चातुर्मास राजगृह के उपान्त नालन्दा में हुए वहीं उनके १५ चातुर्मास वैशाली, वाणिज्य ग्राम और मिथिला में भी हुए हैं। अतः इससे यह फलित होता है कि वे गंगा के उत्तर-पूर्व तथा गंगा के दक्षिण-पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से विहार करते थे। यदि राजगृह के उपान्त और नालन्दा

के अतिनिकट ही पावा जैसे राज-नगर की अवस्थिति थी तो महावीर ने अपने निर्वाण के चातुर्मास के अतिरिक्त कोई भी चातुर्मास पावा में नहीं किया जबकि उसके निकट नालन्दा में १४ चातुर्मास किये। निष्कर्ष यह है कि राजगृह के उपान्त में किसी ऐसी पावा की अवस्थिति होना जो हस्तिपाल जैसे स्वतन्त्र राजा की राजधानी हो सम्भव नहीं है। वहाँ निर्वाण के समय मल्ल और लिच्छवी गणराज्य के १८ गणराजाओं की उपस्थिति होना भी सम्भव नहीं प्रतीत होता। पुनः अपनी पूर्व राजधानी के निकट महावीर का चातुर्मास हो, वहीं उनका परिनिर्वाण हो और कुणिक जैसा उनका प्रमुख भक्त सम्राट या उसका कोई प्रतिनिधि उपस्थित न हो यह भी मान्य नहीं किया जा सकता। अतः वर्तमान में महावीर के निर्वाण स्थल के रूप में मान्य पावा वस्तुतः महावीर का निर्वाण स्थल नहीं मानी जा सकती।

पावा के साथ प्रयुक्त माज्झिमा विशेषण यह सिद्ध करता है कि पावा की स्थिति मध्यदेश में होगी। सम्भवतः वैशाली और श्रावस्ती के मध्य में स्थित होने के कारण ही पावा को मज्झिमा पावा कहा गया है और उसके आस-पास के प्रदेशों को मध्यदेश कहा गया हो। यह सुनिश्चित है कि यदि इसी आधार पर पावा का नामकरण माज्झिमा पावा हुआ हो तो वह पावा पडरौना ही है।

जैन और बौद्ध साहित्य से यह ज्ञात होता है कि महावीर और बुद्ध प्रायः वैशाली से श्रावस्ती आवागमन करते रहे हैं। वैशाली से श्रावस्ती का यह मार्ग मज्झिमा पावा होकर ही था। पुनः राजगृह से श्रावस्ती के मार्ग में भी यह मज्झिमा पावा अर्थात् पडरौना आता है। दूरी की दृष्टि से भी यह राजगृह और श्रावस्ती अथवा वैशाली और श्रावस्ती के मध्य स्थित है। मल्लराष्ट्र से बुद्ध और महावीर दोनों का ही अत्यन्त लगाव था। इसीलिए इसी मार्ग से वे अपनी चारिकायें करते थे। बुद्ध और महावीर की अनेक यात्रायें इस मार्ग से हुई हैं। सम्भवतः राजगृह से वैशाली होकर श्रावस्ती जाने के लिए महावीर ने प्रस्थान किया हो किन्तु वृद्धावस्था में लम्बे विहार न होने के कारण मध्य में स्थित मज्झिमा पावा में अपना चातुर्मास निश्चित किया हो। यह सुनिश्चित है कि राजगृह-वैशाली-श्रावस्ती मार्ग उस युग में आवागमन का प्रमुख राजमार्ग था। वैशाली से श्रावस्ती के मध्य प्राप्त अशोक स्तम्भ इस मार्ग की पहचान कराने के प्रबलतम साक्ष्य हैं वे तत्कालीन मार्ग के मील के पत्थर

के समान हैं। हमने इसी को आधार मानकर पावा का अन्वेषण करने का प्रयास किया है और इस आधार पर मज्झिमा पावा पडरौना ही सिद्ध होता है।

परवर्तीकाल में राजगृह के निकट स्थित पावा को महावीर का निर्वाण स्थल मानने की जो विचारधारा प्रचलित हुई उसका कारण यह था कि मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप पूर्व भारत से जैनों का सम्बन्ध कट गया था और पूर्वी भारत में जैन साधुओं का विहार न होने के कारण धीरे-धीरे जैनधर्म वहाँ से विलुप्त हो गया। जव १४वीं-१५वी शताब्दी में पश्चिम भारत से पुनः जैन व्यापारी और मुनि आये तो उन्हें राजगृह ही एक ऐसा क्षेत्र मिला जिसे वे सुनिश्चित कर सके अतः शेष क्षेत्रों की कल्पना उन्होंने उसी को केन्द्र स्थल मानकर कर ली। प्राचीन जैन साहित्य में तो इन कल्याणक क्षेत्रों के नाम मात्र ही थे। उनमें पहचान के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं था। अतः उन्होंने कल्पना के आधार पर अन्य तीर्थों के साथ दक्षिणी विहार में इस पावापुरी की कल्पना की और यहाँ मन्दिर आदि बनवाये। यही प्रतीत होता है कि जैन धर्मावलम्बी उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों से इतने अभिभूत थे कि उन्होंने उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं किया और न तो उन्होंने उत्तरी बिहार में अथवा पूर्वी उत्तर प्रदेश में गण्डक नदी के निकट पावा को खोजने का प्रयास किया।

परन्तु बौद्ध साहित्य एवं अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी नालन्दा स्थित पावापुरी के उल्लेख का अभाव है और न ही वर्तमान पावा से कोई ऐसी पुरातात्त्विक सामग्री ही मिली जो उसके पक्ष में हो। विशेष बात तो यह है कि चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के विवरण में इस पावा का उल्लेख नहीं किया है जबकि वे पावा पडरौना अवश्य आये थे यह कनिंघम द्वारा लिखित 'एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया' में ह्वेनसांग के गंगा प्रदेशीय यात्रा के विवरण के मानचित्र से स्पष्ट है। बुकनन एवं कनिंघम उन महान अनुसंधान कर्त्ताओं में प्रमुख हैं जिन्होंने इस क्षेत्र का ही नहीं अपितु भारत वर्ष के अधिकांश भागों का भ्रमण कर असीम विवेक, धैर्य, साहस एवं सहनशीलता के साथ निरीक्षण, सर्वेक्षण एवं उत्खनन का कार्य किया है। कनिंघम ने भारतवर्ष के अधिकांश प्राचीन महत्त्वपूर्ण स्थलों का अनुसन्धान किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से घोषित किया कि पडरौना ही वास्तविक पावा है। बाद में कार्लाइल ने फाजिल नगर-सठियाँव को पावा के रूप में मान्यता दी थी। अधिकांश विद्वानों ने

कनिंघम का समर्थन किया कुछ ने कार्लाइल का। बहुत से ऐसे भी विद्वान रहें हैं जो पावा के सम्बन्ध में असमंजस की स्थिति में कुछ भी निश्चित न कर तटस्थ भाव से दोनों का मत लेकर आगे बढ़े। उदाहरणस्वरूप फ्यूरर जहाँ एक स्थान पर पडरौना को पावा मानते हैं (मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन द नार्थ वेस्ट प्राविन्सेज़ एण्ड अवध, पृ० २४९) वही दूसरे स्थान प्रर सठियाँव-फाजिल नगर को भी पावा के रूप में मान्यता देते हैं (वही, पृ० २३९)। इसी प्रकार प्राचीन इतिहास और पुरातत्व के विद्वान् वी० सी० लाहा ने ( ज्याग्रफ़ी आव अर्ली बुद्धिज्म पृ० ९८ ) में मल्लराष्ट्र का वर्णन करते समय कसया से १२ मील की दूरी पर गण्डक के किनारे स्थित पडरौना को ही पावा माना है लेकिन फुटनोट में फाजिलनगर को पावा कहते हैं और पुस्तक के अन्त में जो नक्शा संलग्न है उसमें फाजिलनगर-सठियाँव को पावा मानते हैं।

सठियाँव को पावा मानने के पीछे प्रबल आधार सठियाँव को चैत्यग्राम का अपभ्रंश मानना रहा है परन्तु सठियाँव के पुरातात्त्विक उत्खनन में प्राप्त 'श्रेष्ठिग्राम अग्रहारस्य' की मुद्रा से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेष्ठिग्राम का अपभ्रंश सठिआँव है, चैत्यग्राम का नहीं। इस प्रकार सठियाँव का पावा से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसको पावा मानने का आधार सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि वैशाली के निकट बुद्धकालीन प्राचीन मार्ग के अवशेष होने का संकेत मिला है और वहाँ पर सर्वेक्षण कर उत्खनन का विचार चल रहा है। इस उत्खनन के फलस्वरूप वैशाली-कुशीनगर मार्ग के सन्दर्भ में निश्चय ही ऐसी पुरातात्त्विक सामग्रियाँ प्राप्त होंगी जिनसे इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ेगा।

मेरा भी निश्चित मत है कि यदि पडरौना के प्राचीन टीले के उत्खनन के साथ न्याय किया जाय तो महत्त्वपूर्ण तथ्य आयेंगे।

पावा के गण्डक तट पर स्थित होने के कारण इसकी सम्भावना अधिक है कि पावा सम्बन्धी आधारभूत पुरातात्त्विक प्रमाण उदाहरण स्वरूप मिट्टी के स्तूप, प्राचीन भग्नावशेष गण्डक के प्रवाह में बहकर विलीन हो गये हैं। जिस प्रकार रामग्राम के बुद्धस्तूप पर रामगढ़ ताल एवं अचिरावती ( राप्ती ) नदी के कारण विनष्ट हो गये एवं वैशाली के बुद्ध स्तूप को गण्डक नदी ने जलप्लावित कर उसको नींव को क्षतिग्रस्त

करते हुए मूल आकार को प्रभावित किया था जिसका क्रमशः डॉ० राजबलीपाण्डेय ( पू० पृ० ७० ) एवं डी० आर० पाटिल ने वर्णन किया है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर पड़रौना ही पावा सिद्ध होता है।

( ए० रि० वि०, पृ० ३१-३२ )



# परिशिष्ट

## पावा-सम्भावित क्षेत्रफल

—लेखक

### परिशिष्ट सं० १

पावा के सम्भावित क्षेत्रफल के विषय में विचार करना आवश्यक है। यह निर्विवाद सत्य है कि पावा एक समृद्धिशाली एवं विशाल नगर रहा है, जिसका क्षेत्रफल विस्तृत रहा है। पावा की विशालता के विषय में ठोस प्रमाण के अभाव में सिर्फ संभावना ही व्यक्त की जा सकती है। कृष्णानन्द[1] ने पड़रौना को 'पावा' के रूप में मान्यता प्रदान करते हुए इसकी विशालता पर विचार किया है। उनका मत है कि पड़रौना के उपनगर छावनी के निकट टीले के समीपवर्ती क्षेत्र में पावा सम्बन्धित अनेक पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध होना चाहिए। उनके अनुसार पावा का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत रहा है, जिसकी सीमा के अन्तर्गत पड़रौना से दक्षिण-पूरब में झारमठिया, सठियाँव फाजिलनगर, उस्मानपुर इत्यादि नगर सम्मिलित होना चाहिए।

पावा की भौगोलिक स्थिति के विषय में महाभारत से महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। महाभारत काल में दो मल्ल राज्य स्थापित रहें हैं: १—मल्ल ( मुख्य मल्ल ) २—दक्षिणी मल्ल। महाभारत[2] में वर्णित है है कि पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का राज्य प्राप्त होने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों भीम, अर्जुन, सहदेव, नकुल को चारों दिशाओं में दिग्विजय के लिए भेजा। भीम ने पूर्व दिशा के राजाओं पर विजय प्राप्त किया था, इसी प्रसंग में मल्ल और दक्षिण मल्ल के राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। मल्ल, पावा के मल्ल राज्य तथा दक्षिणी

---

१. वार्ता के आधार पर।

२. ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम्।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥
( सभापर्व-दिग्विजय पर्व महाभारत पृष्ठ संख्या ७५० )

मल्ल, कुशीनगर के मल्ल राज्य को उद्‌बोधित करता है। यदि पावा के अन्तर्गत झारमठियाँ, सठियाँव—फाजिलनगर, उस्मानपुर इत्यादि नगरों का क्षेत्र सम्मिलित होता तो, पावा का क्षेत्र उत्तर की अपेक्षा दक्षिण, दक्षिण-पूरब की ओर अधिक विस्तृत दृष्टिगोचर होता। यदि पावा की ऐसी भौगोलिक स्थिति रही होती तो, महाभारत काल में कुशीनगर के मल्ल राज्य को दक्षिणी मल्ल के स्थान पर किसी दूसरी दिशा से सम्बोधित किया गया होता।

बुद्धकाल में पावा एवं कुशीनगर की भौगोलिक स्थिति के विषय में विस्तृत सूचना प्राप्त होती है। बौद्ध साहित्य में कुशीनगर से पावा की दिशा और दूरी स्पष्ट रूप से दी गयी है। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, कुशीनगर से पावा ३ गव्यूति ( १२ मील ) की दूरी पर गण्डक की ओर स्थित था। यदि पावा के परिप्रेक्ष्य में पड़रौना के साथ-साथ झारमठिया, सठियाँव-फाजिलनगर, उस्मानपुर इत्यादि नगरों के क्षेत्रफल पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसका क्षेत्रफल लगभग १४० वर्ग कि० मी० होना चाहिए जैसाकि बौद्धकालीन सम्भावित मार्ग के मानचित्र से ज्ञात होता है। इस परिस्थिति में पावा की तुलना में कुशीनगर आकार एवं क्षेत्रफल में नगण्य दृष्टिगोचर होगा, जिसकी सम्भावना बहुत कम लगती है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कृष्णानन्द के विचार तर्क संगत प्रतीत नहीं होते हैं। बुद्धकालीन मल्लराष्ट्र एक विशाल राष्ट्र रहा है, इसकी सम्भावना अधिक है कि झारमठिया, श्रेष्ठिग्राम (सठियाँव) उस्मानपुर इत्यादि मल्लराष्ट्र में प्रसिद्ध नगर रूप में स्थापित रहें होंगे। वस्तुतः जैसा सम्भावित पावा क्षेत्र परिसीमा के मानचित्र में प्रदर्शित किया गया है, पावा का सम्भावित क्षेत्रफ़ल लगभग ३२.५५ वर्ग कि०मी० रहा होगा।



परिशिष्ट सं० २

# Hitory, Antiquities, Topography, Statistics of Eastern India

—Buchanan

p. 354.

PARRAONA—This also is a very large division. A little land near the Gandaki is yearly inundated, but in general this is an elevated level territory, with however some high narrow banks, that wind for a considerable way in various directions, and considerably add to the beauty of the prospect. A long narrow forest, containing many mimosas and other prickly trees, and rather stunted, winds obliquely through the middle of the division in its southern part, and towards the north runs along the frontier, but is not ornamental. The remainder of the country is clear, with very numerous plantations, among which the fields wind in beautiful lawns, especially near Parraona, where the proportion occupied by plantations is enormous. The custom of fallowing is adopted here also, and renders the appearance of the country more beautiful by keeping down rank vegetation.

There are no large lakes; but the south side of the division is very easily watered, the springs being very near the surface. The owners of land have three houses of brick. That of the Parraona family, the only one that I saw, is a small castle at a corner of the town, and is very ruinous, though still inhabited. There are 75 mud walled houses of two stories, of which five are covered with tiles, and 70 are thatched. Of the huts $\frac{6}{16}$ have mud walls, and of these 10 are covered with tiles, and 200 have wooden doors and window shutters. The remainder are thatched, and, if they have any door, it is a mat to shut the only aperture in the hut, except the crevices in the roof; $\frac{10}{16}$ differ from those last mentioned in having their walls

made of hurdles, the place for cooking being plastered with clay on the inside.

p. 355.

Parraona, when I saw it, contained about 700 houses. A few had two stories, and a few were tiled, but by far the greater part consisted of miserable thatched huts. The Raja's castle occupied one corner, and the whole had been surrounded by a ditch and bamboo hedge. Last year it had suffered much from fire, on which occasion about 200 families retired to the Saran district; and on the day after I left it, another very destructive fire took place, which will probably occasion a similar desertion, although Saran is overstocked with people but those near Parraona are dissatisfied with the present management of their country. The town had considerable manufactures of sugar, nitre, and cloth, and advances were made from the Company's factory at Gazipoor for the two latter; but those for cloth have for two years been discontinued. Simra contains about 100 houses; no other place deserves the name of a town.

The Moslems have no place of worship at all remarkable; a monument of brick dedicated to Shah Burhan, about four miles east from Parraona, attracts a few votaries every Thursday night. The chief religious assembly of the Hindus is at Bangsi-ghat on the great Gandaki, where 50,000 bathe on the full moon of the month Kartik. At Kaharaliya, south and east from Parraona about 3 coss, there was about 15 years ago an image of the great god placed under a tree, and called Kubernath. No one know how it came there, and it attracted little notice, until an Atithi covered it by a small temple of brick and propagated an account of its power. Five thousand votaries now attend at the Sivaratri, and from 500 to 700 in the mouth Vaisakh. At Pureni south and west about 6 coss from Parraona, there is a place (sthan) dedicated

to the worship of the goddess (Bhawani), where 4,000 people assemble on the Dasahara of spring. There are other 10 places dedicated to the worship of the goddess, and 50 Linggas, of which 19 have small temples of brick. Every old mauza has a place dedicated to the worship of some ghost of the sacred order, with a kindred priest annexed. Those of whom I heard are Harirama Misra, and Govinda Vama Misra. Very few devils of lower rank presume to intermeddle with village affairs. About half-a-mile south from Parraona at Chhauni, which during the Nawab Vazir's government was a military station, there is a very considerable heap of bricks now covered by soil and trees, and of a conical form It extends about 224 feet from east to west, and 128 from north to south. It is said, to have been the temple where Rasu, p. 356–the Musahar, who was family priest of Madan Sen, was wont to pray, nor is there any reason to doubt the tradition. I presume that it has been a solid temple, because on the top there is no cavity except a trench, that by orders of Sakhautullah, a Tahasildar, was dug about 20 years ago in search of materials for building. When a good many bricks had been teken, several images were found, although the workmen had not penetrated into any chamber. On the images having been found, the work was abandoned as impious. Some of the images were buried again, one remains near the trench, and some have been removed by the Hindus to a small terrace at a little distance from the ruin, where one of them has become an object of worship. The image remaining near the trench (plate 1. A.) represents a male with two arms. He has a male and female attendant, and on each side is supported by two Buddhas. The one which has become an object worship, and has been placed on the terrace by the name of Hathi Bhawani, is evidently a Buddha, with a triple umbrella over his head (plate 1. B.). When the Hindus

erected this male image as a representation of a goodess, which might have excited the smile of a philosopher, the wrath of a Fukir, belonging to the military corps then at the place was kindled, so that he drew his sword and smote off the face. This image is supported behind by several fragments, and a small image of a Buddha seated in the usual posture. By its side has been erected an image ( plate 1. C. ) resembling those called Vasudev, Lakshmi Narayan, Gadadhar, &c. in Behar.❀ I requested the Thanahdar to employ people to dig a well from the centre of the top, and to sink it from thence to the level of the adjacent plain. This could not be done while I remained on the spot; and, after digging about 5 cubits, the workmen came to a small pavement of stone, on which they found some bones, whereupon they desisted. These bones probably belonged to some Muhammedan, who had been buried on the ruin.

About five miles east and south from this ruin at Kateya, it is said, Madana Sen had a fort. What are shown as the remains, consist of a small square place surrounded by a slight ditch, and earthen rampart, which has probaly been planted p.357–with a bamboo hedge. Within are a few scattered bricks, nor has the place any resemblance to the great works of the impure tribes, but entirely resembles the modern simplicity of the dens, in which the Rajas of pure birth skulked. There are besides about 20 such old forts, which were useful not only to secure the Rajas from the petty vexations of revenue officers, but from the attacks of the mercantile robbers named Bangjaras, who, during the governments of Suja-uddoulah and of his eldest son, were very troublesome.

---

❀ See Vol. 1. plate IV No. 3. Plate VII. No. 1.

परिशिष्ट सं० ३

# Archaeological Survey of India Report 1861-62

—A. Cunningham

p. 74

The large village of *Padaraona*, or *Padarvaana*, is situated 12 miles to the west of the River Gandak, 27 miles in a direct line to the north north-west of Navandgarh Lauriya, and 40 miles to the north north-east of Gorakhpur. I believe that it is the ancient *Pāwā*, as it is situated just 12 miles from Kasia, which agrees with the position assigned to *Pāwā* in the Pali Annals with respect to Kusinagara. The very name of *Pāwā* also seems to be only a corruption of *Padara-vana* or *Padar-ban*, which might easily be shortened to *Parban*, *Pārwan* and *Pāwā*.

The remains at Padaraona consist of a large mound covered with broken brick and a few statues. The mound is 220 feet in length from west to east, 120 feet in breadth from north to south, and 14 feet in height at the western end above the fields. The long trench mentioned by Buchanan still exists on the west side, and looks as if a wall had been dug out for the sake of the bricks. About eight years ago a large hole was excavated to the cast of the trench by a zemindar for the sake of bricks. Two houses were built of the materials then obtained, but sufficient trace of the walls still remains to show that they were in straight lines, one of them being parallel to Buchanan's trench. From this I infer that there was a court-yard about 100 feet square, with cells on each side for the accommodation of monks. In the centre there was probably either a stupa or or a temple. But if I am right in my identification of Padaraona with *Pāwā*,

p. 75

the building would almost certainly have been a stupa; for we know that the people of Pāwā, after the cremation of Buddha's body, obtained one-eighth of the relics, over which they erected a stupa. The entrance to the court-yard would appear to have been on the east side, where the mound is now low and thickly covered with bricks.

In a small roofless brick building at a short distance to the northward, there are a few old figures. This temple is dedicated to Hāthi Bhawāni, or the Elephant Goddess, who is accordingly propitiated with rude votive figures of elephants in baked clay, of which numbers lie scattered about the temple, both inside and outside. The statue called Hāthi Bhawāni represents a squatted male figure with a triple umbrella over his head. The figure appears to be naked, and if so, it must belong to the Jains, and not to the Buddhists. A drawing of it is given by Buchanan.❀ There are also two fragments with seated Buddhas, and a third with the upper half of a female figure. On referring to Buchanan I recognized all three fragments as having belonged to the statue sketched as fig. 2 in his Plate. The principle figure is now gone, but there are a few unimportant fragments not noticed by Buchanan, and in the village there is the pedestal of a statue

I made an excavation on the highest part of the mound on the west side, and to the northward of the zemindar's excavation. In this I found bricks with rounded edges such as I had noticed in the mouldings of the Great Temple at Buddha-Gya, and of the stupa at Giryek. I found also wedge-shaped bricks of two sizes. The largest ones being only fragments, I was unable to ascertain their length, but their breadth was $20\frac{3}{4}$ at the end, and $19\frac{1}{4}$ inches at 6 inches

❀ Eastern India, II., Plate I., Fig. 2.

distance. As the larger end was rounded, these bricks must have formed part of some circular building and most probably of a solid stupa, which would have been just 30 feet in diameter. The smaller bricks were $8\frac{1}{2}$ inches long $5\frac{7}{8}$ inches broad at the widest end, and 5 inches at the narrow end, with a thickness of $2\frac{1}{4}$ inches. These may have belonged to a small stupa about 9 feet in diameter. In my excavation I found also the base of a pillar of coarse grey sandstone. It was 15 inches square and $6\frac{1}{2}$ inches high, with a few plain mouldings at the upper edge. The complete excavation of this mound would not be difficult, and the work might be superintended by the civil authorities of the place, who live close by.

**परिशिष्ट सं० ४**

# The Ancient Geography of India

—'A' Cunningham

**Pāwā, or Padraona**

p. 366

In the Ceylonese chronicles the town of *Pāwā* is mentioned as the last halting-place of Buddha before reaching Kusinagara, where he died. After his death it is again mentioned in the account of Kasypa's journey to Kusinagara to attend at the cremation of Buddha's corpse. *Pāwā* was also famous as one of the eight cities which obtained a share of the relics of Buddha. In the Ceylonese chronicles it is noted as being only 12 miles from Kusinagara, towards the Gandak river. Now 12 miles to the north-north-east of Kasia there is a considerabie village named *Padaraona*, or *Padara-vana*, with a large mound covered with broken bricks, in which several statues of Buddha have been found. The name of *Padara vana*,

or *Padarban,* might easily be shortened to *Parban, Paban,* and *Pāwā.* In the Tibetan *'Kahgyur'* this town is called *Digpachan*, but as the meaning of the name is not given, it is impossible to say whether it is an original Indian name or a Tibetan translation. Between Pāwā and Kusinagara there was a stream called *Kukutthā* or *Kukukhā,* at which Buddha stopped to bathe and drink. This must be the persent *Bodhi,* or *Barhi,* or *Bandhi* Nala, which, after a coures of 36 miles, joins the *Chota Gandak*, or *Hirana* river on its left bank, 8 miles below Kasia.

**परिशिष्ट सं० ५**

# Report of Tours in Gorakhapur, Saran and Ghazipur

—C. L. Carlyle

p. 29

10. *Pāwā*—After having completed my work at the Mātha Kunwar or Kusinagara, the next object which I had in view was to make investigations regarding the true site of an ancient town called Pāwā, at or near which Buddha is said to have rested and drunk water and bathed, before proceeding on to Kusinagara on his last journey, the course of which was from Vaisāli or Besārh to Kusinagara. At Pāwā there was a great stūpa in which one of the original eight portions of the relics of Buddha was enshrined. In the Ceylonese Buddhist chronicles, Pāwā is said to have been situated at the distance of about 12 miles from Kusinagara, in the direction of the Gandak River, that is some-where to the east of Kusinagara and on the old road or track which people travelled between Vaisali and Kusinagara.

Now, some years ago, General Cunningham proposed to

identify Pāwā with the well-known large village of Padraona or Paraona, which is situated at the distance of 12 miles to the north-north-east-half-north from Kasya, or 13 miles from the actual ruins of Kusinagara. But this 13 miles from the actual ruins of Kusinagara is only the direct distance, in a straight line as measured on the map; while the actual travelling distance, even with the improved roads of the present day, is 7 kos, or 14 miles. Now it will be generally allowed that the travelling distance in ancient times could not possibly have been less than the direct distance, in a straight line, as measured on the map at the present time. Consequently, if the travelling distance to Pāwā in ancient times was only 12 miles, when there were no proper roads, but much jangal and water intervening, it is utterly impossible that the direct distance, when measured in a straight line on the map, could be 13 miles ! This is, however, only one of the objections which I have to bring forward against the possibility of Padraona being identified with Pāwā.

The second and much stronger objection which I have to make; is the position of Padraona as being far too far north and totally out of the way of the route from Vaisali to Kusinagara. The direction of the position of Vaisali, or Besarh, from Kusinagra, or Kasya, is south-east; and therefore if Pāwā was met with on the road in coming from Vaisali to Kusinagara, Pāwā would probably be somewhere to the south-east of Kusinagara a probability which becomes still more evident, nay even absolutely certain, from the fact that both Buddha himself, and afterwards also his chief disciple Kasyapa, passed through Pāwā on their way from Magadha and Vaisali to Kusinagara. It is evident, therefore, that we must look somewhere to the south-east of Kusinagara for the position of Pāwā.

Now if the travelling distance or distance by a winding

track, from Pāwā to Kusinagara, in ancient times, was 12 miles, it is probable that the actual direct distance, if measured in a straight line, would be only about 10 miles; and I have already shown that the direction from Kusinagara must have been about south east. In accordance with these deductions, I find that, at the distance of about 10 miles to the south-east from the ruins of Kusinagara, there are the ruins of an ancient city at a place called Chetiyaon (the Suthyaoon of the maps), and that there is also the ruin of a large stūpa at a place called Fājila or Fāzilnagar, only half a mile to the north-east of Chetiyaon, there being also the remains of other extensive ruins near the stūpa, which evidently originally formed simbly one portion of the same ancient city of which Chetiyaon formed another portion, there being merely a narrow belt of marshy land between the two ancient sites. Close or about a quarter of a mile to the north-east of the ruined stūpa there is the bed of an ancient river, which is now called the Sonua or Sunawa, or Sonarra Nadi; but at some part of its course further south it would seem to take the name of Kūkū; for at the distance of about 10 miles to the south of Chetiyaon, I find that there is a ghāt, or ferry, called Kuku Ghāti; and along the bank of the same river, we also find such names as Karkulaha and Khūrhūria and Kuteya. Now according to the Ceylonese and Burmese Buddhist chronicles, the river near Pāwā, at which Buddha stopped to bathe and drink, was called Kukutthā or Kukuhā. But in these chronicles this river is said to have flowed between Pāwā and Kusinagara. Now about $1\frac{1}{2}$ mile to the west of Chetiyaon, there is another ancient river bed, which is called Anhea, but sometimes also Sonea or Sonawa. The name of this river bed called Anheya, or Anhea, may be connected with the Hindi *anhānā*, to bathe, and *anhān* bathing, which latter is synonymous with the Sanskrit *asnān*, and therefore the Anhea or Anheya Nala may be the very river at

which Buddha bathed ! About 2 miles to the west of the Anhea Nala there is another river called the Ghāgi Nadi.

परिशिष्ट सं० ६

# Report of Tour in North and South Bihar in 1880-81

—Garrison

## 17—PADARAONA, or PADROWNA

p. 118

At Padaraona, or Parowna, as the village is commonly called, there is a splendid tope of trees; one of the largest, I think, on that line of march. The trees are regularly planted in straight lines from east to west[1]. The remains here consist in a large mound, covered with broken brick and rubbish. This mound is 220 feet in length from west to east, and 120 feet in breadth from north to south, and 14 feet in height at the western end above the fields. General Cunningham concludes this mound, from the parellel lines of walls disclosed by excavation, to be the remains of a buliding for the accommodation of Buddhist monks, and identifies *Padaraona*, or *Padarāvana*, with the ancient *Pāwā*, both on account of its situation and the similarity of the names; taking the name of the village to be merely another reading of *Pādara vana* or *Padar-ban*, which might have been shortened to *Parban*, *Parwan*, and *Pāwā*. As there can be no reasonable doubt of this identity, the large village of *Padaraona* is the site where, after the cremation of Buddha's body, his followers raised a stūpa over one-eighth of the sacred relics,

1. In occurred to me, that the name of *Parowna*, by which this village is known, might possibly have some connection with this remarkable encamping-ground *Parow*, or *Manzil*, indicating a halt or stage.

and consequently *Padaraona* must be a place of no small importance in Buddhistical history. Of this stūpa no trace is now left. There is also at *Padaraonā*, a little way to the north, a few old sculptures in a very ruinous Hindu temple. The principal statue is a squatted male figure with a triple umbrella overhead, and there are a few unintelligible fragments in and about the temple. I was somewhat puzzled at the inappropriate name given to this figure, and likewise to the temple, which the people call *Hāthi-Bāhwāni*, or "Elephant Goodess," the figure worshipped being unmistakeably that of a man; but it is just possible that at the time the temp'e was named, the deity inside was a female image, and the old name still serves, although this female figure might have been removed years ago. The manufacture of sugar seems to be quite an extensive industry in this part of the country. The mills are, of course of the old school, mostly of wood, and the manufactories consist of a thatched shed in which the juice extracte from the sugar-cane is evaporated and a number of blindfolded bullocks that toil wearily round and round, while the creaking old mill crushes the cane. In this short description we must not omit the diver who, by-the-bye; is very often soundly asleep, perhaps the revolving motion of the machinery upon which he is seated is the cause of this, but I was informed by a cultivator that the capacity for slumber exhibited by this worthy man seldom lessens the daily production. If this be the case, why have a driver at all ? I believe the bullocks have become so accustomed to their driver, that they would cease describing their monotonous circle, were he absent from his post. The more general introduction of the Beheea sugar-cane mills would, I feel sure, greatly forward this industry; for the machine constructed and patented by Messrs. Thompson and Mylne of Beheea has fully proved its

efficiency, as the following comparison with the Indian methods for crushing cane will show. Eighteen *bighas* of cane 11½ acres ) can be squeezed by a *Beheea* mill in a season of four months, with one mill, 4 bullocks, and 3 men; whereas two stone mills, *tikurs*, with 20 bulloks and 15 men, are necessary to crush the same quantity of cane in that time. But the wooden mill *Kolhu* or *Raksāb*, though more simple, is still further behind the times, for by this, to extract the same quantity of juice in the above given time, three mills, worked by 12 men and 12 bullocks, are requisite. This alone is sufficient to prove the superiority of the Beheea mills, and the Department of Agriculture and Commerce, North-West Provinces and Oudh, have taken a step in the right direction, in obtaining the sanction of Government, to make advances to cultivators, in order that they may purchase these mills; and the prominent part this useful appliance obtains in district shows and fairs, is very creditable to the local authorities. It is to be hoped that the native's prejudice against innovations will be overcome by this apparent advantage to themselves.

**परिशिष्ट सं० ७**

# History, Antiquities and Inscriptions in the North west Provinces and Oudh

—A. Fuhrer

p. 249

24. Paḍarāunā, or Parāunā, tahsil, 49 miles north-north-east of Gorakhpur, has been identified by General Cunningham with the ancient Pāwā, both on account of its situation and the similarity of names, taking the village to be merely another reading of Paḍaravana, which might have been shortened to Parban and Pāwā. See, however, article on Chetiyāon.

The remains to the south of Paḍarāunā consist of a large mound covered with broken brick and a few statues. The mound is 220 feet in length from west to east, 120 feet in breadth from north to south, and 14 feet in height at the western end above the fields. General Cunningham made an excavation on the highest part of the mound, and concludes that the mound must have been the site of a large Buddhist monastery, about 100 feet squre, with cells on each side for the accommodation of the monks. In the centre of the courtyard, whose entrance was seemingly on the eastern side, stood probably a relic stūpa, as wedge-shaped bricks and bricks with rounded edges af two sizes as well as the base of a grey sandstone pillar were unearthed during the excavation.

In a small roofless brick building at a short distance to the north of this mound there are a few old sculptures. The temple is dedicated to Hāthi Bhavāni, most probably to Pārvati as mother of Gaṇesa. The principal image, however, from which the temple derives its name, is not that of Hindu goddess, but of some naked Jain Trithaṁkara squatting under a triple umbrella.

**परिशिष्ट सं० ८**

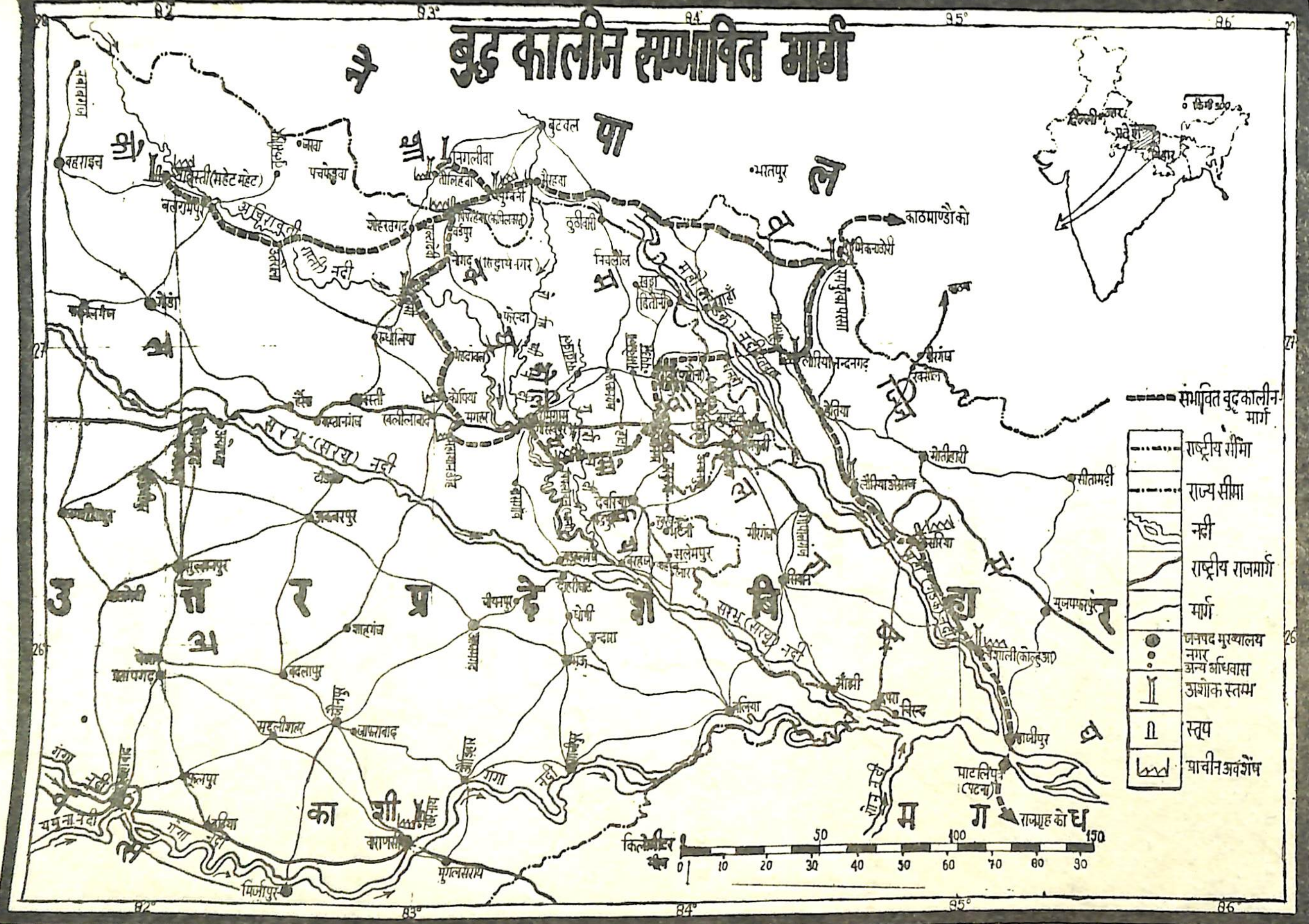
# Gazetteer of Gorakhpur

Padrauna, Pargana Sidhura Jobna, Tahsil Padrauna.

The place which gives its name to the eastern Tahsil of the district is a town formed by the aggregation of five separate villages. It stands in 26° 54 N, and 83° X 59 E, on the road from Captainganj to Bansighat and Bottiah, at a distance of twelve miles north north-east by road from Kasia and 40 miles from Gorakhpur. Other unmetalled roads lead from Padrauna to Naurangie and Siswa Bazar on the noth to Tlwari-

# सम्भावित पावा क्षेत्र परिसीमा

देखिए, परिशिष्ट सं० १ पृ० २०५-६

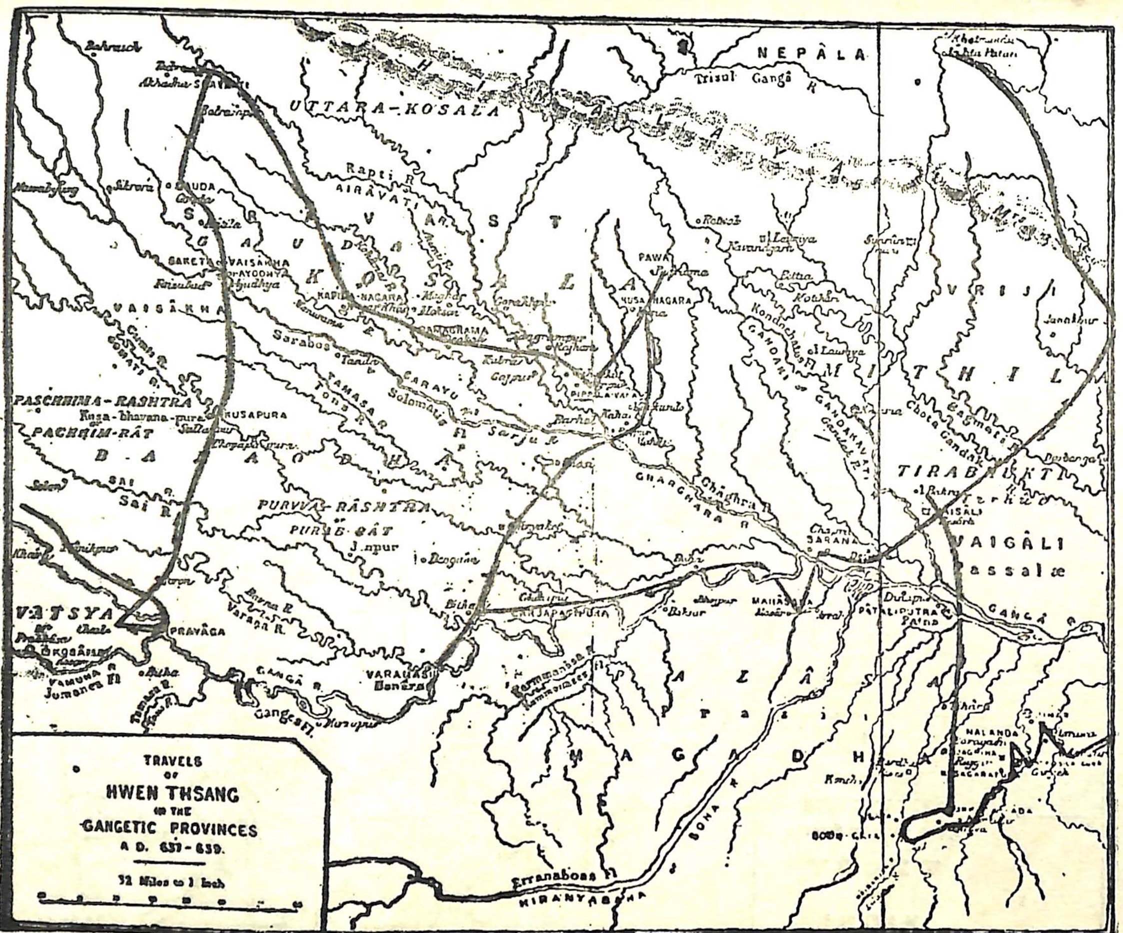



( अशोक स्तम्भों के आधार पर बुद्धकालीन मार्ग )

देखिए पृ० १९१

SOMESWAR-RANGE
TARAI
HUDI NADI
Maguraha
Domri Barwa
Rupwaliya
Semri Dih
to Nipal
Present Path
Ratanpur
Harpur
PARSA
BURIED PILLAR
RAMPURWA
Tara
HARIORT NADI
Old Track
Sissayi
Pipriya
Mandiha
Sarwa
Scale 4400 ft = 1 Inch
8800
Bhitiharwa

कार्लाइल का मानचित्र देखिये पृ० १९३

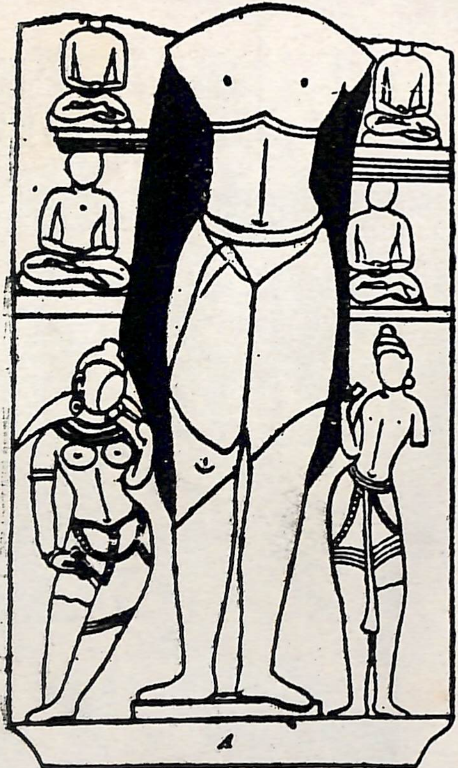



देखिए पृष्ठ सं० ३९, ९४

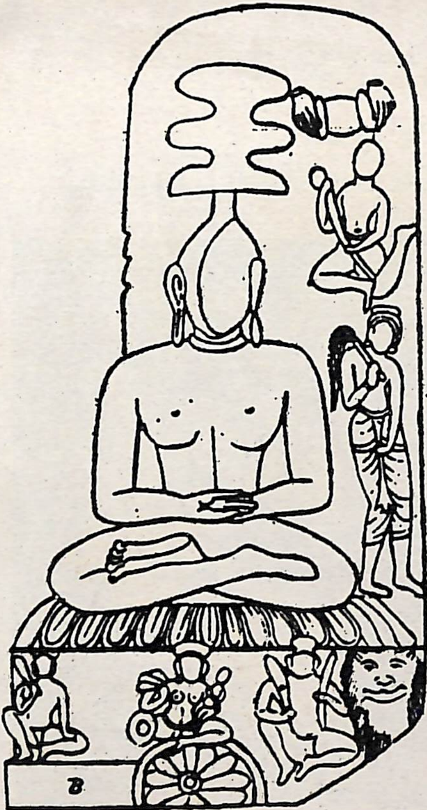



कनिंघम द्वारा वर्णित अशोक-स्तम्भों की स्थिति

देखिए पृ० १५०




फलक १ (क)




(ख)




(ग)

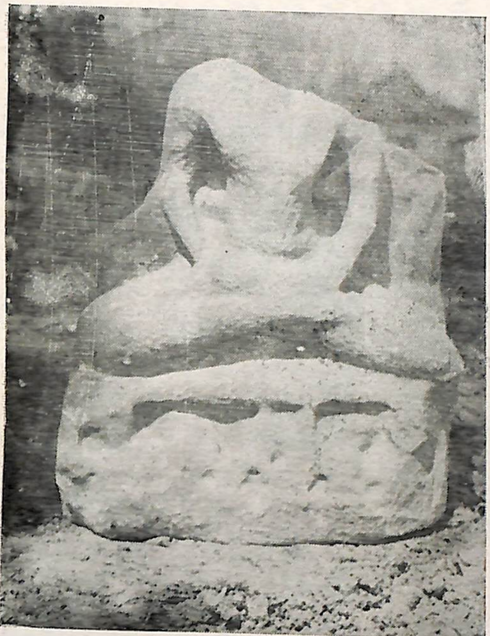
( पडरौना के निकट बुकनन को प्राप्त तीन मूर्तियाँ ) देखिए, पृ० ११६



चित्र सं० ४ (नेमिनाथ की संभावित प्रतिमा)
देखिए पृ० १२१; तुलनीय फलक १ (ख)



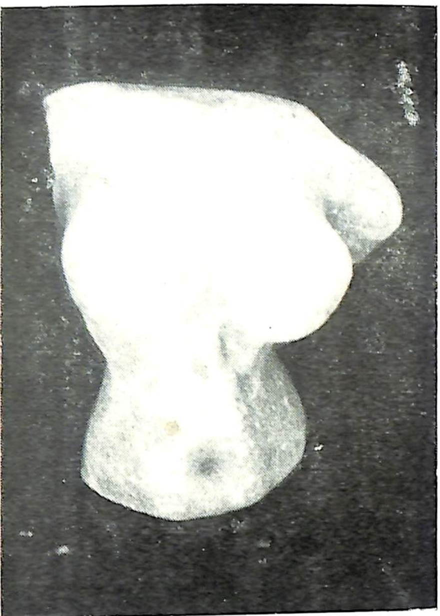
चित्र सं० ५ [महावीर की खण्डित (पीठासनयुक्त) पाषाण प्रतिमा]
क्रम सं० ३, पृ० १२४



चित्र सं० ६ ( महावीर की पाषाण-प्रतिमा )
देखिए पृ० १२४



चित्र सं० ८ ( पड़रौना से प्राप्त यक्ष के युगल-चरण ) देखिए पृष्ठ १२६



चित्र सं० ७ ( नारी की खण्डित प्रतिमा )
देखिए पृ० १२५



चित्र सं० ९ ( पड़रौना उत्खनन से प्राप्त ईंटे ) देखिए पृ० १६५

patti and Tamkuhi on the South east, and to Samur and Chapra on the south. Close to the town on the north flows the Bansi which becomes a running stream only in the rain. It probably represents an ancient course of the Gandak, a theory which was strengthened by the discovery in 1878 of a large boat during the excavation of a tank.

The site is evidently of great antiquity, and General Cunningham[1] identified it with the Pawa of the Buddhist pilgrims. To the south of the town is a large mound covered with broken bricks, about 220 feet broad from east to west 120 feet long and 14 feet high. It is supposed to mark the site of a Buddhist monastery which perhaps contained one of the principal relic stupes, since the people of pawa obtained one-eight of the relices after Buddha's cremation. To the north of this is an old and ruinous Jain temple containing fragments of sculptures, close to which a new temple has recently been erected.

1. C. A. S. R., I, 74; XVI, 118

In the earliest times this region was undoubtedly a centre of Buddhist worship and civilization, as is abundantly proved by the remains at Kasia and at Prdrauna. If, as is highly probable, the Kasia ruins are to be identified with those visited by the Chinese pilgrims in the fifth and seventh century, this tract contained one of the most venerated decline of that religion the country seems to have relapsed into jungle, and even in the days of Huien-Tsang, it was covered with forest and infested by wild beasts and robbers.

# सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

## संस्कृत


| | |
|---|---|
| १. अमरकोश | अमर सिंह, सं० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास (जवाहर नगर, बंगला रोड) दिल्ली, प्र० स० १९८४। |
| २. अवदान-शतक | सं० पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, बिहार, १९५८ |
| ३. अष्टाध्यायी | महर्षि पाणिनि, सं० वासुदेव शरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसी दास, नेपाली खपरा बनारस |
| ४. कलियुगराज-वृत्तान्त | देखें हिस्ट्री आव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर मद्रास, १९३७ |
| ५. कालिदास ग्रन्थावली | सं० पं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, द्वि० सं०, १९४४ |
| ६. दिव्यावदान | सं० पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९ |
| ७. धातुपाठ समीक्षा | पाणिनि; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८४-८५ |
| ८. पद्मपुराण | सं० डा० अशोक चटर्जी, अखिल भा० काशिराज न्यास रामनगर, वाराणसी, १९७२ |
| ९. पाणिनीकालीन भारतवर्षम् | वासुदेव शरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, १९५५ |
| १०. मनुस्मृति | हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, चौखम्बा, वाराणसी, १९७९ |
| ११. महाभारत | गीताप्रेस गोरखपुर, १९५६ |
| १२. महावस्तु | (दो खण्ड) सं० सीतांशु शेखर वागची, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९७० |
| १३. वरांगचरित | मा० दि० जै० ग्र० स० हीराबाग, बम्बई-४, १९३८ |

१४. वराहपुराण — अनु० अभिभूषण भट्टाचार्य, सं० आनन्द स्वरूप गुप्ता, अ० भा० काशिराज ट्रस्ट रामनगर, वाराणमी १९२३

१५. वायुपुराण — खेमराज जी कृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीट प्रेस कल्याण बम्बई, १८१०

१६. वाल्मीकि रामायण — (दो भाग) प्र० गीता प्रेस गोरखपुर, द्वि० सं० १९६७

१७. व्याकरणमहाभाष्यम् — सं० एम० एम० के० वी० अभ्यंकर, खण्ड ३ (अ० ६-८) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट—पूना ४, १९७२

१८. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी — मोनियर विलियम्स, मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर दिल्ली-७, १९६३

१९. संस्कृत-हिन्दी कोश — वी० एस० आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर दिल्ली १९७३

२०. शतपथ ब्राह्मण (दो खण्ड) — मोतीलाल शर्मा एवं अन्य, राजस्थान वैदिक तत्त्व शोधसंस्थान, जयपुर, राजस्थान-१९५८

## प्राकृत

२१. अभिधान राजेन्द्र कोशः (चतुर्थ भाग) — सं० विजय राजेन्द्र सूरि, जैनश्वेताम्बर संघ, रतलाम मध्यप्रदेश प्र० सं० १९१३

२२, आवश्यक निर्युक्ति भाग-१ — भद्रबाहु, टीका—हरिभद्र सूरि, मेरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, चन्दनवाड़ी एपार्टमेण्ट आर० आर० ठक्करमार्ग बालकेश्वर, बम्बई सन् १९२५

२३. आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग — जिनदास गणि महत्तर, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम, (म० प्र०) सन् १९२७

२४. उत्तरपुराण (हिं० अ०) — गुणभद्र, सं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड वाराणसी, प्र० सं० १९५४।

२५. उत्तराध्यन सूत्र — (सं०) रतनलाल दोशी, सैलाना म० प्र०, सन् १९६२

२६. कल्पसूत्र — भद्रबाहु, विजयसूर्योदय सूरि, बारसासूत्र प्रकाशन समिति, सूरत, गुजरात, ई० सन् १९८०

| | |
|---|---|
| २७. (बृहत्) कल्पसूत्र | जीवराज घेलाभाई दोशी, सत्यविजय प्रिंटिंग प्रेम, अहमदाबाद सन् १९१४ |
| २८. (बृहद्) कल्पसूत्र भाष्य | आत्मानन्द जैन सभा भावनगर गुजरात, १९३५ |
| २९, जयधवला (कसायपाहुड) | टी० आचार्य वीरसेन, सं० फूलचन्द्र, महेन्द्रकुमार भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा १९७४ |
| ३०. तीर्थवन्दन संग्रह | (सम्पा०) डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जैन संस्कृति रक्षक संघ सोलापुर, प्र० सं० १९६५ |
| ३१. पाइअ-सद्द-महण्णवो | सं० पं० हरगोविन्ददास, प्र० मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली-७ द्वि० सं० १९६३ |
| ३२. भगवती सूत्र | अनु० के० सी० ललवानी, जैन भवन, पी० २५ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७, १९८० |
| ३३. विविधतीर्थ कल्प | जिनप्रभसूरि, मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थ-माला, ग्रं० १०, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल १९३४ |
| ३४. हरिवंश पुराण | (हि० अ०) पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड, वाराणसी १९७८ |
| ३५. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र | हेमचन्द्र, सं० पुण्यविजय, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर सौराष्ट्र, १९५० |

**पालि**

| | |
|---|---|
| ३६. अंगुत्तरनिकाय (मूल) | सं० भिक्खु जगदीश काश्यप, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, महाविहार, नालन्दा, पटना १९६० |
| ३७. अंगुत्तरनिकाय | (हि० अ०) भाग (१-४) भदन्त आनन्द कौस-ल्यायन, महाबोधि सभा कलकत्ता १९५७ |
| ३८. उदान | (हि० अ०) भिक्षु जगदीशकाश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, बुद्धाब्द २४८२ |
| ३९. उदान अट्ठकथा - (अजकलापक सुत्तं) | सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, बिहार राज्य, पालि प्रकाशन मण्डल नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, १९५९ |
| ४०. चुल्लवग्ग | (सं०) भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा पटना, १९५६। |

४१. जातक अट्ठकथा — (अ) सं० भिक्षु धर्मरक्षित, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५१
(ब) भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग १९४६

४२. थेरगाथा (अट्ठकथा) प्रथम भाग — सं० डा० नथमल टाटिया, नवनालन्दा महाविहार, पटना, १९७६

४३. दीघनिकाय — ( हि० अ० ) पं० राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप, भारतीय बौद्ध विहार परिषद्, लखनऊ, द्वि० सं० १९१९

४४. धम्मपद अट्ठकथा (१-३ भाग) — सं० डा० नथमल टाटिया, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, पटना, १९७३, १९७६

४५ प्रपंचसूदनी भाग १-२ — सं० नथमल टाटिया, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा पटना १९७५ ।

४६. मज्झिम निकाय — अनु० पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी प्र० सं० १९२२ ।

४७. महावंस — श्रीधर वासुदेव, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, पटना १९७१

४८. मिलिन्दपह्नो — मू० व हिन्दी टीका, स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, वाराणसी १९७९ ।

४९. मनोरथ पूरणी (अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा) प्र० भाग — सं० डा० नथमल टाटिया, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा पटना १९७६ ।

५०. विनयपिटक — (हि० अ०) पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी १९३५

५१. विसुद्धिमग्ग — स० धर्मानन्द कौशाम्बी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९४० ।

५२. संयुक्त निकाय (भाग १-२) — भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षुधर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी १९५४ ।

५३. सामगाम सुत्त — (मज्झिम निकाय अट्ठकथा) खण्ड ४, राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी १९३३ ।

५४. सुत्तनिपात — भाग १-२ (मूल एवं हि० अनु०) भिक्षु धर्मरत्न महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी १९५१ ।

५५. सुमंगल विलासिनी (प्र० भाग) टीका दीघनिकाय अट्ठकथा, प्रो० महेश तिवारी, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा पटना १९७४।

## अंग्रेजी

एनुअल रिपोर्ट, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया—१९०३-४, १९०५-६, १९०६-७, १९०७-८, १९०८-९, १९०९-१०, १९१०-११; १९११-१२, १९३५-३६, १९३६-३७, १९७३-७४

आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, नई दिल्ली द्वि० सं० १९८१

बंगाल उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर रेवन्यू डिपार्टमेण्ट पटना।

बंगाल लिस्ट, लिस्ट आव मानुमेण्ट्स आव बंगाल, प्र० पो० डब्ल्यू० डी० बंगाल सरकार कलकत्ता।

बील, सैमुएल,
बुद्धिस्ट रिकार्ड आव वेस्टर्न वर्ड, वा० I, पार्ट II, केगनपाल ट्रेंच ट्रवर्नस कम्पनी लिमिटेड, ब्राडवे हाउस, ६८/७४ वाटरलेन, लंदन १९०६

वेंगलर, जे० डी०, आर्कियोलाजिकिल सर्वे आव इण्डिया, पार्ट VIII, राजकीय मुद्रणालय शिमला १८७२-७३

भण्डारकर, डी० आर०, लिस्ट आव इंस्क्रिप्शन्स इन नार्दर्न इण्डिया इन ब्राह्मी एण्ड इट्स डेरीवेटिव स्क्रिप्ट्स फ्राम एबाउट २०० ए० सी०, एफिग्राफिका इण्डिका, वा० १९-२३ एपैण्डिक्स टू एपिग्राफिया इण्डिका

कार्लाइल, ए० सी० एल०–आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट (१८७५-७६, ७७) १८ व (१८७७-७८-७९-८०) खण्ड २२ प्र० इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसी १९६९ व १९६६

कनिंघम, ए०
आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट, १८६१-६२ खण्ड १ केन्द्रीय सरकार प्रेस, शिमला १८७१ रिपोर्ट, १८७६ खण्ड XI, कलकत्ता १८८०।
एवं
रिपोर्ट आव टूर्स इन नार्थ एण्ड साउथ बिहार खण्ड XVI, १८८०-८१

कनिंघम, ए०
एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया सं० मजूमदार, एस० एन०, चक्रवर्ती चटर्जी कम्पनी कलकत्ता १९२४

कनिंघम ए०

एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया—प्र० ए० के० चटर्जी, भारतीय पब्लिशिंग हाउस वाराणसी १९७५

इंस्क्रिप्शन्स आव अशोक, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, सी० के० ३८/१६, बाँसफाटक वाराणसी १९६१

सं० डल्लापिकोला, ए० एल०,

विलिग्टन मैगजींन वा० XV लन्दन, १९७२।

दत्त, एन० एवं बाजपेयी, के० डी०

डेवलपमेण्ट आव बुद्धिज्म इन उत्तरप्रदेश, पब्लिकेशन ब्यूरो, उ० प्र० शासन लखनऊ १९५६

(हि० अ०) उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—उ० प्र० शासन लखनऊ १९५६।

डे, एन० एल०, द ज्याग्रफिकल डिक्शनरी आव एंश्येण्ट एण्ड मिडियावेल इण्डिया, लुजाक कम्पनी, लन्दन १९२७

देवर, डगलस,

फ्राम हैण्डबुक आव द इंग्लिश प्रीक्यूटीनी रिकार्ड इन द गवर्नमेण्ट आव यू० पी० आगरा, अवध, राजकीय मुद्रणालय इलाहाबाद

एटकिंसन, ई० टी०,

सं० स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट आव द नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज आव इण्डिया ख० ६-भाग २, १८८१ ( गोरखपुर डिस्ट्रिक्ट )

फ्यूरर, ए०, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया-द मानुमेण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इंस्क्रिप्शन्स इन नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध-प्रकाशक इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसी १९६९

गाइल्स, एच० एच०

ट्रेवेल्स आव फाह्यान, रटलेज एण्ड केगनपाल लिमिटेड ६८, ७४ कार्टर लेन, लन्दन, ई० सी०-४, तृ० सं० १९५९

इक्सवेसन एट सठियावाँ-फाजिलनगर, जि० देवरिया, हिंस्ट्री एण्ड आर्कियोलाजी, खण्ड १, १९८०

गुप्ता, एस० पी०

पुरातत्त्व, बुलेटिन आव इण्डियन आर्कियोलाजिकल सोसाइटी नई दिल्ली-१ १९८५-८६ एवं ८७

गुप्त, सुरेन्द्र नाथ दास
ए हिस्ट्री आव द इण्डियन फिलासफी, वा० I मोतीलाल बनारसीदास बंगलो रोड, जवाहर नगर दिल्ली-७, १९७५

घोष, ए०
आर्कियोलाजी इन इण्डिया, प्र० शिक्षा विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली १९५०

हल्टज, ई०
सी० इंस्क्रिप्सनसम् इण्डिकारम् वा० I, इंस्क्रिप्सन आव अशोक, नया संस्करण, इण्डोलाजिकल बुक हाउस वाराणसीं १९६९

हण्टर, स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट आव बंगाल, वा० XIII, गवर्नमेण्ट प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता

सं० हेस्टिंग्स, जेम०, इनसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स, वा० VII, न्यूयार्क १९८०

हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलाजी, वा० I, नवम्बर १-२, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद १९८०

हिस्ट्री आव इण्डियन रेलवेज, रेलवे बोर्ड; गवर्नमेण्ट आव इण्डिया गवर्नमेण्ट प्रिंटिंगप्रेस, नई दिल्ली ।

इण्डियन एण्टीक्वेरी, वा॰ XXXI सं० सर रिचार्ड कारनेक टेम्पुल, एजूकेशन सोसायटी प्रेस बम्बई १९०२

इण्डोलाजिका तेऊरेनेन्शिया वा० X, १९८२, वा० XI १९८३, टॉरनो (इटली)

जायसवाल, के० पी०-हिन्दू पोलिटी, भाग १, बंगलौर प्रिंटिंग प्रेस पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड, बंगलौर पंचम संस्करण १९७८

जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, कलकत्ता, सी० वी० लिव्ज बैपिस्ट मिशन प्रेस कलकत्ता १८४७

कुरेशी लिस्ट, लिस्ट आव एंश्येण्ट मानुमेण्ट्स इन द प्राविंस आव बिहार एण्ड उड़ीसा, (आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया) न्यू इम्पीरियल सिरीज वा० LI, १९३१

कुरेशी, मोहम्मद हामिद,
मेमायर्स ऑन कोटला फीरोजशाह दिल्ली, द आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया न० ५२, दिल्ली १९३७

लिस्ट आव एंश्येण्ट मानुमेण्ट्स प्रोटेक्टेड अण्डर एक्ट VII आव १९०४, इन द प्राविन्स आव बिहार एण्ड उड़ीसा आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सिरीज वा० L 1

लाहा, वी० सी०

ज्याग्रफी आव अर्ली बुद्धिज्म, केगनपालट्रेन्च ट्रबुनर एण्ड कम्पनी, लन्दन १९३२

एंश्येण्ट इण्डियन ट्राइब्स, मोतीलाल बनारसीदास, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, सदामिका स्ट्रीट, लाहौर, १९२६

इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, लुजाक एण्ड कम्पनी लन्दन, १९४१

हिस्टारिकल ज्याग्रफी आव एंश्येण्ट इण्डिया सोसायटी एशियाटिक डि पेरिस, पेरिस फ्राँस १९५४

मजूमदार, आर० सी०, राय चौधुरी, एच० सी० व किंकरदत्त, के०

एन एडवांस हिस्ट्री आव इण्डिया, मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली १९८३

मजूमदार, आर० सी०, हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव इण्डियन पीपुल, एज आव इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९५१।

मललसेकर, जी० पी०

डिक्शनरी आव पालिप्रापर नेम्स, जानमुरे, अलमार्टा स्ट्रीट, डब्लू, लन्दन, १९३८

माण्टगोमरी, मार्टिन, एम० आर०,

हिस्ट्री एण्टीक्विटीज़ टोपोग्राफी एण्ड स्टैटिस्टिक्स आव ईस्टर्न इण्डिया वा० I, पटना, गया एवं वा० II, भागलपुर, गोरखपुर

कास्मो पब्लिकेशन, २४वीं अन्सारी रोड, दरयागंगज, दिल्ली १९७६।

मिश्र, आर० एन०

यक्षकल्ट एण्ड आइकनोग्राफी ग्वालियर, मुंशी मनोहर लाल, नई दिल्ली प्र० सं० १९८१

मुखर्जी, राधा कुमुद,

अशोक, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९६२

मुंशी, के० एम० हिन्दू सिविलाइजेशन, भा० वि० भवन, बम्बई १९५०

गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर ( फ्राम अर्ली टाइम्स टू १८५२ ) भारतीय विद्याभवन बम्बई, तृ० सं० १९६७

मेहता, डा० मोहनलाल,

प्राकृत प्रापर नेम्स, दो भाग, एल० डी० इंस्टीच्यूट अहमदाबाद १९७०।

नेविल, एच० आर०
गोरखपुर गजेटियर, वा० XXXI, द डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स आव द यूनाइटेड प्राविंसेज आव आगरा एण्ड अवध, गवर्नमेण्ट प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

पाटिल, डी० आर०,
एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, के० पी० जायसवाल, रिसर्च इंस्टीच्यूट, पटना १९६३,
कुशीनगर, आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, नई दिल्ली प्र० सं० १९५७ (हि० अ०) शास्त्री केदारनाथ भारतीय पु० स० विभाग नई दिल्ली द्वि० सं० १९६१

राधाकृष्णन्, एस०
इण्डियन फिलासफी, वा० I, जार्ज एलेन एण्ड आलविन लिमिटेड, लन्दन, ए० आठवाँ संस्करण १९५५।
एवं (हि० अ०) भारतीय दर्शन प्रथम ख० १ राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली १९८३

राय चौधुरी, एच० सी०,
पोलिटिकल हिस्ट्री आव एंश्येण्ट इण्डिया यूनिवर्सिटी प्रेस, हजारा रोड, कलकत्ता १९७२
(हि० अ०) प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, किताब महल थार्न हिल रोड इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७१

रीज डेविड्स, टी० डब्ल्यू०
बुद्धिस्ट इण्डिया, सुशील गुप्त इण्डिया लिमिटेड, कलकत्ता प्र० भा० सं० १९५० हिस्ट्री आव बुद्धिस्ट्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, नई दिल्ली

रेप्सन, ई० जे०, सं० कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, प्र० एस० चाँद एण्ड कम्पनी नई दिल्ली द्वि० भारतीय पुनर्मुद्रण १९६२

स्मिथ, वि०-ऐन अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, आक्सफोर्ड च० सं० १९२४

सरावगी, के० टी० एस०,
अर्बन सेन्टर्स एण्ड अर्बनाइजेन, विद्यानिधि पब्लिशर दिल्ली

सिंह; एस० सी०,
चेन्जेज इन द कोस आव रीवर एण्ड इट्स एफेक्ट्स आन द अरबन सेटलमेण्ट इन द मिडिल गैंगेज प्लेन, नेशनल ज्याग्रफिकल सोसाइटी आव इण्डिया, बी० एच० यू०, वाराणसी १९७३

त्रिपाठी, रमाशंकर
हिस्ट्री आव एंश्येण्ट ज्याग्रफी आव इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो-रोड, दिल्ली-७, प्र० सं० १९५२।
थामस, इ० जे०
द लाइफ आव बुद्ध ऐज़ लिजिण्ड एण्ड हिस्ट्री, लन्दन, तृ० सं० १९५२
अण्डरसन, जान,
कैटलाग एण्ड हैण्डबुक आव आर्कियोलाजिकल कलेक्शन इन इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता भाग ३, १८८३
वाटर्स, थामस, आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इण्डिया वा० 1
विटले, पाल एवं अन्य सं०,
द हिस्टारिकल एटलस आव द साउथ एशिया, यूनिवर्सिटी आव शिकागो प्रेस, शिकागो एण्ड लन्दन १९७८
याकोवी, हरमन,
इंट्रोडक्शन टू जैन सूत्राज भाग १, सैक्रेड बुक आव द ईस्ट वा० XXXI, सं० मैक्समूलर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, वेयरहाउस, लन्दन १८४४

## हिन्दी

उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग प्र० सं० १९६१।
सं० कल्याणविजय गणि श्रमण भगवान महावीर क० वि० शास्त्र-संग्रह समिति, जालोर ( मारवाड़ ) वि० सं० १९९८।
काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, (अनु०) अर्जुन चौबे काश्यप, भाग ४ प्र०-उ० प्र० हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग लखनऊ, द्वि० सं० १९८४।
सं०-कालिकाप्रसाद एवं अन्य बृहद-हिन्दी कोश प्र० ज्ञान मण्डल लिमिटेड, बनारस, द्वितीय संस्करण २०१३।
कौसम्बी, धर्मानन्द,
भगवान बुद्ध जीवन और दर्शन, अनुवादक, श्रीपदजोशी, लोक भारतीय प्रकाशन, १५, ए० महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद चतुर्थ संस्करण १९८२।
सं० गैरौला, वाचस्पति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वाराणसी, १९६२।
गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर,
फाजिलनगर सठियाँव उत्खनन ( संक्षिप्त परिचय ) गोरखपुर १९७९।
सं० जैन, अनन्त प्रसाद, प्राचीन पावा, प्रका० पावानगर निर्वाण क्षेत्र समिति, अलीनगर, गोरखपुर, १९७३।

जैन, बलभद्र—भारतवर्ष के दिगम्बर जैनतीर्थ, ( प्र० भाग ) प्रका० भा० दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र समिति, हीराबाग, बम्बई १९७४।

सं० जोशी, जयशंकर

हलायुध-कोश, हिन्दी समिति, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ १९६७।

नगराज, मुनि,

महावीर एवं बुद्ध की समसामयिकता, आतमाराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६, १९६९।

आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन, प्रथम भाग ( इतिहास और परम्परा ) अर्हत् प्रकाशन, अ० भा० जै० श्वे० तेरापंथी समाज, ३६६/६८ लोदीकार्नर, ३२ इजरास्ट्रीट; कलकत्ता सं० १९८६।

सं० नागेन्द्र,

भारतीय साहित्य कोश, प्रका० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३ दरियागंज, नईदिल्ली प्र० सं० १९८१।

सं० नाहर, पूर्णचन्द्र, जैन लेख संग्रह, भाग ३, इण्डियन मिरर स्ट्रीट कलकत्ता १९२७।

नाहटा, भँवरलाल,—महातीर्थ पावापुरी ( एक विश्लेषण ) जैन श्वेताम्बर सेवा समिति, १३ नारायण प्रसाद, बाबू लेन, कलकत्ता १९७३।

पाण्डेय, राजबली,

अशोक अभिलेख, ज्ञानमण्डल वाराणसी, सं० २०२२।

गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास प्र० ठा० महातम राव, गोरखपुर १९४६।

पाण्डेय, राम प्रसाद, गोरखपुर जिले का इतिहास, नागरी प्रेस दारागंज, प्रयाग १९४२।

'पूर्वाञ्चल की पुरा सम्पदा' पुरातत्त्व विभाग, उ० प्र० रा० पुरातत्त्व संगठन, जवाहर भवन, लखनऊ १९७९।

फाजिल-नगर सठियाँव उत्खनन ( सक्षिप्त परिचय ) गोरखपुर १९७९।

प्रेमी, नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, ठाकुरद्वारा रोड बम्बई, द्वि० सं० १९५६।

भिक्षु धर्मरक्षित, कुशीनगर का इतिहास, कुशीनगर प्रकाशन, कुशीनगर देवरिया द्वि० सं० बुद्धाब्द २४९३।

भिक्षु धर्मरक्षित,

बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, वाराणसी १९४८।

मोतीचन्द्र, सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सम्मेलन भवन, पटना-३, १९५३।

राधाकृष्णन, एस०—भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड अनु० एन० के० गोभिल्ल, राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली १९८६।

लामा-तारन, नाथ

भारत में बौद्धधर्म का इतिहास—अनु० आर० जे० एल० लामा जिल्द VIII, के० पी० जायसवाल शोध संस्थान, पटना १९७१।

लाल, डा० अगने—संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन ( १-३री सदी ), कैलाश प्रकाशन लखनऊ, १९६८।

वर्णी, क्षु० जिनेन्द्र,

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग २, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड वाराणसी १९७१।

सं० वसु, नगेन्द्र नाथ,

हिन्दी विश्वकोष—खण्ड १, प्र० नगेन्द्र नाथ वसु एण्ड विश्वनाथ वसु-९, विश्वकोष लेन, बाघ बाजार, कलकत्ता, १९२८।

विजयेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर, यशोधर्म मन्दिर १६६ मर्जबान रोड अँधेरी बम्बई, ५८, सन् १९६०।

विद्यालंकार, एस०, प्राचीन भारत सरस्वती सदन, ए १/३२, सफदर जंग इंक्लेव, नई दिल्ली २९, द्वि० सं० १९८७।

शर्मा, ब्रह्मदेव, हमारे क्षेत्र के दो सिद्धपीठ, (सिधुवा-बुढ़न शहीद) अशोक प्रिंटिंग प्रेस पडरौना १९५४।

शास्त्री, नेमिनाथ, तीर्थङ्कर महावीर और उनकी देशना, प्र०-अ० भा० दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद कार्यालय, वर्णीभवन, सागर म० प्र० १९७४।

सरावगी, कन्हैयालाल, पावा समीक्षा, अशोक प्रकाशन कटरा बाजार, ( छपरा-सारण ) बिहार १९७२।

सांकृत्यायन, राहुल,

साहित्य निबन्धावली, किताब महल, इलाहाबाद, द्वि० सं० १९४९।

डा० सम्पूर्णानन्द, हिन्दी-शब्द कोश खण्ड ५, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९६५।

श्रीवास्तव, म० प्र०, वर्मा राजेन्द्र कुमार

प्राचीन भारतीय संस्कृति-कला और दर्शन, एशिया प्रकाशन, यूनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद।

सं० त्रिपाठी, डा० करुणापति,

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ६वाँ संस्करण १९८१।

## उर्दू

फारुकी-मोहम्मद अब्दुलगफूर
सजर-ए-शदाब, गोरखपुर १९०१।

सन्दीलवी, सलाम
तारीख-ए-अदवियात, गोरखपुर, नुसरत पब्लिशर, हैदरी मार्केट, अमीनाबाद लखनऊ, प्र० सं० १९८२।

## अभिनन्दनग्रन्थ

डा० राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ, प्र० लानिधि प्रकाशन, देवरिया १९७६।

स० ललवानी, श्रीगणेश,
भँवरलाल नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ, बी० एल० नाहटा अभिनन्दन समारोह समिति ८८ केनिंग स्ट्रीट कलकत्ता-१, १९८६।

वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, वैशाली बिहार १९८५।

## पत्रिका

अनेकान्त, २४ किरण, सि० अ० १९७१ प्र० वीरसेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली १९७१।

कल्याण (महाभारत विशेषांक) पोद्दार एच० पी०, गीता प्रेस गोरखपुर, १९४३।

दिगम्बर जैन बुलेटिन, मेरठ २५ जुलाई, १९८४, वर्ष ८, अंक ६।

सं० वर्मा, डा० टी० पी०,
युग-युगीन सरयूपार, (गोरखपुर परिक्षेत्र का इतिहास) इतिहास संकलन समिति, विजयगढ़ हाउस, अस्सी वाराणसी १९८७।

श्रमण, सं० डा० एस० एम० जैन; पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी १९८१।

श्रावस्ती—सं० प्रो० बाजपेयी, के० डी०, साहित्य निकेतन, ३७/५० गिलिस बाजार, कानपुर १९८७।

२५०० वर्षीय भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव स्मारिका, जैन श्वेताम्बर भण्डार तीर्थ पावापुरी, पावापुरी नालन्दा बिहार १९७४।

## समाचार-पत्र

युगवातायन, सं० सदानन्द दूबे, वर्ष ३; अंक १०, प्रिंटिगप्रेस देवरिया २-१-९०

विश्वमित्र
सं० अग्रवाल, कृष्णदत्त, विश्वमित्र कार्यालय, ७४ लेनिन सरिणी कलकत्ता १९८४।

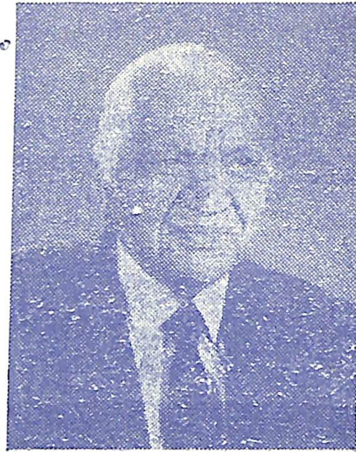
सर्चलाइट, सर्चलाइट प्रिंटिंग प्रेस पटना १९६८।

स्वतन्त्र चेतना, सं० चौबे, हनुमानप्रसाद (भगवान महावीर के उपदेश,) सम्पा० डा० आर० सी० गुप्ता, गोरखपुर ७-४-९०।

## शुद्धि-पत्रक

| पृ० सं. | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २१ | १८ | राजगृह | पावा |
| २३ | ७ | पावा | सामगाम |
| ३९ | सन्दर्भ ३ | वही १९२४ | वही |
| ५४ | सन्दर्भ १ | पृ० ८९ | पृ० ५ ( भूमिका ) |
| ५९ | १४ | हजार पहर | पहर |
| ६७ | सन्दर्भ १ | पृ० १-४ | सर्चलाइट पृ० १-४ |
| ७६ | २५ | ५ | ५८ |
| १०७ | सन्दर्भ २ | पृ० १२५५ | पृ० ३५५ |
| १०९ | ,, २ | वही | वही, पृ० ३५६ |
| १४७ | ,, १ | पृ० २ | पृ० १४ |
| १५० | १५ | होकर | होकर, दूसरा |
| १५३ | ५ | लाहा | ला |
| १५९ | १७ | १९३४ | १८३४ |
| १६४ | २२ | छनी मासे | छेनी मारने |
| ,, | २७ | चुभगती | चुगती |
| १७५ | ७ | वस्तु | कपिलवस्तु |

## लेखक



श्री भगवती प्रसाद खेतान का जन्म देवरिया जनपद के पडरौना नगर में २८ नवम्बर १९२६ को हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा यू० एन० के० हाई-स्कूल, पडरौना, देवरिया जनपद मे हुई और उच्च शिक्षा सिन्डेहेम कालेज आव कामर्स एण्ड अर्थशास्त्र, बम्बई में हुई। आपका निवास और कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से पडरौना और बम्बई रहा है। आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि औद्योगिक रही है। आप देवरिया जनपद की दो चीनी मिलों ईश्वरी खेतान मिल और महेश्वरी खेतान मिल के क्रमशः प्रबन्ध-निदेशक और निदेशक रहे हैं। इसके अतिरिक्त आप परिवार की कई अन्य व्यावसायिक गतिविधियों के सचालक रहे हैं।

आरम्भ से ही आपकी लेखन और पर्यटन में रुचि रही है। आपका कहानी संग्रह दीपदान १९४९ में प्रकाशित हुआ है। उद्योग से जुड़े होने के कारण आपने औद्योगिक समस्याओं पर भी लेखनी चलाई है। आपने पूर्वाञ्चल चीनी उद्योग की समस्याओं पर 'प्राब्लम्स आव सुगर इण्डस्ट्रीज इन ईस्टर्न उत्तर प्रदेश' ( १९६१ ) शीर्षक पुस्तक भी लिखी है। शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक क्रियाकलाप से जुड़ी कई संस्थाओं के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कार्य-समिति सदस्य, आजीवन सदस्य और नामांकित सदस्य रहे हैं। आपने 'उत्तर प्रदेश कृषक समाज, पडरौना' की स्थापना की और रोटरी क्लब गोरखपुर के संस्थापक सदस्यों में रहे।

उक्त गतिविधियों के अलावा आपने अब तक लगभग २० इतिहास विषयक गोष्ठियों और अधिवेशनों में शोध-पत्र प्रस्तुत किया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनन्दन ग्रन्थों में आपके इतने ही लेख प्रकाशित हुए हैं। आप कवि-सम्मेलनों में कविता-पाठ भी करते रहे हैं और अनेक अवसरों पर आकाशवाणी पर आपने विभिन्न विषयों पर विचार प्रस्तुत किये हैं। लगभग ६५ वर्षीय श्री खेतान आज भी अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति और ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। प्रस्तुत कृति महावीर-निर्वाण भूमि पावा : एक विमर्श इसी का प्रतिफल है।